हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य

डॉ० ओम्प्रकाश

का

आलोचनात्मक साहित्य

१	आलोचना की ओर	३)
२	भावना और समीक्षा	४)
३	हिंदी-अलंकार-साहित्य	६)
४	हिंदी-काव्य और उसका सौंदर्य	८)

हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य

लेखक
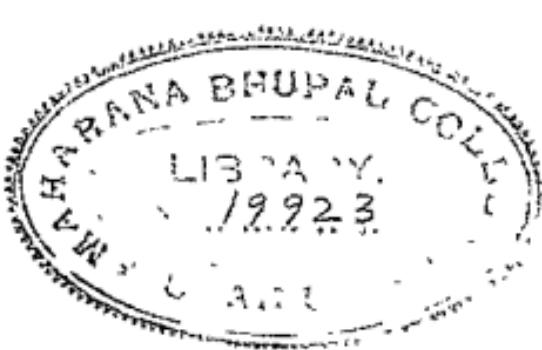
ओम्प्रकाश
एम. ए. पी. एच. डी.
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
हंसराज कॉलेज, दिल्ली

१९५७
भारती साहित्य मन्दिर

सहधर्मिणी
कैलाश
को

भूमिका

कलागत सौन्दर्य का विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र में 'सौन्दर्य' शब्द के माध्यम से नहीं हुआ। काव्य-रस या रमणीयार्थ बोध का उल्लेख करते हुए काव्य-सौन्दर्य और उसके उपकरणों की आनुषंगिक चर्चा अवश्य मिलती है किन्तु वह समस्त चर्चा सौन्दर्य शब्द की अर्वाचीन व्याख्या से बहुत कुछ भिन्न है। आधुनिक युग के काव्यालोचन में सौन्दर्य को काव्य का जीवित मानकर उसका वैज्ञानिक पद्धति से गम्भीर विवेचन-विश्लेषण प्रारम्भ हो गया है। इस विवेचन का आधार अधिकांश में पाश्चात्य काव्यालोचन के सिद्धान्त हैं जो अफलातूँ और अरस्तू से लेकर क्रोचे तक विविध रूपों में विकसित होते रहे हैं। अफलातूँ ने 'दि ट्रु, दि गुड एंड दि ब्यूटिफुल' के रूप में जिस 'ब्यूटिफुल' का संकेत किया था वह सुन्दर की भूमिका में सामने आया और उसके बाह्य एवं आभ्यन्तर स्वरूप का आख्यान प्रारम्भ हुआ। ईसा की उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' के रूप में जो सिद्धान्त-वाक्य बंगला भाषा से हिन्दी में आया वह भी कदाचित् पाश्चात्य मीमांसकों की विचारधारा से ही नहीं वरन् शब्दावली से भी प्रभावित था। फलतः सौन्दर्य के स्वरूप-चिन्तन के साथ समीक्षा का क्षेत्र भी उसी धारणा के आलोक में विकसित होना प्रारम्भ हो गया।

संस्कृत काव्यशास्त्र में वक्रोक्तिकार कुन्तक और पंडितराज जगन्नाथ ने अपने काव्य-लक्षणों में रमणीय तत्त्व का समावेश करके सौन्दर्य के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है। कुन्तक ने 'वन्धसौन्दर्यसम्पदा' कहकर वाक्यविन्यास में ही सौन्दर्य स्वीकार कर उसे काव्य संज्ञा देने का साहस किया है। पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' शब्द को काव्य सिद्ध करते हुए सौन्दर्य को रमणीय के भीतर समाविष्ट करने का चातुर्य प्रदर्शित किया है। किन्तु ये दोनों शब्द 'सौन्दर्य' की अर्वाचीन व्याख्या के न तो समकक्ष हैं और न सर्वथा उस व्यापक परिधि को घेरकर सौन्दर्य का चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। कुन्तक ने 'वन्ध सौन्दर्य सम्पदा' के अन्तरंग और बहिरंग नामक दो भेद करके उसे व्यापक अवश्य बनाया है। अन्तरंग धर्म में सौभाग्य और बहिरंग में लावण्य धर्म की प्रतिष्ठा सौन्दर्य की ओर ही इंगित करनेवाली है किन्तु लावण्य का विवरण आधुनिक सौन्दर्य शब्द को सर्वतोभावेन समाविष्ट नहीं करता।

काव्य-सौन्दर्य की चर्चा के प्रसंग में रस या रमणीयार्थ की चिन्ता ही भारतीय साहित्य-साधना का प्रमुख आधार रहा है। अन्तर्मुखी चेतना के कारण भारतीय मनीषा में आभ्यन्तर रस-प्रतीति को ही प्रमुख स्थान प्राप्त होता रहा, सौन्दर्य को अलंकरण का बाह्य उपकरण मानकर काव्य-सर्वस्व के रूप में उसका वैसा वर्णन नहीं हुआ जैसा बहिर्मुखी चेतनाप्रधान पाश्चात्य देशों में हुआ। हमारे यहाँ काव्य के प्राण, रस या ध्वनि की व्याख्या पर ही विशेष ध्यान रहा, उसी में चिरन्तन सौन्दर्य की चिन्ता की गई

और उसी के विस्तार में अनुषग रूप से बाह्य सौन्दर्य के उपकरणों का उल्लेख होता रहा ।

सौन्दर्य शब्द का जैसा व्यापक प्रयोग आधुनिक युग में साहित्यशास्त्र में दृष्टिगत हो रहा है उसकी सीमाएँ निर्धारण करना कठिन है। सुन्दर वस्तुओं के साक्षात्कार से हृदय में जिस आह्लाद की अनुपम सृष्टि होती है वह शब्दों के माध्यम से व्यक्त होकर ही काव्य अभिधान प्राप्त करता है। इसी सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न आनन्द को काव्य में रस कहा जाता है। सुन्दर भाव या वस्तु आनन्दप्रद होने के कारण हमारी चेतन सत्ता का अंश बनकर हमारी कल्पना को उर्वर और स्मृति को उल्लसित करने में सहायक होते हैं। जब हम शब्दों द्वारा सौन्दर्यानुभूति का अंकन करने लगते हैं तभी अभिव्यंजनात्मक सौन्दर्य का एक रूप हमारे सामने आ जाता है। जर्मन दार्शनिक हीगेल ने शब्द को हमारी आत्मा के सबसे निकट ठहराया है। शब्द ही साहित्य है यह कहना भी एक सीमा तक अनुचित नहीं है यह कथन अति व्याप्त हो सकता है किन्तु अव्याप्त कथन इसे नहीं माना जा सकता। अतः साहित्यिक सौन्दर्य के पारखी को शब्द से ही अपनी जिज्ञासा प्रारम्भ करनी होती है।

सौन्दर्य के वस्तुगत या व्यक्तिगत होने की बात भी सौन्दर्य विश्लेषण के प्रसंग में प्रायः उठती है किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में मैं उस प्रश्न के विवाद में नहीं जाना चाहता। जिस ग्रन्थ के सम्बन्ध में मुझे अपने विचार व्यक्त करने हैं उसका साक्षात सम्बन्ध काव्य सौन्दर्य की चरम सत्ता है उसके स्वरूप की मीमांसा करना न तो ग्रन्थकार का उद्देश्य है और न उनकी सीमा मर्यादा ही में वह आता है। हमारी सौन्दर्यानुभूति, काव्य के प्रसंग में किसी पार्थिव पदार्थ तक सीमित नहीं रहती, वह शब्दार्थ के माध्यम से भाव जगत की निधि बनकर हमें सौन्दर्य के पूर्ण विकसित रूप का दर्शन कराना चाहती है। अतः सौन्दर्य के प्रकृत प्रसंग में हम काव्य-सौष्ठव के विधायक अप्रस्तुत तत्त्वों पर ही विचार करना समीचीन समझते हैं।

जैसा कि मैंने पहले कहा है कि काव्य में सौन्दर्य विधायक तत्त्वों की छानबीन करते हुए प्राचीनों ने रस और रमणीयत्व के बाद जिस उपकरण को सर्वाधिक उपादेयता स्थापित की वह अप्रस्तुत योजना या अलंकार है। 'हिंदी काव्य और उसका सौन्दर्य' ग्रन्थ में इसी अप्रस्तुत काव्य सौन्दर्य का गवेषणात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है। लेखक के मत में काव्य की आत्मा तो उसकी भाववस्तु ही है किन्तु काव्य परिच्छद का भी अपना स्थान है और जब तक उसका यथावत् मूल्यांकन न किया जाय, काव्य सौन्दर्य को ठीक-ठीक हृदयंगम करना सम्भव नहीं। अतः काव्य सौन्दर्य का विश्लेषण करते समय उसके बाह्यरूप की किसी भी तरह उपेक्षा सम्भव नहीं है।

काव्य में सौन्दर्य का सन्धान करते समय जब केवल अप्रस्तुत योजना पर ही ध्यान दिया जाता है तब वर्ण्य-वस्तु और वर्णन प्रणाली दोनों के पार्थक्य की बात स्वतः सामने उपस्थित होती है। वर्णन शैली और वर्णन-सामग्री को वेदान्त ने क्रमशः विशिष्टालंकार और सामान्यालंकार नाम से व्यवहृत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने वर्णन-सामग्री तक ही अपने अध्ययन को सीमित करके अभिव्यंजना शैली के सिद्धान्त

पक्ष को छोड़ दिया है। वर्णन-शैली और वर्णन-सामग्री में सापेक्षिक महत्त्व की स्वीकृति निश्चित रूप से स्थिर नहीं की जा सकती किन्तु इन दोनों का व्यतिशय्य ही इस बात का निदर्शन है कि काव्य-मीमांसा में दोनों का अपना विशिष्ट स्थान है और इनमें से किसी भी एक का अध्ययन काव्य-सौन्दर्य को उद्घाटित करने में बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। लेखक ने वर्णन-सामग्री का अध्ययन करने में एक तर्क दिया है, उनका मत है कि "वर्णन-सामग्री का अध्ययन जितना वैचित्र्यपूर्ण और सूचनात्मक होगा उतना वर्णन-शैली का नहीं, क्योंकि वह सैद्धान्तिक तथा अमूर्त्त है।" लेखक के तर्क में शक्ति है क्योंकि वह मूर्त्त ज्ञान का पोषक है किन्तु यह तर्क शैली के चमत्कार-जन्य मोहक आकर्षण को आच्छन्न नहीं कर सकता। शैली में भी वैविध्य और वैचित्र्य के लिए पूरा अवकाश रहता है अतः वैचित्र्याभाव के आरोप से उसे दबाया नहीं जा सकता। वर्णन-सामग्री में मांसल पक्ष की प्रधानता तथा देश-काल की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अध्ययन में सहायक होने के कारण उसका अनुशीलन अधिक व्यापक फलक पर सम्भव होता है। लेखक ने काव्य-सौन्दर्य के वर्णन-सामग्री पक्ष को चयन करते समय कदाचित् इसी आशय को अपने सामने रखा है। प्रस्तुत अध्ययन में वीरगाथाकाल से रीतिकालीन काव्य परम्परा तक की काव्य-सौन्दर्य विधायक वर्णन-सामग्री का पर्यालोचन किया गया है। प्रत्येक काल की परिस्थितियों का चित्रण करने के बाद, काल विशेष की सामूहिक चेतना के प्रेरक तत्त्वों पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक काल के प्रतिनिधि कवियों की भावधारा का अवगाहन् वर्णन-सामग्री के आधार पर सर्वथा नूतन शैली से हुआ है। केवल नूतन होने से ही कोई वस्तु ग्राह्य नहीं होती, उसकी गुणवत्ता का मापदंड मौलिकता के साथ उपयोगिता भी है। कहना न होगा कि इस कसौटी पर यह प्रबंध पूर्णरूपेण खरा उतरता है। अपने कथन की पुष्टि में प्रबंध से कतिपय प्रासंगिक अवतरणों को उदाहृत करना मैं आवश्यक समझता हूँ।

"हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य" ग्रन्थ में लेखक ने वीरगाथाकाल से रीति-काल तक के काव्य की वर्णन-सामग्री का अध्ययन प्रस्तुत किया है। वीरगाथाकालीन काव्य में नारी का चित्रण जिस रूप में हुआ है उसका वर्णन करते हुए लेखक ने उसके दो रूप स्थिर किए हैं; एक वीर माता का और दूसरी वीर पत्नी का। इन दोनों रूपों का बोध वर्णन-सामग्री के आधार पर किस प्रकार सम्भव है और वर्णन-सामग्री के अन्तराल में ये रूप कहाँ छिपे हुए हैं यही इस अध्ययन की विशेषता और मौलिकता है। इसी प्रकार वीर-काव्य-परम्परा पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव दिखाते हुए लेखक ने वर्णन-सामग्री द्वारा उस प्रभाव को स्थिर करने में अपने अनुशीलन की सार्थकता व्यक्त की है। अप्रस्तुत योजना में अलंकार-प्रयोग पर गहरे उतरकर विचार करने की शैली भी लेखक की प्रतिभा का अच्छा परिचय देती है। सूफी काव्य पर विचार करते समय कथा-परम्परा का प्रारम्भ और उस पर विदेशी प्रभाव की छानबीन वर्णन-सामग्री को ध्यान में रखकर की गई है। सूफी कवियों की वर्णन-सामग्री का आधार विशुद्ध भारतीय न होते हुए भी अलंकार चयन में भारतीयता का

पुष्ट द्रष्टव्य है। लेखक ने इस प्रसंग में वर्णन शैली पर भी यथास्थान दृष्टिपात किया है। सूफी कवियों में हेतूत्प्रेक्षा और प्रत्यनीक के प्रयोग का चमत्कार स्पष्ट करते हुए उसके आधार पर सूफी कवियों की मनोवृत्ति आँकने का प्रयत्न सर्वथा मौलिक एवं नवीन है।

निर्गुण काव्य की पृष्ठभूमि लेखक ने बड़ी भावुकतापूर्ण शैली से अंकित की है। निर्गुण भक्त कवियों की अप्रस्तुत योजना पर विचार करते हुए जिन उपकरणों का अन्वेषण किया है उनमें से अनेक गहरी सूझ-बूझ के द्योतक हैं। कबीर की वर्णन-सामग्री के आधार पर उनकी मनःस्थिति का अध्ययन कदाचित् पहली बार सामने आया है। नारी की निन्दा करनेवाले कबीर का मन घरेलू जीवन में कितना अनुरक्त था और चक्की चूल्हे की दुनियाँ उन्हें कितनी भाती थी, यह उनकी वर्णन-सामग्री से भली भाँति आँका जा सकता है। उनकी वर्णन-सामग्री का समस्त सौंदर्य इस दृश्यमान् जगत् से जुटाई हुई सामग्री में ही दृष्टिगत होता है। उनकी अप्रस्तुत योजना का आधार कल्पना या कवि-परिपाटी न होकर स्थूल जागतिक पदार्थ हैं। "कहीं अनाज फटकने का सूप है तो कहीं सायंकाल को छानने का चलना है, कहीं वर्षा में न जलने वाली गीली लकड़ी है तो कहीं धोबी चावल ले जा रही है, कहीं गली-गली में गोरस मारा-मारा फिर रहा है तो कहीं मदिरा बड़े ठाठ से दुकान पर बिक रही है, कहीं तेल की बूँद पानी में फँसी हुई है तो कहीं कुएँ में ही भाँग पड़ी है।" कहने का तात्पर्य यह कि कबीर आदि निर्गुण भक्तों की काव्य-सामग्री के आधार पर उनकी मनोवृत्तियों का और उनके परिवेश का बहुत अच्छा अध्ययन सम्भव है। यदि इस प्रकार के अध्ययन को आधार बनाकर सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का अनुशीलन किया जाय तो ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तत्वों का चयन सम्भव हो सकता है।

कृष्ण काव्य की वर्णन-सामग्री का अध्ययन लेखक ने विद्यापति से रसखान तक किया है। कृष्ण काव्य की सामग्री विलक्षण है। भक्त होने पर भी जीवन के भोगराग का जैसा व्यापक वर्णन इन कवियों के काव्य में मिलता है उतना कदाचित् रीतिकालीन काव्य में भी उपलब्ध नहीं है। कारण स्पष्ट है, शृंगार के उन्नयन की दिशा में प्रवृत्त कृष्ण भक्त कवियों ने लौकिक काम और भोग का सर्वथा तिरस्कार नहीं किया वरन् लौकिक शृंगारिक चित्रों को ही उपासना मार्ग में स्वीकार कर अपने इष्टदेव को सब प्रकार की साज-सज्जा से सजाकर भक्तों के मनन चिंतन या भजन पूजन के लिए अंकित किया था। फलतः उनकी वर्णन सामग्री भक्ति और शृंगार दोनों कोटि के उपकरणों से उपेत होने के कारण अधिक समृद्ध बन गई। माधुर्य और प्रेम का वर्णन भी उनकी सामग्री को प्रभावित करने वाला सिद्ध हुआ। वैयक्तिक जीवन में भक्त होने पर भी वे अपने इष्टदेव को सब प्रकार के भोग विलास वैभव और ऐश्वर्य से मंडित देखने के अभ्यासी थे। *कृष्ण भक्ति में निर्वेद या वैराग्य भावना* का अभाव है फलतः उनकी वर्णन-सामग्री में इस प्रकार के तत्वों का समावेश नहीं हुआ। सूर और मीरा, रसखान और घनानन्द सभी आनन्द और उल्लास की अप्रस्तुत योजना करते हैं। उनके

उपमान, उनकी उत्प्रेक्षाएँ, उनके रूपक सभी जीवन के दृश्यपक्ष के साथ संयुक्त होकर जगत् का मांसल चित्र प्रस्तुत करने वाले हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्य का सौन्दर्य ब्रज के भक्ति सम्प्रदायों के कवियों में जितनी पूर्णता के साथ दृष्टिगत होता है उतना अन्य कवियों में नहीं है। गोस्वामी हितहरिवंश, व्यास, ध्रुवदास, श्रीभट्ट, स्वामी हरिदास, भगवत रसिक, सहचरि सुख, हरिव्यासदेव आदि कवियों की वर्णन-सामग्री इतनी समृद्ध है कि उसका अध्ययन भक्ति काव्य के अध्ययन में बड़ा सहायक सिद्ध होगा। लेखक ने प्रसिद्ध कवियों तक अपना अध्ययन सीमित रखा है अतः उपर्युक्त कवियों के काव्य-सौन्दर्य का पर्यवेक्षण नहीं हो सका।

राम काव्य के अध्ययन में तुलसी और केशव को प्रतिनिधि कवि के रूप में स्थान दिया गया है। तुलसी के विशाल साहित्य से विपुल वर्णन-सामग्री एकत्र कर उसका सौन्दर्य सामने लाया गया है। लेखक ने तुलसी के वैविध्य को ध्यान में रखकर सौन्दर्य के जो चित्र चयन किये हैं उनमें मानस और विनयपत्रिका का ही प्राधान्य है। केशवदास के अध्ययन में लेखक ने संस्कृत ग्रन्थों की छाया का आतिशय्य प्रदर्शित करके केशव के चमत्कार को एक तरह से समाप्त सा कर दिया है। केशव की प्राय. सभी सुन्दर सूक्तियों के पीछे संस्कृत-छाया का संधान जहाँ एक ओर लेखक के अध्ययन का द्योतक है वहाँ दूसरी ओर केशव की पांडित्यपूर्ण अपहरण प्रवृत्ति का भी परिचय देता है। केशव की वर्णन-सामग्री में सामाजिक जीवन की गहरी छाप है। उनकी वर्णन-सामग्री उनके अपने चारों ओर के वातावरण से एकत्र की हुई भोग्य-सामग्री है।

रीतिकालीन काव्य को लेखक ने 'शृंगार काव्य' का अभिधान देकर उसके स्वरूप का आख्यान शृंगार की निम्न भावना के आधार पर किया है। इस काल के समस्त काव्य को निर्जीव कह देना भी लेखक की दृष्टि से अनुपयुक्त नहीं है। उनके मत में इस काव्य में शृंगार न होकर शृगार-रसाभास मात्र है। "प्रेम, प्रीति या स्नेह के नाम पर नग्न कामाचार की लहरें ही इस काव्य का प्राण हैं। कामुकता का यह काव्य क्षणिक जीवन को सुख संचय में बहलाने का जब बार-बार प्रयास करता है तब उस संचय का सहसा स्मरण हो आता है जो अपने हताश एवं परवश अस्तित्व को रंगीनी से चमकाकर वास्तविकता को भूलने में प्रयत्नशील हो। × × इस विलासी काव्य में जीवन को आद्यन्त प्रभावित करने की शक्ति नहीं थी इसलिए इसका प्रणयन बिखरे बिखरे बुद्बुदों के रूप में ही हुआ।" लेखक ने इस युग के काव्य को अवसादपूर्ण विलास का जर्जर काव्य मानकर ही उसका मूल्यांकन किया है। लेखक की नैतिक भावना इतनी प्रबुद्ध प्रतीत होती है कि वह काव्य-सौन्दर्य विधायक-कला का मूल्यांकन भी नैतिकता के मापदण्ड से ही करना उचित समझता है। तटस्थ कला-समीक्षक के लिए नैतिकता का यह आरोप कला-समीक्षा में कहाँ तक समीचीन है इसका विश्लेषण न करते हुए मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि लेखक की भावना कुछ भी हो किन्तु उन्होंने अगले पृष्ठों में जिस समृद्ध वर्णन-सामग्री का चयन किया है वह काव्य-सौन्दर्य और कला-समीक्षा दोनों दृष्टियों से अनुपम है। बिहारी की समृद्ध-वर्णन-सामग्री को पढ़-कर पाठक विस्मय विमुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। नागर और ग्राम्य चित्रों का जो

चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है वह सर्वथा नूतन है। घनानन्द की वर्णन-सामग्री में भी काव्य-सौन्दर्य और चमत्कार की अनुपम छटा दृष्टिगत होती है।

संक्षेप में 'हिन्दी काव्य और उसका सौंदर्य" ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का परिचय देने के बाद मैं इस अध्ययन की उपादेयता के सम्बन्ध में दो शब्द कहकर इस भूमिका को समाप्त करता हूं। इस ग्रन्थ के निर्माण से विगत छह सौ वर्ष की हिन्दी काव्यधारा के उस पक्ष का बोध होता है जो अप्रस्तुत योजना अथवा वर्णन सामग्री द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त हुई है। लेखक ने यद्यपि प्रबन्ध के कलेवर को ध्यान में रखकर केवल प्रतिनिधि कवियों के काव्य-सौन्दर्य पर ही विचार किया है किन्तु इस कारण काव्य सौन्दर्य की समग्रता में कोई न्यूनता नहीं आई। इसी प्रणाली पर यदि अप्रस्तुत-योजना के पूरक पक्ष—वर्णन तत्त्व—का भी अध्ययन किया जाय तो हिन्दी काव्य का समस्त सौंदर्य (कलापक्ष) उद्घाटित हो सकता। इस ग्रन्थ को पढ़कर मेरी यह धारणा और अधिक पुष्ट हुई है कि हिन्दी काव्य की वर्णन-सामग्री के आधार पर काव्य-सौन्दर्य का ही बोध नहीं होता वरन् हिन्दी भाषी प्रदेश की तत्कालीन विविध परिस्थितियों का भी चित्र आकार ग्रहण करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने जिस सामग्री का गवेषणात्मक अनुशीलन किया है वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म विचार से लेकर स्थूलतम दैनिक जीवन की मोटी मोटी घटनाओं और वस्तुओं को मूर्तमन्त करने में समर्थ है। सौंदर्य का एक पक्ष (वर्णन-सामग्री) जब इतना समृद्ध और परिपुष्ट है तब उसके सभी पक्षों का उद्घाटन तो निश्चय ही सौन्दर्य की निरतिशय वैभव सामग्री सामने लाने में समर्थ होगा।

डा० ओम्प्रकाश ने अलंकारशास्त्र का विवेचनात्मक इतिहास और हिन्दी काव्य के सौन्दर्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर हिन्दी साहित्य जगत में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। वे स्वतन्त्र चिंतक के रूप में साहित्यिक जगत में प्रवेश कर रहे हैं। उनकी प्रतिभा में नवानमेष की मौलिकता के साथ स्वमत को व्यक्त करने की निर्भीकता है उनकी शैली में कृतित्व की निपुणता के साथ अध्ययन की गम्भीरता है। हिन्दी जगत के समक्ष इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करते समय मुझे पूर्ण विश्वास है कि विद्वत्समाज में इस ग्रन्थ का सम्मान प्राप्त होगा और भविष्य में डा० ओम्प्रकाशजी की लेखनी से और भी प्रयत्न हिन्दी जगत को उपलब्ध होंगे।

२१.६.५७

—विजयेन्द्र स्नातक
रीडर हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

अपनी ओर से

'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' की भूमिका में मैं लिख चुका हूँ कि 'थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ अलंकार्स इन हिन्दी' विषय पर लिखा हुआ मेरा थीसिस आगरा विश्वविद्यालय में 'हिन्दी-साहित्य में अलंकार' नाम से पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ; थीसिस के दो भाग थे जिनको ५-६ वर्ष बाद परिवर्द्धन-परिशोधन के अनन्तर 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' और 'हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य' नाम से अधिकारी विद्वानों के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ।

'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' वैज्ञानिक अध्ययन था, इसलिए पर्याप्त परिवर्तन हो जाने पर भी उसकी टाइप की हुई प्रति में प्रकाशित रूप का पूर्वाभास सहज ही मिल जाता था; परन्तु प्रस्तुत प्रयत्न साहित्यिक अनुशीलन है, अतः लेखक के व्यक्तित्व के साथ-साथ इसके नवीन रूप में समुचित परिवर्तन आ गया है। साहित्य वस्तुपरक उतना नहीं जितना कि व्यक्तिपरक, इसलिए साहित्यिक-कृति लेखक के व्यक्तित्व से अनिवार्यतः अंकित होती रहती है।

मूल कृति में रासो-काव्यों से वर्तमान काव्य तक की आलंकारिक सामग्री का अध्ययन था, इसलिए सन् १९५१ तक इसको 'हिन्दी-साहित्य की आलंकारिक प्रवृत्तियाँ' नाम से प्रकाशित करने का मेरा विचार था। (जिसका संकेत 'आलोचना की ओर', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १५, फुटनोट में दिया गया था)। पीछे यह सोचकर कि 'आलंकारिक सामग्री' और 'आलंकारिक प्रवृत्तियाँ' पदों से अधिकतर पाठक 'अलंकार-शैली' का अर्थ लेकर यह समझ बैठते हैं कि इस कृति में भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा प्रयुक्त अलंकार छाँटे गये होंगे, मैंने प्रकाशन से कुछ दिन पूर्व इस पुस्तक को नया नाम दे दिया है। प्रस्तुत रूप में इसका क्षेत्र 'वीर-काव्य' से 'शृंगार-काव्य' तक ही है, आधुनिक काव्य पर किसी विश्वविद्यालय में स्वतन्त्र अनुसन्धान हो रहा है उसके स्वीकृत और प्रकाशित होने पर प्रस्तुत प्रयत्न आद्यन्त पूर्ण हो जायगा।

यह स्वीकार करते हुए कि साहित्य कवि और समाज के समानान्तर रूप का प्रतिबिम्बक है, इस ग्रन्थ में मेरा प्रयत्न कवियों के व्यक्तित्व के सूक्ष्म अनुशीलन का रहा है, और मैंने स्पष्टतर स्थूल प्रस्तुत सूत्रों का अनुगमन न करके कवि के व्यक्तित्व को समझने के लिए सूक्ष्म एवं धूमिल अप्रस्तुत योजना का सहारा लिया है। कवि के अनन्त अवचेतन में परिस्थिति की प्रतिच्छाया बनकर जो नीहार-राशि व्याप्त रहती है वह अलोकसामान्य होने के कारण चर्म-चक्षुओं से ग्राह्य न हो सके, परन्तु सहृदयों की भावन-प्रक्रिया के लिए वह अस्पृश्य नहीं है। निर्भय होकर राज-पथ पर कवि के साथ विचरण करने के कारण समाज में ख्याति प्राप्त करनेवाले

विचार-वृन्द ही कवि के परिजन नहीं हैं प्रत्युत अन्त स्थल में निगूढ़ होने पर भी समस्त क्रिया-कलाप को प्रभावित करने वाले प्रच्छन्न भाव वायु भी कवि के उतने ही या उनसे भी अधिक निकट सहचर हैं। अत जब मेरे मन में कवि के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई तो मैं अवचेतन प्रासाद के उन प्रच्छन्न अतिथियों के पास गया और उनको ख्यात परिजनों से मैंने अधिक प्रामाणिक माना कहीं कहीं ख्यात परिजनों से भी मैंने बातचीत की और अपने मन की तुष्टि के अनुकूल दोनों के कथनों में से सार चुन लिया। मुझे अपने उद्देश्य में कितनी सफलता मिल सकी है यह स्वयं मैं भी नहीं जानता। परन्तु मुझे सन्तोष इस बात का है कि जो भावना मेरे मन में चिरकाल से बनी हुई थी उसको आज कार्यपरत देख रहा हूँ और मुझे विश्वास है कि जिस कार्य को मैंने आज उठाया है वह भविष्य में अधिकाधिक मनीषियों को आकृष्ट करेगा और साहित्य में आलोचना को एक नवीन गति प्रदान करेगा।

बन्धुवर डा० विजयेन्द्र स्नातक एम० ए० पी-एच० डी० ने अपने व्यक्तिगत कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी इस पुस्तक को आद्यन्त पढ़कर इस पर भूमिका लिखना स्वीकार किया यह उनके स्नेह का द्योतक है। पुस्तक के पुनर्लेखन शुद्धीकरण प्रतिलिपि आदि में अग्रज डा० जयदेव एम० ए० पी-एच० डी० तथा चि० प्रवीण कुमार नागर बी० ए० (आनर्स) ने अनेकश हाथ बटाया है। मैं इन स्नेहियों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

२१-५-५७ ओम्प्रकाश

विषय-सूची

: १ :

विषय-प्रवेश

शब्दोत्पत्ति

पत्थर के एक टुकड़े को हाथ में लेकर जब मैं लकड़ी के तख्ते पर फेंकता हूँ तो मेरी शक्ति पत्थर के माध्यम से लकड़ी को व्यस्त करती हुई ध्वनि का रूप धारण कर लेती है; यदि पत्थर के इस टुकड़े को लोहे के खंड पर फेंका जाय तो लोहे को व्यस्त करती हुई मेरी शक्ति संभवत: ध्वनि तथा अग्नि दो रूपों में प्रकट हो; इसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं को व्यस्त करके मेरी शक्ति ध्वनि, अग्नि, प्रकाश, विद्युत् तथा चुम्बक इन पांच रूपों में से एक या अधिक रूपों में व्यक्त होगी। शक्ति के इन पांच रूपों में से 'ध्वनि' सर्वाधिक ग्राह्य है, और माध्यम तथा वस्तु की व्यक्तिगत विशेषताएँ शक्ति के इस रूप को जितना प्रभावित करती हैं उतना दूसरों को नहीं। सत्य तो यह है कि शक्ति का यह ध्वनि-रूप संघर्षित वस्तुओं (माध्यम तथा प्रताड़ित वस्तु) के आकार, रूप, आयु तथा दशा के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। यही कारण है कि अपने कमरे की किवाड़ों और साँकल की ध्वनि सब पहिचान लेते हैं, सड़क के एक किनारे पर खड़े होकर सुननेवाले अभ्यस्त लोग यह जान जाते हैं कि दूसरे कोने से आने वाली 'बस' किस मॉडल की है और कितनी पुरानी है; बाइसिकिल की घंटी और मोटर का हॉर्न यह बतला देते हैं कि आगन्तुक परिचित है या अपरिचित, और यदि परिचित है तो राम है या श्याम।

अचेतन वस्तु में ध्वन्युत्पत्ति बाह्य शक्ति-संयोग से ही सम्भव है, परन्तु चेतन में इसकी अपेक्षा नहीं, वातावरण-विशेष की परिस्थिति भी पशुओं तथा पक्षियों के हृदय में अभिव्यक्ति की आकुलता उत्पन्न कर देती है; और 'ध्वनि' के स्थान पर 'शब्द' को जन्म देती है। मानवेतर जीव आत्माभिव्यक्ति में जिस 'शब्द' का प्रयोग करते हैं, वह उनके 'भाव' का वाहक है, 'विचार' का नहीं; क्योंकि मानवेतर जीवों का व्यक्तित्व रागात्मक तत्त्वों से निर्मित है, बुद्धि-विकास का परिणाम नहीं; यह अभिव्यक्ति वैचित्र्य में सीमित परन्तु बल में असीम है। जीवों की यह शब्दात्मक अभिव्यक्ति जीवन में नित्यश: दृष्टिगत होती है। ऊषा की सूचना से ही ताम्रचूड़ प्रसन्न होकर तारस्वर में बोलने लगता है, सन्ध्या की लालिमा को देखकर ही पक्षीवर्ग चहचहाता हुआ अपने नीड़ों को चल देता है, ऋतुओं और कालों का आभास पक्षियों को मनुष्य से पूर्व ही मिल जाया करता है। राम के वन-गमन पर राजप्रासाद के अश्वों की करुण ह्रेषा का वर्णन तुलसी ने तथा कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गो-कुल की हृदय-बेधक हूक का वर्णन सूर ने किया है; युद्धस्थल में स्थित अश्व तथा हस्ती के गर्जन से उनके स्वामी की दशा का ज्ञान दूरस्थित स्वजनों को हो जाया करता है। शक्ति का जो रूप जड़ में 'ध्वनि' कहलाता है वही चेतन में 'शब्द', ध्वनि बाह्य-शक्ति-जन्य है और शब्द आत्माभिव्यक्ति-रूप।

ऊपर हमने शब्द को आत्माभिव्यक्ति का रूप बतलाया है ध्वनि को नहीं, परन्तु यह कथन निर्विशेष रूप से सत्य नहीं है। यद्यपि जड पदार्थ आत्माभिव्यक्ति में समर्थ नहीं, परन्तु चेतन तो जड के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति में तत्पर रहते हैं, संगीत की सारी सज्जा आत्माभिव्यक्ति ही तो है—संगीत में तो अभिव्यक्ति से अधिक, कभी-कभी उसके अभाव में भी मोहिनी शक्ति कार्य करती है यथा कुरंग को फँसाने के लिए वीणा-वादन कदाचित् वादक के आन्तरिक उल्लास को व्यक्त नहीं करता प्रत्युत मुग्ध हरिणों पर मोहिनी डालने का साधन भर है। जब एक वादक वाद्य-यन्त्रों को ध्वनित करता है तो उस जड चेतन संयोग में जड के माध्यम से चेतन की शक्ति अभिव्यक्ति के निमित्त ध्वनि का जो साधक रूप ग्रहण करती है उसे 'नाद' कहते हैं। 'नाद' अभिव्यक्ति अतः सृष्टि का प्रथम निदान है इसीलिए कुछ सम्प्रदाय 'नाद' को सृष्टि की आदि अभिव्यक्ति मानकर उसको वेद का अग्रज घोषित करते हैं। व्याकरण शास्त्र के मूलाधार माहेश्वर[1] सूत्र भी नाद के ही रूप माने जाते हैं, मन्त्र तथा तन्त्र में नाद की शक्ति ही काम करती है। सामाजिक स्तर पर नाद का क्षेत्र संगीत है और शब्द का साहित्य यद्यपि परस्पर साहाय्य तो सर्वत्र वाञ्छित है ही।

काव्य का जन्म

शब्द चेतन हृदय की अभिव्यक्ति है इसके दो रूप हैं, स्वानुभूति तथा सामान्यानुभूति, स्वानुभूति आत्मानुभूति होने के कारण सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुणों की उपाधि से लाञ्छित हो सकती है परन्तु सामान्यानुभूति अखंड होने के कारण सर्वदा सात्त्विक है पहिली पशु पक्षी तथा मानव सबके द्वारा समान रूप से सम्भव है परन्तु पिछली केवल मानव का एकाधिकार है। मानव पशु है इसलिए वह अपने सुख से सुखी तथा अपने दुःख से दुःखी होता है परन्तु वह पशु से कुछ अधिक भी है इसलिए वह दूसरे के सुख-दुःख का अनुभव कल्पना द्वारा कर लिया करता है, क्रौञ्च मिथुन में से एक के निधन पर दूसरे की करुणा का अनुभव करते हुए महर्षि वाल्मीकि की वाणी आदिकाव्य का पूर्वाभास बन गई थी। पशु की अभिव्यक्ति प्रायः एक तात्कालिक अनुभूति से उद्भूत होती है रोदन क्रन्दन हास्य आक्रोश आदि उसके उदाहरण हैं, परन्तु काव्यात्मक अनुभूति या तो परानुभूति की अभिव्यक्ति है या स्वानुभूति की आवृत्ति[2]। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके व्यक्तित्व में हृदय-तत्त्व नष्टप्राय है, साहित्यिक दृष्टि से वे जड या अचेतन हैं दूसरे ऐसे हैं जो केवल अपनी ही अनुभूतियों का भार वहन कर सकते हैं, वे पशु हैं, उनका व्यक्तित्व मन्द एवं संकुचित है परन्तु थोड़े से ऐसे भावयोगी हैं जो प्राणिमात्र की अनुभूति को अपनी अनुभूति बना लेते हैं। स्वानुभूति और काव्यानुभूति

---

१ नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

२ अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ ने कविता का लक्षण यह बतलाया है—
पोइट्री इज दी स्पोनटेनियस ओवरफ्लो आफ पावरफुल फीलिंग्स। इट टेक्स इट्स ओरिजन फ्रॉम इमोशन रिकलेक्टेड इन ट्रैंक्विलिटी।

में जन्मजात भेद चाहे न हो परन्तु उनकी अभिव्यक्तियाँ भिन्न प्रकार की होती हैं। काव्यानुभूति वैयक्तिक न होकर सामान्य है इसलिए इसमें हृदय-पक्ष के साथ-साथ बुद्धि-पक्ष का भी तुल्ययोग होता है और यही बुद्धिपक्ष इन दो प्रकार की अनुभूतियों का व्यावर्तक धर्म है, इसीलिए काव्य के तीन तत्वों[1] (बुद्धि, भावना तथा कल्पना) में से पाश्चात्य आलोचक बुद्धि-तत्व को प्रथम तथा भाव-तत्व को द्वितीय स्थान देते हैं।

यदि अनुभूति काव्यानुभूति बनकर तदनुरूप अभिव्यक्ति चाहती है तो उसे शब्द के साथ-साथ अर्थ का भी रूप स्वीकार करना होगा; शब्दाभिव्यक्ति स्वानुभूति का सहज माध्यम है परन्तु शब्दार्थाभिव्यक्ति काव्यानुभूति का ही प्रकटीकरण। इसीलिए संस्कृत के पुराने आचार्यों ने काव्य का लक्षण शब्दार्थाभिव्यक्ति[2] मात्र ही स्वीकार किया था; काव्य की जो भी लक्षणमूल या वर्णनरूप विशेषताएँ हैं वे शब्द और अर्थ के इसी अपूर्व योग को आधार मानकर चलती हैं और संगीत से साहित्य का पृथक्त्व भी अर्थात्मकता पर ही निर्भर है।

अस्तु, शक्ति के तीन ध्वनि, नाद तथा शब्द स्वरूपों में पारिवारिक एकता होते हुए भी व्यावसायिक भेद है; ध्वनि निर्विशेष है, नाद वाद्ययन्त्राश्रित और शब्द संगीत तथा साहित्य दोनों में समादर का भाजन होते हुए भी एकाकीपन में संगीत का आश्रय-दाता है और अर्थ-संयोग में साहित्य का प्राण। काव्य या साहित्य शक्ति के स्वयंभू शब्द-रूप पर आश्रित होकर अर्थ के वैशिष्ट्य से अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये हुए है, इसी वैशिष्ट्य के कारण यह संगीत की अपेक्षा अधिक आयुष्मान् तथा संचरणशील है।

काव्य का परिच्छेद

शब्दार्थप्राण काव्य सामान्यानुभूति की अभिव्यक्ति होने के कारण एक ओर अन्तर्जगत् से अनुप्रेरित है तो दूसरी ओर बाह्य-जगत् से अनुशासित। काव्य के दो पक्ष होते हैं, प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत, और दोनों पर ही देश-काल की परिस्थितियों का अमित प्रभाव पाया जाता है। युग-विशेष के प्रमुख काव्यों को पढ़कर हम यह जान लेते हैं कि उस युग के मानव का जीवन कैसा था, उसकी क्या समस्याएँ थीं, उसकी राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक दशा कैसी थी और बुरा-भला, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, पाप-पुण्य आदि के विषय में उसकी क्या धारणाएँ थीं। कवि कथानक के संघटन एवं पात्रों के निर्माण में जिन सिद्धान्तों को स्वीकार करता है वे उसके आदर्श माने जा सकते हैं; स्थान-स्थान पर सवाद, उपदेश आदि के व्याज से अपने विचारों की अभिव्यक्ति वह करता ही जाता है। काव्य का प्रस्तुत पक्ष निश्चय ही कवि के उस व्यक्तित्व का द्योतक है जिसका निर्माण उस कवि की परिस्थितियों ने किया था और इसी व्यक्तित्व का अध्ययन काव्य के अध्ययन का विचारात्मक फल है।

कवि ने जो कुछ सिद्धान्त-रूप से, कथानक के निर्माण द्वारा, अथवा पात्र-सृष्टि में अभिव्यक्त कर दिया वह उसका प्रस्तुत पक्ष है, उसका अध्ययन आवश्यक है। परन्तु

---

१. हडसन : एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ़ लिटरेचर, पृ० १४।
२. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। (भामह : काव्यालंकार)
तद्दोषौ शब्दार्थौ…… । (मम्मट : काव्यप्रकाश)

इस अध्ययन से भी अधिक आवश्यक है कवि और काव्य का अ स्तुत पक्ष, जो अनायास ही अनावृत हो गया है, कवि ने निस्संकोच भाव से पाषाणपूरक जो कुछ कह दिया केवल वही उसके विषय में प्रमाण नहीं प्रत्युत जिसे कहते-कहते वह रुक गया वह भी उतना ही या उससे भी अधिक मूल्यवान् है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो कवि की भाषा से पाठक के सम्मुख आने वाले भाव और विचार कवि के विषय में उसको उतना नहीं बता सकते जितना कि कवि से आँख छिपाकर चुपचाप झाँकने वाले और बाहर आने के लिए व्याकुल संयम के सीकचों पर सिर पटक-पटक कर मूर्छित हो जाने वाले भाव और विचार उप-चेतन के ये ही अतिथि कवि के विषय में निष्पक्ष साक्षी है, कवि की वाणी संयम के अवगुंठन से जनपथ पर विचरण करती हुई जो हाव भाव और संकेतों द्वारा कह गई वही उसके घर का रहस्य है, कवि ने शब्दों को जो कुछ कहने की आज्ञा दी उससे अधिक यदि प्रमादवश भी वे हमको बता जायें तो हम अपनी सफलता पर धन्य हो जायेंगे। अस्तु काव्य का प्रस्तुत पक्ष निश्चय ही महत्त्व पूर्ण अध्ययन का विषय है परन्तु उसका अप्रस्तुत पक्ष महत्त्व के साथ-साथ प्रमाण रूप से अधिक विश्वसनीय भी है।

जीवन की सरसता-नीरसता सुख दुःख उत्साह-वैराग्य आदि के साथ-साथ काव्य का परिच्छेद भी परिवर्तित होता रहता है बाहरी सज धज और तड़क भड़क जीवन में प्रधान् रुचि की द्योतक है, एवं वस्त्र भूषण के प्रति उदासीनता जीवन से वैराग्य बन जाती है जीवन-मरण से मुक्ति चाहने वाले साधु और भिक्षु सदव एक गैरिक वस्त्र धारण करते रहे हैं परन्तु ऐहिक सुखों के उपासक विलासी राजा एवं श्रेष्ठी जनों से कला को आश्रय तथा आदर मिला है। काव्यशास्त्र में कविता को कामिनी माना गया है जो स्वयं इस ओर संकेत करता है कि कविता में सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। जिस काल में भौतिक सुखों की पूर्णता होती है उसकी कविता और कामिनी चिन्ता-मुक्त होकर कलामय जीवन भोगती है। जनता का कविता और कामिनी के प्रति दृष्टिकोण भी समानान्तर होता है, बौद्धों और सन्तों ने कामिनी की छाया से भी घृणा की तो उनकी कविता रूप रंग-हीन एक भिक्षुणी बन गई, संस्कृत साहित्य के आर्ष-युग में जीवन शान्त एवं सरल था, फलतः काव्य भी उदार, गम्भीर तथा सरल लिखा गया, महाकाव्यों के युग में वेदाभ्यासियों को जड़[1] कहा जाने लगा तो कविता भी रूप और सौन्दर्य में खिल उठी, कवि जितनी रुचि नायिका के शृंगार में रखता है उतनी ही कविता की सजावट में भी।

सौन्दर्य का जीवन में इतना महत्त्व होते हुए भी कुछ आलोचक उसको आदर की दृष्टि से नहीं देखते, उनके मत में कविता को आँखें नीची करके श्वेत परिधान में

---

१ वेदाभ्यासजडः कथं नु विषय-व्यावृत्तकौतूहलो।
निर्मातुं प्रभवेत् मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥१०॥

(विक्रमोर्वशीये प्रथमोऽङ्कः)

रंगमंच पर आकर विना हिले-डुले अपना सन्देश कह जाना चाहिए। इस अतिसंयम के दो कारण हैं। प्रारंभिक दिनों में कवि औचित्य का सदा ध्यान रखते थे, वे यह जानते थे कि किस मात्रा में और किस संख्या में परिच्छद कविता-कामिनी के कलेवर को विभूषित[1] करेगा और कब वह सुरुचिहीन भार बन जावेगा; परन्तु पीछे कविता-कामिनी की क्षमता का विचार न रहा और स्वकीय वैभव के प्रदर्शनार्थ कवि ने कविता को आज्ञा दी कि पूर्ण रूप से सजे विना वह बाहर झाँकने का प्रयत्न न करे। जो सुकुमारी शोभा के भार से ही डगमग चाल चलती है वह आभूषणों का बोझ कैसे सँभाल[2] सकेगी, यह विचार विलासी कवियों के ध्यान में ही न आया, वस्तुत. वे उस कविता-कामिनी को क्रीतदासी तथा अपने विलास का साधन मात्र समझते थे। सौन्दर्य की अवहेलना का दूसरा कारण आलोचकों का व्यक्तित्व है। काव्य एक ओर कवि के व्यक्तित्व का परिचायक है तो दूसरी ओर पाठक की रुचि का परीक्षक भी। कवि ने तो अपने युग में रहकर अपनी परिस्थितियों में विकसित होकर अपने अध्ययन-मनन के फलस्वरूप एक काव्य का निर्माण कर दिया; अब उसका स्वागत कैसा होता है यह आलोचक के व्यक्तित्व पर निर्भर है, इसी कारण देश, काल तथा पात्र के भेद से आलोचना मे सदा भेद पाया जाता है; राजगुरु बनकर संस्कृत के दरबारी साहित्य का रसास्वादन करनेवाले केशवदास ने जो काव्य लिखा उसको राजाश्रय से निराश, जीवन की गुत्थियों मे उलझा हुआ, संस्कृत-साहित्य की परम्परा से अपरिचित आज का मजदूर या कूटनीतिजीवी आलोचक कैसे पसन्द कर सकता है ? काव्य सुन्दर हो, इस विषय में मतभेद नहीं हो सकता, परन्तु प्रसाधन की मात्रा तथा परिच्छद के प्रकार पर पाठक और आलोचक एकमत नहीं हैं। कामिनी के समान कविता अपनी नग्नता[3] में आकर्षक नही लगती, उसे वस्त्राभूषण की अपेक्षा है; यह वस्त्राभूषण एक श्वेत[4] वस्त्र मात्र हो या अमूल्य रत्नाभरण।

यह एक विचारणीय विषय है कि प्रसाधन जीवन का मापक है या नहीं, विशेषतः कविता के क्षेत्र मे प्रसाधन के आधार पर ही यह निर्णय नहीं दिया जा सकता कि

---

१. "हाउएवर दि अर्ली राइटर्स एमप्लोइड मैनी फिगर्स इन दिअर कम्पोज़ीशन्स, एण्ड यट बर मोर नेचुरल दैन दोज़ हू अवोयड दैम ऑलटुगैदर, वीकॉज़ दे इन्ट्रोड्यूस्ड दैम इन एन आर्टिस्टिक वे।" (अरिस्टोटल : पोइटिक्स, पृ० २१७)

२. भूषन भार सम्हारिहै, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाँइ न धर परें, सोभा ही के भार॥ (बिहारी)

३ "व्हाट इज़ क्लीअर एण्ड एवीडेंट इज़ एप्ट टु एक्साइट कॉन्टेम्प्ट, जस्ट लायक मैन व्हू हैव स्ट्रिप्ड दैमसेल्वज़ नेकिड।" (अरिस्टोटल : पोइटिक्स, पृ० २२४)

४. सेत सारी ही सौं सब सौतें रँगी स्याम रंग,
सेत सारी ही सौं रँगे स्याम लाल रँग में। (मतिराम)

अमुक काव्य जीवन में प्राण प्राण है अमुक नहीं। केशव जैसे चमत्कारी कवियों में प्रधा धन का वैभव पाठक को खिन्न कर देता है परन्तु सूक्तिकारों के सारे उपदेश जीवन का सार दिखाई पड़ते हैं खड़ी बोली में नरेन्द्र शर्मा का गीत "आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे" अधिक लोकप्रिय है परन्तु महादेवी वर्मा का "धीरे धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्तरजनी" उतना नहीं है। तब तो ऐसा लगता है कि कविता-वनिता विच्छित्ति हाव में ही हृदय पर अधिकार करती है। विपरीत उदाहरणों की भी कमी नहीं, 'विनयपत्रिका' तुलसी का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है तथा सांग रूपकों का विशाल चमत्कार भी उसी में सर्वाधिक है 'साकेत' का नवम सर्ग आलोचना तथा वैभव दोनों ही कसौटियों पर सर्वोत्तम है बिहारीलाल हिन्दी के उत्तम कवियों में हैं और अलंकार का जितना चमत्कार उनमें है उतना अलंकृत काल के भी अन्य कवियों में नहीं। तब क्या काव्य-सौष्ठव और सौन्दर्य-सम्पत्ति एक ही गुण के दो अलग अलग नाम हैं ?

वस्तुतः काव्य का मूल्य उसके भाव विचार-कोष पर निर्भर है केवल वेष भूषा पर नहीं, निश्चय ही परिच्छद धारणकर्ता के विषय में किसी अनुमान को जन्म देते हैं परन्तु तभी तक जब तक कि कोई अन्य ठोस आधार प्राप्त न हो, राजकीय वस्त्र धारण करने वाले को राजपुरुष समझा जायगा, परन्तु यदि यह प्रवाद भी फैल गया कि यह राजपुरुष नहीं चोर है (चुराकर राजकीय वस्त्र धारण कर रहा है) तो फिर कोई भी अनुमान निश्चित नहीं हो सकता। कण्व के आश्रम में मृगयाविहारी राजा जब अपनी वास्तविकता को छिपाकर शकुन्तला आदि के समक्ष पहुँचा तो उन्होंने उसको सामान्य राजपुरुष समझा जब उसने दुष्यन्त नामांकित मुद्रिका शकुन्तला को सिंचन से मुक्त करने के लिए दी तो सखियों को तत्काल सन्देह हुआ परन्तु समाधान होने पर वे फिर उसे सामान्य राजपुरुष ही समझने लगीं। अस्तु, काव्य का मूल्य उसके वस्त्राभरण से नहीं प्रत्युत उसके विचार और भाव से निर्धारित किया जाता है। परन्तु वस्त्राभूषण व्यर्थ नहीं हैं वे विचारों के मूल्य पर तो अनुशासन नहीं रखते किन्तु भाव की अभिव्यंजना के मापक हैं। विचार की अभिव्यक्ति सरल तथा सहज ढंग से भी हो सकती है और भावना की मोहिनी में लपेटकर भी, जब विचार सरल एवं सौम्य रूप से पाठक के सम्मुख आवेगा तब उसकी स्वीकृति गाम्भीर्य में निहित रहेगी, परन्तु जब वह चमचमाता हुआ मन पर अधिकार कर लेगा तो उसकी अस्वीकृति असंभव है। जब विचार भावुकता में भर जाते हैं तो भाषा वास्तविक विचारों को व्यक्त नहीं करती, विचारों के प्रति रचयिता की भावुकता को व्यक्त करती है[1]। इस प्रकार की अभिव्यक्ति समभावक को अत्यधिक प्रभावित करेगी, सामान्य पाठक या साहित्यिक समालोचक

---

१ 'दि मोर इमोशन्स ग्रो अपौन ए मन, दि मोर हिज स्पीच एबाउण्ड्स इन फिगर्स फॉर्मल्स स्वाम्प आइडियाज एण्ड लंग्वेज इज यूज्ड टू एक्सप्रेस नॉट दि रियलिटी ऑफ थिंग्स बट दि स्टेट ऑफ वन्स इमोशन्स"।

(राघवन स्टडीज ऑन सम कन्सेप्ट्स ऑफ दि अलंकारशास्त्र)

को नहीं। इसीलिए कवि को यह ध्यान रखना चाहिए कि आलंकारिक सौन्दर्य प्रमुख न बन जाय, उसका औचित्य उसकी स्वाभाविकता[1] में है; अलकारों की अति रचयिता की शैली में अपरिपाक की द्योतक है, इससे अव्यवस्था तथा सुरुचिहीनता का अनुमान कर लिया जाता है।[2]

काव्य का अप्रस्तुत पक्ष

यह निश्चय कर चुकने के अनन्तर कि काव्य में प्रस्तुत पक्ष से अधिक महत्त्व अप्रस्तुत पक्ष या परिच्छद का है, और परिच्छद का वैभव कवि के व्यक्तित्व का विशेष परिचय देता है, हमको यह देखना होगा कि परिच्छद अथवा अप्रस्तुत पक्ष का वास्तविक एवं निश्चित अर्थ हम क्या ले रहे हैं। काव्यशास्त्र के पुराने आचार्यों ने काव्य के अप्रस्तुत पक्ष को 'अलंकार' नाम दिया था, और सौन्दर्य की समस्त योजना को वे अलंकार ही कहते थे; परन्तु इस शब्द से छन्दोयोजना, भाषा-व्यवहार आदि का कभी बोध नहीं हुआ। यदि काव्य के प्रस्तुत पक्ष को 'वर्ण्य' कहा जाय तो अप्रस्तुत पक्ष का नाम 'वर्णन' है, यदि प्रस्तुत पक्ष को 'अलंकार्य' कहें तो अप्रस्तुत पक्ष 'अलंकार' है। भामह ने 'भूषा', 'अलंकृति', 'सन्निवेश',[3] शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया है; दण्डी में भी 'अलकार' शब्द का व्यापक अर्थ है; 'अलंकृति' तथा 'अलंकार' शब्दों को पुराने आचार्य समानार्थी ही समझते थे। वामन ने 'अलंकार' शब्द का प्रयोग संकीर्ण तथा व्यापक दोनों अर्थों में कर दिया, वे सौन्दर्य-मात्र को भी अलंकार कहने लगे और सौन्दर्य के अतिशयता धर्म को भी। हिन्दी में आचार्य केशव ने 'अलंकार' शब्द का व्यापक अर्थ लिया है, उनका अनुकरण गुरुदीन पाण्डेय, बेनी प्रवीन, तथा पदुमनदास[4] ने किया। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य-योजना के दो भेद किये हैं—'वर्ण्य-वस्तु' तथा 'वर्णन-प्रणाली'[5], और 'वर्णन-प्रणाली को उन्होंने 'अलंकार' का पर्याय[6] माना है। यदि केशव को आधार मानकर चलें तो अप्रस्तुत पक्ष या 'वर्णन-पंथ' का नाम अलंकार है, इसके दो भेद हैं, साधारण या सामान्य तथा विशिष्ट। 'सामान्यालंकार' का अर्थ वर्णन-सामग्री और 'विशिष्टालंकार' का अर्थ वर्णन-शैली है; इसीलिए विशिष्टालंकार को ही भाषा[7] का भूषण माना गया है।

वस्तुतः अप्रस्तुत पक्ष के दो भेद मानने ही होंगे, एक सामग्री-गत दूसरा शैली-गत। कवि प्रस्तुत के प्रति अपने भाव को व्यक्त करने के लिए जिस सामग्री का उपयोग करता

---

१. "ए फिगर लुक्स बेस्ट व्हेन इट एस्केप्स बन्स नोटिस दैट इट इज ए फिगर"। (लौनजाइनस : ऑन दि सब्लाइम)

२. "दि फिगर्स यूज्ड शुड नॉट बी न्यूमरस। दिस शोज लैक ऑफ़ टेस्ट एण्ड एन अनईविननेस ऑफ स्टाइल।" (२१७) (अरिस्टोटल : पोइटिक्स)

३. दे० 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य', परिशिष्ट, पृ० २५४।

४. दे० 'आलोचना की ओर' (परिवर्द्धित संस्करण), पृ० १८२।

५. दे० 'कविता क्या है' (चिन्तामणि I, पृष्ठ १८३)

६. दे० 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' (वही II, पृ० ५)

७. भाषा इतने भूषणनि, भूषित कीजै मित्र। (कविप्रिया, ६,७)

है वह सामग्री स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है और जिस प्रकार से उस सामग्री का उपयोग हुआ है वह अलग शैली-गत अध्ययन का विषय। रमणी के मुख का वर्णन करते हुए एक कवि ने कहा 'मुख मानो चन्द्र है', दूसरे ने कहा 'मुख कमल है'; प्रथम वाक्य में वर्णन सामग्री 'चन्द्र' है और वर्णन शैली 'उत्प्रेक्षा', दूसरे वाक्य में वर्णन-सामग्री 'कमल' है और वर्णन शैली 'रूपक'; वर्णन-सामग्री की तुलना से हम यह बतला सकते हैं कि दोनों कवियों के मुख विषयक दृष्टिकोण में क्या भेद है और वर्णन शैली की तुलना से दोनों कवियों की मुख विषयक हृदयस्थ भावना का हमको ज्ञान हो सकता है। शुक्ल जी ने कवि-कर्म विधान में विभाव पक्ष के अन्तर्गत दो रूपों में लाई गई वस्तुएँ मानी हैं—वस्तु रूप (प्रस्तुत रूप) में तथा अलंकार रूप (अप्रस्तुत रूप) में[1], और अलंकार-रूप में लाई गई वस्तु से उनका तात्पर्य 'सामान्यालंकार' अथवा 'वर्णन-सामग्री' से ही है। यह आश्चर्य की बात है कि केशव का विरोध करते हुए भी आलोचक केशव के 'सामान्यालंकार' को आज भी विवेच्य समझते हैं और वर्णन-सामग्री को अलंकार नाम से ही अभिहित किया जाता है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि अप्रस्तुत के वर्णन-सामग्री (सामान्यालंकार) तथा वर्णन शैली (विशिष्टालंकार) पक्षों में से आलोचक की दृष्टि में कौन अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक है। इसका उत्तर यही होगा कि यद्यपि ये दोनों परस्पर में नितान्त स्वतन्त्र नहीं हैं फिर भी वर्णन सामग्री कवि की रुचि का द्योतन करती है, और वर्णन-शैली कवि की भावना का—वर्णन-शैली तो वर्णन-सामग्री के आधार पर ही उसके प्रति कवि के अनुराग की मापक है। मुख को चन्द्र कहनेवाला उसके नयनानन्द कारक अमृतमय रूप का प्रशंसक है यदि इस प्रशंसा में उसने उपमा अलंकार का आश्रय लिया तो उसकी भावना हलकी मानी जायगी, उत्प्रेक्षा में कुछ बलवती और रूपक में नितान्त बलवती, क्योंकि उस दशा में मुख तथा चन्द्र में अभेद ही हो गया। वर्णन शैली सूक्ष्म भावना का माप-यन्त्र है परन्तु वर्णन-सामग्री की छोड़ अखिल विश्व में से केवल वस्तु विशेष पर केन्द्रित होने के कारण मन के झुकाव अथवा रुचि का प्रमाण है। वर्णन-सामग्री का अध्ययन जितना वचित्र्यपूर्ण तथा सूचनात्मक होगा उतना वर्णन-शैली का नहीं, क्योंकि वह सैद्धान्तिक तथा अमूर्त है।

रुचि-वचित्र्य से वर्ण्य विषय की समानता में भी वर्णन-सामग्री में वैचित्र्य होगा, यह तो सिद्ध है, परन्तु कभी-कभी कवियों की रुचि वर्ण्य विषय के वचित्र्य में वर्णन-सामग्री की समान योजना कर देती है, वस्तुतः प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से एक में साम्य और दूसरे में वैषम्य रुचि भेद पर आश्रित रहता है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत-वैषम्य में अप्रस्तुत-साम्य के दो छन्द देखिए—

(क) बागों ना जा रे, तेरे काया में गुलजार।
करनी-क्यारी बोइ के, रहनी कर रखवार।
दुरमति-काग उड़ाइ के, देख अजब बहार।

---

1 दे० 'महाकवि सूरदास जी' (भ्रमर-गीत-सार, पृ० ४५)।

मन-माली परबोधिए, करि संजम की वार।
दया-पौद सूखै नहीं, छमा सींच जल डार।
गुल औ' चमन के बीच में फूला अजब गुलाब।
मुक्ति कली सतमाल की पहिरू गूंथि गलहार॥ (कबीर)

(ख) बागन काहे को जाओ पिया, घर बैठे ही बाग लगाय दिखाऊँ।
एड़ी अनार सी मौर रही, बहियाँ दोउ चंपे सी डार नवाऊँ।
छातिन में रस के निबुआ, अरु घूंघट खोलि कै दाख चखाऊँ।
टाँगन के रस के चसके रति फूलनि की रसखानि लुटाऊँ॥ (रसखान)

कबीर और रसखान दोनों ने ही शरीर को वाटिका बनाया है, परन्तु एक के लिए निर्गुण प्रणाली पर पुरुष का शरीर वाटिका है और दूसरे के लिए विलास-धारा से सिञ्चित युवती का कलेवर वाटिका है, एक से शान्त रस की उपलब्धि होती है दूसरे से शृंगार रस की। प्रस्तुत का यह वैषम्य दोनों कवियों की रुचि पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

प्रस्तुत अध्ययन

यह कहा जा चुका है कि काव्य-गत सौन्दर्य का अध्ययन करते हुए काव्य के प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दो पक्ष माने जा सकते हैं, और क्योंकि इस अध्ययन का उद्देश्य कवि के व्यक्तित्व का यथासंभव परिचय प्राप्त करना है इसलिए प्रस्तुत पक्ष में आने वाली सामग्री की अपेक्षा अप्रस्तुत पक्ष की सामग्री अधिक प्रामाणिक अतः लाभदायक है—उस पर कवि का ज्ञात संयम नहीं होता अतः वह उसके अन्तस्तल के अनेक रहस्यों की सूचना दे सकती है। अप्रस्तुत पक्ष के दो रूप हैं वर्णन-सामग्री तथा वर्णन-शैली: हमने अपना अध्ययन वर्णन-सामग्री तक सीमित रखा है, वर्णन-शैली की तो यत्र-तत्र सहायता ही ली है। यदि केशवदास की शब्दावली का प्रयोग करें तो हमारा यह अध्ययन सामान्यालंकार तक सीमित है, और सामान्यालंकार की सामग्री की परीक्षा करके ही हमने कवि एवं काव्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सामान्य निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयत्न किया है।

यह कहना अनावश्यक है कि हिन्दी में यह अध्ययन अपने रूप तथा गुण में सर्वांशतः मौलिक है। अब तक कवियों और काव्यों के जितने अध्ययन हुए हैं उनमें उनका परिचय, उनका दर्शन, उनकी काव्य-कला तथा उनका महत्त्व और योगदान ही विवेचन और परीक्षण के विषय बने हैं। व्यक्तित्व के अध्ययन के प्रयत्न हुए ही नहीं, और यदि किसी ने संकेत किया है तो केवल प्रस्तुत एवं प्रतिपाद्य सामग्री की दृष्टि में रखकर ही, अप्रस्तुत सामग्री के संकेतों से लाभ उठाकर नहीं। अप्रस्तुत सामग्री का इतना अधिक उपयोग किसी अन्य आलोचक ने नहीं किया, और अप्रस्तुत सामग्री की 'सामान्यालंकार' के अर्थ में स्वीकृति भी पहिले नहीं हुई।

अप्रस्तुत सामग्री से हमने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे कितने निर्विवाद और किस मात्रा में पूर्ण हैं? यह प्रश्न आद्यन्त हमारे मस्तिष्क में रहा है और यह स्वीकार करने में हमको कोई संकोच नहीं कि अनेक बार हमारे निष्कर्ष निर्वैयक्तिक नहीं रहे।

अप्रस्तुत सामग्री पाठक के सम्मुख केवल संकेत हा रख सकती है अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकती, क्योंकि ध्वनियों के समान मानो ध्वनि के साथ से उसको अस्फुटालापना का वचन मानना पड़ता है, फिर संकेत-ग्रहण व्यक्तित्व निरपेक्ष हो भी नहीं सकता। इसलिए यदि मेरे आलोचक-बन्धु "किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयते" का आरोप लगाते हुए मुझ से असहमत हों तो मुझे आश्चर्य न होगा। अप्रस्तुत सामग्री से जो संकेत मुझे मिले उनको मैंने ग्रहण कर लिया, यदि अन्य लोग दूसरे संकेत ले सकें तो वह भी अध्ययन और मनन का ही परिणाम होगा, इसलिए हम दोनों के निष्कर्ष सम्पूर्ति विधायक भी हो सकते हैं, कम से कम अप्रस्तुत सामग्री से संकेत ग्रहण करके व्यक्तित्व का अध्ययन तो किया गया।

अध्ययन के इस क्रम में हमने देखा है कि व्यक्तित्व के विकास में कतिपय परिस्थितियों का निश्चित योग होता है। इन परिस्थितियों की व्यापकता से संकीर्णता की ओर लाते हुए उनके नाम राजनीतिक धार्मिक सामाजिक, साहित्यिक तथा वैयक्तिक परिस्थितियाँ होंगे। राजनीतिक परिस्थिति तो व्याख्यापेक्षणीय नहीं धार्मिक परिस्थिति में मत सम्प्रदाय आदि सामाजिक में जीवनयापन व्यवसाय आदि साहित्यिक में शिक्षा आदि तथा वैयक्तिक परिस्थिति में जन्म-जाति माता पिता आदि को सन्निहित माना जा सकता है। किस परिस्थिति का किस व्यक्ति पर कितना प्रभाव पड़ेगा—इसका कोई नियम नहीं, समस्त आचार विचार का खंडन करनेवाले कबीरदास ने बादशाही अत्याचार के विरुद्ध एक शब्द भी न कहा, यह आश्चर्य का ही विषय है सांसारिक प्रेम से आध्यात्मिक प्रेम का मार्ग निकालने वाले सूफियों ने राधा का नाम न सुना हो, यह विश्वसनीय नहीं है। फिर भी प्रत्येक युग का अपना एक रंग है जो उस युग के सभी कवियों में पाया जाता है, भक्तिकाल में नारी से दूर भागने की प्रवृत्ति का इतना जोर था कि नारी के उपासक लोक-कहानी-कार भी उसको कोस-कोस कर ही उस पर प्राण देते थे, इसके विपरीत रीतिकाल में नारी जब अनावरण चरण बन गई तो हिन्दुओं के देवता भी उसके पर पलोटने में अपने को कृतकृत्य समझने लगे। वस्तुतः युग और सम्प्रदाय की द्विमुखी छाप तो प्रत्येक कवि पर पाई जाती है, शेष तीन के चिह्न भेद के आधार हैं फलतः हिन्दी साहित्य की काव्यधाराओं का अध्ययन करने के लिए प्रत्येक धारा के शिरोमणि कवि का अध्ययन ही पर्याप्त है, न जाने क्यों एक आकाश में एक ही चन्द्र उदित होता है, केवल राममक्तिधारा ही ऐसी अनोखी है जिस पर तुलसी और केशव दो महान नीम हैं। अस्तु प्रस्तुत अध्ययन की विन्ध्याटवी में हम केवल शाल्मली तरुओं पर ही टिक सके हैं और हमारी दृष्टि फल-पत्र राशि के स्थान पर कोटरस्थ पक्षी वर्ग पर जम गई है।

: २ :

वीर-गाथा काव्य

पृष्ठभूमि

ब्राह्मण धर्म की विकारग्रस्त वर्णाश्रम प्रथा से बिलबिलाकर जब पददलित जनता ने महात्मा बुद्ध के नेतृत्व में विद्रोह का स्वर उठाया तो देश में आमूल परिवर्तन प्रारंभ हो गया, पुराने विचार, पुरानी भाषा, पुराना साहित्य, पुराने प्रमाण (धार्मिक ग्रन्थ आदि) सभी को त्याज्य समझा गया, और बुद्ध के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण इस विद्रोह ने थोड़े ही समय में अद्भुत परिवर्तन दिखा दिया; ऐसा जान पड़ने लगा मानो इससे पूर्व या तो कुछ था ही नहीं, और यदि था भी तो अधिकतर सारहीन ही था। परन्तु वृक्ष के साथ उसकी छाया भी विलीन हो गई और उसकी पत्तियाँ खड़खड़ का सूखा शब्द करती हुई अपने निर्जीव अस्तित्व का ही प्रतीक बन बैठीं। एक ओर बौद्धों में विकार पर विकार आने लग गये, दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म ने भी सचेत होकर करवट बदला। अतः शंकराचार्य की एक ललकार ने अवैदिक मतों के छक्के छुड़ा दिये। बहुत दिनों के उपरान्त वर्णाश्रम धर्म फिर सिंहासनासीन हुआ। पतित जनता में स्वतन्त्र चिन्तन का चिरलोप हो चुका था अतः समाज के अधिकारियों ने अवैदिक मतावलम्बियों के अनाचार को लक्ष्य बनाकर जनता को उनसे विमुख कर दिया और ब्राह्मण धर्म की एक बार फिर प्रतिष्ठा की।

विद्रोह तो शान्त हो गया परन्तु उसके कुछ चिन्ह न मिट सके, जिनमें से मुख्य भाषाविषयक था, ब्राह्मण धर्म वाले भी यह समझ गये कि अब देववाणी मानव-जगत् के लिए व्यवहार्य नहीं रही। अवैदिक अनात्मवाद चिन्तन के क्षेत्र में मायावाद बनकर आया, और सामाजिक जीवन में वह भाग्यवाद[1], आत्म-त्याग तथा स्वामि-सेवा में बदल गया। नारी भोग तथा अविश्वास की भी पात्र[2] समझी जाने लगी। विद्रोह की प्रतिक्रिया भी जमकर हुई और वेदशास्त्र एवं वेदोक्त गुणों के प्रति भरसक श्रद्धा दिखलाई गई; जनता की भाषा को साहित्य में स्थान देकर उसको संस्कृत भाषा से सजाना प्रारंभ हो गया। विक्रम को एक सहस्र[3] वर्ष बीत रहे थे कि भाषा में

---

१. श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'सिद्ध-सामंत-युग' के 'निराशावाद' (भाग्यवाद) का कारण सामन्तों की युद्ध-क्षेत्र में असफलता को माना है, परन्तु वीरकाव्य का भाग्यवाद एक उदात्त भावना की उपज है जिसमें अवसाद की अपेक्षा उल्लास अधिक है; आगे चलकर भक्ति काव्य में अवश्य पराजय का प्रभाव माना जा सकता है।

(देखिए 'हिन्दी काव्य-धारा', 'अवतरणिका')

२. विमेन इज एम्पिल एवीडेन्स टू शो दैट वीमन वर एसाइन्ड एन इनफीरियर पोजीशन इन दी सोशल स्केल। (हिस्ट्री ऑफ इण्डिया; पृ० २२५)

३ सन् ई० की १०वीं शताब्दी में ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था.........। (६०) (मध्यकालीन धर्मसाधना)

एक नया साहित्य पनप उठा, जिसका उत्तर भारत के राजपूत राजाओं से निकट सम्बन्ध है और जिसमें ब्राह्मण[1] धर्म की फिर से स्थापना है।

हिन्दी भाषा का जन्म तो बहुत पहिले ही माना जा सकता है परन्तु हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ इस पुनरुत्थान काल में ही मानना पड़ेगा[2] उस दिन से आज तक साहित्य में वही अविच्छिन्न विचारधारा दिखलाई पड़ती है समय समय पर अन्य प्रकार के विचार भी मिलते हैं, जैसा कि स्वाभाविक है परन्तु उनका परिपाक भी ब्राह्मण धर्म की पुष्टि में ही होता है। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म के आन्दोलन ने ब्राह्मण धर्म की अनेक कुरीतियों को दूर करके उस हिन्दी साहित्य को स्वायत्त स्रोत के रूप में दिया परन्तु कला के लिए हमारा साहित्य बौद्धों की अपेक्षा जैनों का अधिक ऋणी है। हिन्दी साहित्य को जैनकाव्य की अपभ्रंश-साहित्य में सुरक्षित, निधि परंपरा से मिली छंद, अलंकार तथा वर्णन सब में उसका प्रभाव शताब्दियों तक मिलता है।[3] जैनों तथा बौद्धों का दोहा छन्द तो हिन्दी का अमर छन्द बन गया है अपभ्रंश की वर्णन-शैली भी जायसी तक खूब मिलती है। वीरकाव्य का सौन्दर्यपक्ष मुख्यतः इसी अपभ्रंश लोक परम्परा का विकसित रूप है। वीरकाव्य को जो परंपरा मिली थी उसका जनता के जीवन से निकट सम्बन्ध था, इसीलिए उसमें स्वाभाविकता का ही प्रधान आकर्षण है।

राजनीतिक परिस्थिति

वैदिक संस्कृति अहिंसा को परम धर्म न मानकर व्यापक धर्म का एक अंग विशेष मानती है इसलिए इस पुनरुत्थान का नेतृत्व "एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध"[4] भिक्षुओं को न मिलकर शस्त्रजीवी क्षत्रियों को मिला, जिनको इतिहास में राजपूत कहा जाता है। राजपूत राजाओं में एकछत्र शासन की प्रथा न थी, एक नरेश दूसरे राजा पर आक्रमण अवश्य करता था परन्तु न तो उसके राज्य को अपने

---

१ इण्डिया इन दि इलेवेन्थ सेन्चुरी एज अलबरूनी सॉ इट वाज क्वाइट डिफ्रेंट। बुद्धिज्म, और ए मिक्सचर आफ बुद्धिज्म एण्ड शाक्तिज्म, और शाक्तिज्म वाज कनफाइन्ड टु धन कारनर ऑफ दि कन्ट्री, नेमली बंगाल, जैनिज्म मेन्टेन्ड इटस एक्जिस्टेन्स इन दि एक्स्ट्रीम वेस्ट, गुजरात एण्ड राजपूताना, बट दि डोमिनेटिङ फोर्स आफ इण्डिया वाज हिन्दुइज्म।(इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर पृ० १३१)

२ हरनति साहबेर मते ८०० ख० हइते १२०० ख० अब्देर मध्ये प्राकृतेर युग सुप्त ओ गौडीय भाषासमूहेर युग उद्भूत हइयाछिल। बौद्ध शक्तिर पराभवे, हिन्दु धर्म्मेर पुनरुत्थाने, हिन्दु-जातिर नव चेष्टार स्फुरणे ओ संस्कृतेर नवविकाशे, सेइ परिवर्त्तन एन हुत हइल । (१५) (बंगभाषा ओ साहित्य)

३ हिंदी काव्यधारा' 'अवतरणिका', पृ० १२ १३।

४ 'चन्द्रगुप्त मौर्य'।

राज्य में मिलाता था और न विजित प्रजा पर लूट-मार आदि अत्याचार ही करता था; चक्रवर्ती भूमिपाल "केवल यश के लिए ही विजय"[1] करते थे जिसमें न तो बौद्धों की कायरता को स्थान है और न यवनों की अमानुषिक बर्बरता का आदेश।

परमेश्वर संसार की सबसे बड़ी शक्ति है और इस संसार का परमेश्वर (या परमेश्वर का प्रतिनिधि) राजा है[2], ब्राह्मण धर्म के इस विचार की इस युग में बड़ी धूम रही; राजनीति में इसको 'दैवी अधिकार' कहते हैं। "राजाओं का एक सत्तात्मक शासन था, प्रजा का उसमें कोई हाथ न था......स्थायी सेना रखने की प्रथा बढ़ती जाती थी..."[3] परन्तु प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति राजा के लिए प्राण-त्याग करना अपना परम कर्त्तव्य[4] समझता था। राजा के सामन्त तथा दरबारी सभी कम से कम कर्म से क्षत्री होते थे जिनका यह विश्वास था कि एक न एक दिन तो मरना ही है फिर क्यों न स्वामी की सेवा में तन अर्पित करके इस लोक में यश तथा परलोक में स्वर्ग-सुख प्राप्त किया जाय।[5] जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भगवदिच्छा समझकर किया गया निष्काम कर्म भगवान् को समर्पित हो जाता है कर्त्ता उसके लिए उत्तरदायी नहीं समझा जाता, उसी प्रकार ऐहिक जीवन में अपना व्यक्तित्व राजा या स्वामी को अर्पित कर देना इस युग का सबसे बड़ा प्रजा-धर्म था।[6]

शासकों के स्वभाव में स्वाभिमान की मात्रा विशेषत. देखने योग्य है परन्तु वह स्वाभिमान कोरा अहंकार मात्र ही न था उसमें अपने पद तथा अपनी मर्यादा का सदा ध्यान रहता है; एक सामन्त जो कल तक एक सामान्य सैनिक था आज शासक बन गया तो उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि अपने पद की मर्यादा की रक्षा अपने प्राणों से खेलकर भी करे, यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह नीच है, कुल-कलंक है, उस पद के योग्य नहीं है। फलतः छोटी-छोटी बातों के लिए ही बहुत बड़े-बड़े युद्ध ठन जाते थे, अधिकतर युद्धों का कारण या तो अपनी मर्यादा-रक्षा है या प्रजा के किसी सामान्य कष्ट का बदला; शासक की दृष्टि से दोनों में तनिक भी अन्तर नहीं है। प्रजा के लिए

---

१. यशसे विजिगीषूणाम्—रघुवंशम्।

२. सो नृप भ्रम वेदन कह्यौ, नृप परमेसर आहि।
(पृथ्वीराज रासो, पृ० २०६४)

३. "भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्त्व।"
(द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ० ४५-६)

४. स्वामि साँकरे जानि कर, रहै आन घर सोय।
सो रानी फिर तौलियो, कुल रजपूत न होय॥ (परमाल रासो, २४०)

५. जे भग्गे तेऊ मरे, तिन कुल लाइए खेह।
भिरे सु नर गय जोति मिलि, बसे अमरपुर तेह॥
(पृथ्वीराज रासो, ११६८)

६ स्वामित्त तेज तिम तन तपन, दोष न लग्गे जोर जस।
(पृ० रा० १२१६)

इतना त्याग करने के कारण ही उस युग का राजा 'शासक' न कहलाकर 'प्रजापालक' कहलाता है, एक व्यापक अर्थ में उसको प्रजा का पिता ही समझना चाहिए।[1]

राजपूतों के स्वभाव में स्वाभिमान, आत्म-त्याग तथा प्रजा-पालन के अतिरिक्त दो वृत्तियाँ और भी थीं, एक को भोगप्रियता तथा दूसरी को युद्धप्रियता कह सकते हैं। अवैदिक मतों ने संसार से पलायन का जो आदर्श रखा वह ब्राह्मण धर्म को ग्राह्य न था इसलिए इस युग में भोग्य वस्तुओं का निर्लिप्त भोग नेताओं का ध्येय बन गया। राजाओं के अन्तःपुर में न केवल एक से एक बढ़कर रूपवती कामिनी ही दिखलाई पड़ती थी, प्रत्युत विलास के सभी साधन—कला के सभी उपकरण—अमूल्य रत्न, प्रतिभाशाली व्यक्ति, अलौकिक अस्त्र-शस्त्र, देश विदेश के अश्व आदि भी भरे रहते थे, और इसी सामग्री से उनकी महत्ता की माप होती थी। उत्सवों, त्योहारों आदि पर इसका प्रदर्शन आवश्यक था, इसकी प्राप्ति तथा रक्षा के लिए प्राण तक त्याग देना अपव्यय न समझा जाता था। ध्यान रखना होगा कि राजपूत राजा विलासान्ध न थे, अपने पराक्रम से अर्जित वस्तु का भोग वे अपना कर्तव्य समझते थे, परन्तु अनुचित-उचित का उनको सदा ध्यान रहता था। राजपूतों ने पर-नारी पर कभी दृष्टि नहीं डाली, हाँ किसी भी राजा की अविवाहिता कन्या को पराक्रम से छीनकर सहधर्मिणी बनाना उनका प्रिय विषय था। उनका विश्वास था कि पर-नारी की रक्षा से जय तथा पर-नारी पर कुदृष्टि रखने से पराजय होती है।[2]

युद्धप्रियता इन राजाओं का दूसरा गुण है, जो जितना अधिक विलासी उतना ही अपनी आन पर मर मिटनेवाला।[3] प्रेम निमन्त्रण पाकर जिस सुन्दरी को प्राप्त करने के लिए अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी और अपने प्रिय सामन्तों को खो दिया उसकी पालकी राजप्रासाद तक पहुँच भी न पाई थी कि किसी शत्रु के अत्याचार का समाचार मिला तत्काल ही आँखें लाल हो गईं भुजदण्ड फड़कने लगे, घोड़े में एड़ लगाई और जुझाऊ बाजे बज उठे। वीरता का इतना सजीव रूप अन्यत्र कदाचित् ही मिले। शृंगार और वीर में कोई विरोध नहीं है, दोनों की सहप्रवृत्ति[4] जीवन की सूचक है, इन्द्रिय भोगलिप्सा शृंगार नहीं है और कायरता को वीरता नहीं कह सकते, जिसमें जीवन

---

१ जैसा कि कालिदास ने दिलीप के विषय में कहा है—
प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ (रघुवंशम् १।२४)

२ परत्रीय परस नहीं, ते जीते जग बीच।
पर तिय सक्कत रतदिन ते हारे जग नीच॥ (प० रासो)

३ राज्य जाय फिर होत है, सिरिय जाय फिरि आय।
वचन जाय नहिं बाहुर, भूपति नर्क पराय॥ (परमाल रासो, ३०८)

४ (क) वीर सिंगार सुमन, कत जनु रत्त स्याम। (प० रा०)
(ख) श्रवन सुने यह वीर रस, सिंधव राग अपार।
हरषि उठे दोउ तिहि समै, मिलत वीर शृंगार॥ (हम्मीर रासो, १४८)

होगा वह संसार में अज्ञानियों के समान लिप्त भी रहता है और ज्ञानियों के समान उसका तृणवत् त्याग भी कर सकता है। शृंगार तथा वीर की यह सहप्रवृत्ति अवैदिक मतों में न थी।

सामाजिक जीवन

उस युग में ईश्वर तथा भाग्य में अत्यधिक विश्वास किया जाता था, भाग्य बड़ा प्रबल है जो कुछ विधि ने लिख दिया है वह मेटा नहीं जा सकता[1], मनुष्य इसीलिए यह नहीं कह सकता कि कब क्या हो जावेगा[2], बड़े-बड़े बलवान् व्यक्ति हो गये हैं परन्तु विधि के सामने सबको झुकना पड़ा है। यही भाग्यवाद आगे चलकर जायसी तथा तुलसी में पग-पग पर मिलता है। परन्तु वीरकाव्य का भाग्यवाद व्यक्ति को अकर्मण्य नहीं बनाता, प्रत्युत फलाफल से निरपेक्ष होकर उत्साहपूर्वक[3] कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करता है। इसी भाग्यवाद का फल था कि प्रत्येक राजपूत बिना आगा-पीछा सोचे ही रण-क्षेत्र में कूद पड़ता था और रक्त की नदी बहने लगती थी। प्राण-त्याग तो उस समय एक सामान्य विनोद मात्र था, जब दो व्यक्ति लड़ेंगे तो यह निश्चय है कि एक ही जीवित रहेगा[4], कोई भी जीवित रहे इसका कोई भी अन्तर नहीं। जगनिक ने क्षत्रियों की आयु १८ वर्ष ही मानी है[5], इसके उपरान्त वे वयस्क हो जाते हैं और किसी भी मिर्डत में उनका शरीर खेत रह सकता है। बौद्ध लोग जीवन की अपेक्षा मृत्यु को अधिक सत्य मानते थे, अपने स्वभाववश राजपूतों ने यही सत्य सिद्ध कर दिखाया। कायरता एक कुलकलंक था, जिसमें सबसे अधिक लज्जा जननी को आती थी,[6] क्यों उसने ऐसे पुत्र को जन्म दिया जो कायर बनकर कृपण के समान अपने जीवन की रक्षा[7] करना चाहता है? वीरों का विश्वास था कि युद्धस्थल में अपने

---

१. विधिना विचित्र निरम्यौ पटल, निमिष न इन लिखिव टरय। (पृ० रा०, २३७२)
   जू कछू लिख्यौ लिलाट मुख्ख अरु दुःख समंतह।
   धन, विद्या, सुन्दरी, अंग, आधार, अनंतह॥
   कलप कोटि टरि जाहिं, मिटै न, न घटै प्रमानह।
   जतन जोर जो करै, रंचन न मिटै विनानह॥ (पृ० रासो)

२. जानै न लोय इह लोक में, कौन भेद कत सुव्भियं। (पृ० रासो, २४२५)

३. जब लगि पंजर साँस, आस तब लगि ना छंडौं। (पृ० रा० २०४८)

४. यह प्रगट बत्त संसार महि, भिरै दोय, एकै रहै। (हम्मीर रासो, ११४)

५. बरिस अठारह छत्री जीवै, आगे जीवन को धिक्कार। (आल्हखंड)

६. (क) पुनि कही कन्ह नृप जैत सौं, स्वामि रषिष जिनु तनु तजै।
   तिन जननि दोस बुधजन कहै, मुंछ धरत मुक्ख न लजै॥ (पृ० रासो)
   (ख) ता जननिय को दोस, भरत खत्री जो संचइय। (पृ० रासो, २०३६)

७. आल्हा की माता ने कहा था—
   सदा पुत्र जीवै न कोइ, भूतल की यह रग।
   जौ भूपति भय मंदमति, आयसु करौ न भंग॥ (परमार रा०, ४७)

कर्तव्य का पालन करते हुए प्राण दान से जीव की मुक्ति हो जाती है।[१] इसलिए जब तक इस शरीर रूपी मन्दिर में आत्मा का निवास है तब तक इसको अपवित्र न बनने देना चाहिए—इसमें तेज[२] हो, साहस हो, अत्याचार-दमन[३] की शक्ति हो। प्राणों के निकल जाने पर फिर शरीर से कोई मोह नहीं रहता, इसलिए अपने निकटतम सम्बन्धी की वीर-गति प्राप्त करते देखकर राजपूत के मन में शोक नहीं होता प्रत्युत उत्साह की मात्रा बढ़ जाती है।

वीरयुग में नारी के दो रूप मिलते हैं—वीरमाता और वीरपत्नी। वीरमाता का जीवन उस समय धन्य माना जायगा जब उसका पुत्र मातृभूमि के युद्ध करता हुआ विजयी होकर लौटे या स्वयं वहीं अपना शरीर त्याग दे। रण में सोये हुए पुत्र के लिए माता शोक न करेगी प्रत्युत उसकी वीरता का कौशल सुनकर मन में फूली न समायगी। वीर-पत्नी का जीवन भी पति के साथ है तथा मरण भी[४], इसलिए पति की वीरगति का समाचार पाकर वह सानन्द शृंगार करके उसके समागम[५] के लिए स्वर्ग चला जायगा। जो पत्नी ऐसा नहीं करती (कदाचित् ही कोई राजपूत-बाला ऐसी हो) उसको नरक मिलता है।[६] उस युग में स्त्रियों से दूर भागनेवाली सर्वविरक्त वृत्ति का पूरा विरोध हुआ,[७] और ऐहिक जीवन के लिए स्त्री का मान आवश्यक समझा गया।[८] महाकवि चन्द ने संयोगिता के पूर्व जन्म का वर्णन करते हुए बतलाया है कि स्त्री ने सुर, नर, असुर सबका मोह लिया है स्त्री के कारण देवता मानव शरीर धारण करते हैं, और स्त्री के कारण ही वीर लोग मानव शरीर को हँसते-हँसते त्याग देते हैं—

त्याग छुट्यो मुनि रूप इन, सुरति प्रोय त्रिय आहि।

---

१ बहुरि न हंसा पंजरह जे पंजर तुटि धार। (पृ० रा०, १२१६)

२ रजवट चूरी-काच की, भागी फिरि न संधाइ।
अनिया नाहीं लाख की कीजे आँच तपाइ॥ (पृ० रा०, २८०४)

३ जा धरती की आश कर, मर न जाय कोई।
अबकाल नरकहिं परे, जग म अपजस होय॥ (पर० रा०, ४०६)

४ हम सुक्ख दुक्ख घटन समभ्य। हम सुरप ग्राम दइ न सभ्य॥
हम भूष प्यास अगम देव। हम सर समान पति हस सेव॥ (पृ० रा० २१४७)

५ पूरन सकल विलास रस, सरस पुत्र फल आनि।
अंत होइ सहगामिनी नेह नारि को मानि॥ (पृ० रा० २०१२)

६ निहच बेद नरक तेहि भाख।
पिय को मरत त्रिया तन राख॥ (पृ० रा० २५५६)

७ ससार त्रिया बिन नाहिं होत।
सजोगि सक्ति सिव माहि जोत॥ (प० रा० २१४७)

८ तुलना कीजिए—
कलत्रे गृहीर सुख, कलत्रे ससार।
कलत्रे हइते हय, पुत्र परिवार॥ (१६०)(कृत्तिवास रामायण)

जा मोहै सुर नर असुर, रहै वह्न सुख चाहि ॥
इनह काज सुर धरत, सूर तन तजत तत्च्छिन। (पृथ्वीराज रासो, १२४३)

इसमें सन्देह नहीं कि उस युग में नारी के प्रति एक दूसरी भावना भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है, वह आकर्षण का विषय न होकर घृणा का पात्र थी। नारी को बुद्धि में हीन[1], अविश्वास का पात्र[2], तथा पैर की जूती के समान[3] तुच्छ तक कह दिया गया है। एक बात अवश्य है कि नारी का जीवन अनिश्चित था, वह वीरभोग्या थी, उसको स्वयं ही ज्ञात न था कि कौन वीर उसको जीतकर उसका स्वामी बन जायगा, प्रायः वह पितृकुल के शत्रु के हाथ पड़ जाती थी और तब उसको अपने पितृ-कुल का कोई मोह न रहता था। बीसलदेव रासो में विरहिणी रानी ने अपने नारी-जन्म को बार-बार धिक्कारा है[4], जिसमें पति के साथ चैन से बैठने का भी अवसर नहीं मिलता। अन्य रत्नों के समान वीरयुग की नारी स्वामी की शोभा थी, जिसका भाग्य अन्य रत्नों के समान विपण्य तो न था, परन्तु जिसका अस्तित्व पति के अस्तित्व का ही एक अंग था। उस युग में सामान्य नारी के प्रति भी आदर की ही भावना[5], मिलती है, नारी विशेष अर्थात् माता[6], तथा पत्नी के प्रति तो राजपूत के मन में पूजा के ही भाव थे।

---

१. सब त्रिया बुद्धि नीची गिनंत। मानै न सच्च जो फुरि भनंत। (पृ० रा० २१४७)
२. साँप, सिंह, नृप, सुंदरी, जो अपने बस होइ।
तौ पन इनकौ अप्प मन, करो विसास न कोइ॥ (पृ० रा० २०६४)
सीता ने अग्निपरीक्षा के समय उलाहना दिया था—
पुरिस-णिहीण होंति गुणवंतिवि।
तियहे ण पत्तिज्जंति मरंति वि॥ (स्वयम्भू की रामायण)
३. हूँ बराकी धणी मोकियउ रोस।
पाँव की पाणही सूँ कियउ रोस॥ (बीसलदेव रासो, ३३)
४. स्री जनम कांई दीयौ हो महेस। अवर जनम थारे घणा हो नरेस॥
रानह न सिरजी हरिणली। सूरह न सिरजी धीण गाई॥
वन-खंड काली कोइली। वइसती अंब कइ चंप की डालि॥
(बीसलदेव रासो, ६५)
५. दि राजपूत ऑनर्ड हिज विमन एण्ड दी वेअर लौट वाज वन ऑफ़ दि "अपालिंग हार्डशिप" फ्रोम दि क्रेडल टु दि क्रेमेशन दे शोड वन्डरफुल करेज एण्ड डिटरमिनेशन इन टाइम्स ऑफ़ डिफ़िकल्टी एण्ड परफौर्मड डीड्स ऑफ़ वेलर विच आर अनपैरेलल्ड इन दि हिस्ट्री ऑफ़ दि वर्ल्ड।
(हिस्ट्री ऑफ़ मैडिवियल इण्डिया, पृ० ३७)
६. दस मास उदरि धरि, वले वरस दस, जो इहाँ परिपालै जिवड़ी।
पूत हेत पेखताँ पिता प्रति, वली विसेखै मात वड़ी॥ ९॥
(वेलि क्रिसन रुकमणी री)

काव्य-परंपरा

यह ऊपर कहा जा चुका है कि वीरकाव्य ने संस्कृत काव्य-परम्परा को न अपना कर 'अपभ्रंश' काव्य शैली को अपनाया। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें से मुख्य यह था कि वीरकाव्य लोककाव्य था परन्तु संस्कृत काव्य केवल विशेषज्ञों का ही विषय बन चुका था दूसरे ब्राह्मण धर्म वालों ने भी यह जान लिया था कि यदि जनता को अपनी ओर खींचना है तो जनता के ही साहित्य को अपनाना होगा। इस युग के कवि केवल राजसभा के रत्न ही नहीं बने हुए थे अपितु राज्य-व्यवस्था तथा युद्ध आदि में भी सक्रिय भाग लेते थे। इस युग का चारण राजा का मन्त्री, मित्र, पंडित एवं ज्योतिषी भी होता था तथा उसका स्वामि भक्त सैनिक भी, एक हाथ में तलवार तथा दूसरे में लेखनी लेकर वह जन जन में जीवन का संचार करने पर तुला हुआ था। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में सबसे सजीव तथा स्वाभाविकतापूर्ण काव्य वीरकाव्य ही है, उसमें चमत्कार भी मिलेगा परन्तु केवल उसी स्तर का जिसको कि सामान्य जनता भी समझ सके। वीरकाव्य मठों या राजसभाओं में बैठकर नहीं रचा गया, प्रत्युत उत्सव या युद्ध आदि के अवसरों पर गाया गया है इसलिए उसमें सरलता और स्वाभाविकता कूट-कूट कर भरी है। किसी भी साहित्य के प्रारंभिक काव्य जिन विशेषताओं से युक्त होते हैं, वे हमको रासो काव्य में भी पर्याप्त मिल जाती हैं।

रासो काव्यों की मुख्य विशेषता यह है कि ये किसी शास्त्रीय परंपरा के रूप मात्र नहीं हैं वे दरबारी होते हुए भी यथार्थवादी हैं काल्पनिक होने हुए भी ऐहिक हैं, ज्ञान प्रदर्शन करते हुए भी पाण्डित्य से उबने नहीं पड़ते, तथा राजा विशेष से सम्बन्ध रखते हुए भी युग प्रतिनिधि हैं वे राजकवियों के द्वारा लिखे गये थे फिर भी जनता के जीवन से उनका निकट सम्बन्ध है। इनको 'महाकाव्य' कहकर ही सन्तोष नहीं किया जा सकता क्योंकि पंडित समाज में महाकाव्य का जो लक्षण माना गया है वह इन पर नहीं घटता।[1] यदि तुलना करना आवश्यक ही हो तो शैली की दृष्टि से इनको रामायण, महाभारत, महापुराण आदि के समकक्ष रखा जा सकता है क्योंकि वाल्मीकि, स्वयम्भू तथा कृत्तिवास की रामायणें तथा महाभारत एवं हिन्दुओं के पुराण तथा जैनियों के महापुराण आदिपुराण आदि सभी काव्य लोक साहित्य के वर्ग में आते हैं विशेषज्ञ काव्य के वर्ग में नहीं। वाल्मीकीय रामायण में यों तो केवल सात ही काण्ड हैं, परन्तु प्रत्येक काण्ड में कई-कई पर्व हैं और पर्वों का विभाजन सर्गों में है, प्रत्येक सर्ग को एक विशेष नाम भी दे दिया गया है जिसके समाप्त होने पर कवि ने बतला दिया है कि "इत्यार्षे रामायणे सुन्दरकाण्डे लङ्कापर्वणि सीताविषादो नाम षड्विंश सर्ग", और काण्ड के समाप्त होने पर कवि बतला देता है कि "समाप्तोऽयं अमुककाण्ड"। रासो काव्यों में काण्ड तथा सर्ग नहीं है, केवल पर्व हैं जिनको "समय" कहा गया है[2] और

१ देखिए 'रासो-काव्य शैली"।

(आलोचना की ओर) (परिवर्द्धित संस्करण, पृ० १२ २०)

२ जैनों के चरितकाव्यों में "संधि" नाम है, तथा सूफियों के आख्यान काव्यों में "खंड"। "संधियों' की संख्या ११२ तक मिलती है, तथा 'खंडों' की ५७ तक।

जिनकी संख्या ६९ तक है। विभाजन की यह शैली रासो काव्यों की एक स्वकीय विशेषता है।

रासो काव्यों की दूसरी विशेषता वस्तु-वर्णन है, जो उनके प्रारंभिक काव्य होने का फल है। यह संभव है कि जिस भोज का वर्णन हो रहा है उसमें कवि स्वयं सम्मिलित न हो सका हो, या जिस युद्ध का चित्र खींचा जा रहा है उसमें वह स्वयं एक अंगरक्षक न रहा हो, परन्तु इस प्रकार के अनेक भोज और अनेक युद्ध उसने अपनी आँखों से देखे हैं; अतः अपनी प्रतिभा से वह पाठक के सामने एक ऐसा चित्र बनाता है जिसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का ब्योरा तथा प्रत्येक वस्तु का (भेदोपभेद सहित) यथाक्रम नाम आता चला जाता है। जिस चित्र के लिए दूसरे कवि अलौकिक कल्पना तथा अलंकारों की सहायता लिया करते हैं उसका मनोहर रूप रासो काव्यों में स्थूल सत्य तथा नाम-परिगणन[1] से ही निखर उठता है। वाल्मीकीय रामायण में भी जब कवि वर्णन करने लगता है तो नामों की एक लंबी सूची तैयार हो जाती है, हनुमान् जब अशोकवाटिका में पहुँचे तो उन्होंने कौन-कौन से तरुवर देखे इसका चित्र वहीं देखने योग्य है; इसी प्रकार जब हनुमान् सीता की खोज करके लौटे तब वानरों ने किस प्रकार हर्ष मनाया—कुछ खाने लगे, कुछ हँसने लगे, कुछ गरजने लगे, कुछ गाने लगे, कुछ दौड़ने लगे आदि आदि—यह भी अनेक क्रियाओं की लंबी सूची है। स्वयम्भू ने अपनी रामायण में मनोमोदक भोज का जो वर्णन[2] किया है, या कृत्तिवास ने बँगला रामायण में दशरथ की बरात के वाद्यों[3] के नाम तथा गिनती[4] बताई है उसको पढ़कर एक ओर तो रासो काव्यों की परंपरा का ध्यान आ जाता है दूसरी ओर जायसी को फिर पढ़ने की इच्छा होती है। पृथ्वीराज रासो के ६३वें 'समय' में (पृ० १९९० से २००० तक) "पकवान और मिठाई

---

१. क्लासिकल संस्कृत साहित्य में वर्ण्य-विषय तो केवल "उज्जयिनी नाम नगरी" या "अच्छोंद नाम सरः" (कादम्बरी) ही है परन्तु अप्रस्तुत सामग्री की कोई सीमा नहीं; रासो काव्यों में प्रस्तुत सामग्री ही इतनी संभावनातीत है कि अप्रस्तुत की आवश्यकता नहीं होती।

२. वड्ढिउ भोयणु मोयणु—सज्जइ। सक्कर—खंडेहि पायस—पयसेहि।
लड्डुव—लावण—गुल—इक्खुरसेहि। अल्लय—पिप्पली—मिरिया—मलयहि॥
केलय—णालेकर—जंबीरिहु।······

३. पाखोयाज पञ्चाश सहस्र परिमाण।
तिन कोटि शिंगा राजे अति खरसान।
राजे शतकोटि शंख औ घंटाजाल।
भोरंग सहस्रकोटि शुनिते रसाल॥ (३३)

४. यदि कवि विरत होता है तो अपनी असमर्थता से या पुस्तक के आकार पर दया करके ही—
प्रत्येक कहिते नाम नितान्त अशक्य। (४१)
प्रत्येक वर्णिले हय पुस्तक बिस्तर॥ (४६) (कृत्तिवास)

वर्णन", "पक्वान्न वर्णन", "तरकारियों और गोरस वर्णन" तथा "दाल भाजी खटाई" आदि का इसी प्रकार का भांडार है।

रासो काव्यों में केवल वस्तुओं के नाम गिनाये गये हों, ऐसा ही नहीं, वहाँ पर सक्रिय चित्र भी वर्णन को मनोहर बना देते हैं, इस प्रकार के चित्र भाव या स्वभाव आदि की अपेक्षा रणस्थल में अधिक मिलते हैं, कहीं तलवारों की खटाखट है तो कहीं हाथियों की चिंघाड़ कहीं रक्त के परनाले हैं तो कहीं त्रस्त सेना की भगदड़। जिस प्रकार वस्तुओं के परिगणन को अत्युक्ति अथवा उपहास कहकर टाला नहीं जा सकता, उसी प्रकार इन सजीव एवं सक्रिय चित्रों को स्वभावोक्ति अलंकार से अन्तर्गत नहीं रख सकते। यह शैली वीरकाव्यों की परम्परा में पीछे तक चलती रही[1] और आठ सौ वर्ष उपरान्त 'सुजानचरित' लिखने वाले मथुरा निवासी कवि सूदन की लेखनी से दिल्ली की लूट का प्रभावशाली चित्र इसी शैली के कारण चमक उठा—

धरि-धरि ललकारे गली-गलयारे, मारि किंवारे पुरवारे।
गहि करनि पनारे, सहि उपरारे, उच्च अटारे चढ़ि धारे।
बज्जत कुठारे, सत्त सहारे, फोरि दुवारे भुव पारे।
ऊँचे घरवारे खड़े पुकारे, हुवा कहा रे करतारे।
रव हाहाकारे घोर महा रे, मूड़े-धारे धिक्कारे।
चिक्करतनु पारे धावत रारे, धारे जारे ते जारे।
लके तरवारे देत पचारे, दिल्लीवारे बेचारे॥

इस स्थूल वर्णन का मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि रासो काव्यों के विषय तथा पाठक दोनों ही कवि के सामने रहते थे—समकालीन राजा का तो वह वर्णन करता था और यह वर्णन होता था सामंतों तथा प्रजाजनों के लिए। इसलिए ईश्वर देवता, अवतार या महापुरुषों के वर्णन की अपेक्षा इसमें सजीवता अधिक मिलती है। इस वर्णन में पाण्डित्य का स्तर कुछ नीचा है, कारण हम ऊपर बतला चुके हैं कि इसके पाठक (अथवा, श्रोता) कुछ विशिष्ट सभासद नहीं थे प्रत्युत सामान्य सैनिक तथा समस्त प्रजाजन था।

अप्रस्तुत योजना

वीरकाव्यों के सौंदर्य-पक्ष का अध्ययन करते हुए हमको दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं—एक का उद्गम संस्कृत-साहित्य से है और दूसरी का लोक-साहित्य से, संस्कृत का प्रभाव शृंगार आदि कोमल रसों में अधिक मिलता है क्योंकि इसकी भोगभूमि कदाचित् राजसभा रही होगी, अन्यत्र प्राकृत प्रभाव है क्योंकि वह जनसामान्य की वस्तु थी। संस्कृत में पंडित परम्परा से सौन्दर्य-सम्बन्धी ऐसे नियम बने हुए थे जिनका पालन कवियों का कर्त्तव्य हो जाता था, उदाहरण के लिए किस अंग के वर्णन के लिए किस अप्रस्तुत का उपयोग होना चाहिए, यह निश्चित था। रासो

१. तुलसी के 'कवितावली' में लंका-दहन का सजीव चित्र इसी शैली पर तयार किया है।

काव्यों ने इस प्रवृत्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार को अधिक अपनाया है और जसा कि स्वाभाविक है शरीरांगों के वर्णन में सम्भावना का आधार वस्तूत्प्रेक्षा ही है। महाकवि चन्द ने पद्मावती के रूप का वर्णन इसी शैली पर किया है और गजनी की सुन्दरियों के चित्र भी इसी प्रकार के हैं—

तनोर कोर रत्तियं। दसन्न ते सुभत्तियं॥
मनो कि डार पक्कियं। अनार ते दरक्कियं॥
, हलें अलक्क लंबियं। उरोज सो विलंबियं॥
मनो कि ते उरगियं। कली कुमुद्द लग्गियं॥ (६७वाँ समय)

यहाँ पर दाँत, केश, उरोज आदि के लिए जिन अप्रस्तुतों का उपयोग हुआ है वे संस्कृत साहित्य में परम्परा[1] से प्रसिद्ध थे। यह परम्परा सादृश्यमूलक दूसरे अलंकारों विशेषतः प्रतीप के साथ भी दिखलाई पड़ती है। परन्तु एक विशेष बात यह है कि शृंगार आदि रसों में भी अधिक चमत्कार वाले अलंकार परिसंख्या, विरोध, विषम, विशेषोक्ति, अपन्हुति आदि नहीं मिलते, कारण इन काव्यों का लोक-स्तर ही है।

दूसरी प्रवृत्ति का आभास नाम गिनाने वाली शैली में ऊपर मिल चुका है। सौन्दर्य-वृद्धि के लिए इन काव्यों ने एक प्रकार की अत्युक्ति को अपनाया है, जिसके कई रूप हैं, जिनमें से मुख्य है 'संख्यात्मक अत्युक्ति', जिसमें वर्णन करते हुए वर्ण्य-वस्तु की ठीक-ठीक माप या मात्रा बतलाई जाती है। रासो काव्यों में इस अत्युक्ति का उपयोग वैभव-वर्णन, युद्ध-वर्णन तथा भोज-वर्णन तीनों ही स्थलों पर किया गया है। 'पृथ्वीराज रासो' के ६६वें समय में "रावलजी की खातिरदारी" में कितना अन्नादि व्यय हुआ यह कवि ने ठीक-ठीक बतला दिया है[2], अन्यत्र घग्घर की लड़ाई के समय लूट में क्या-क्या और कितना-कितना मिला इसकी चर्चा[3] है, तो कवि नरपति नाल्ह यही बतलाते हैं कि राजा बीसलदेव के अभियान के समय उनके साथ कितने पैदल थे, कितनी

१. परमार-रासो में भी इस प्रकार का सौन्दर्य द्रष्टव्य है—
अधरान रागु तंमोल जीभ।
जनु कमल मध्य दाड़िमय बीज।
मुसक्याय पिक्ख मृदु मंद हास।
चंचला चमकि जनु इंदु पास।
आरूढ़ दन्त छवि परम पूर।
घनु सिखिर मनहु उदवेग सूर॥ (१६५)

२. सीधौ मन लै पच, साक पल्लव तैलाखम।
दही-दूध अनपाह, घृत मन असी अनोपम।
मैंदा मन पंचास, बीस मन बेसन दीनौं॥ (पृ० रा० २११८)

३. एक लक्ख बाजित्र, सहस तीनह मय मत्तह।
लक्ख एक तोखार, तेज ऐराकी तत्तह।
आराबी हथ्थिनी, सत्त सै सत्त सु भारिय।(६५४)

पातरियाँ थीं, और कितने हाथी थे—

आठ सहस नजा चली, पालकी बैठा सहस पचास।
हाथी चाल्या डोवसी, बत्तीस सहस चाल्या बेकाण॥

यह प्रवृत्ति पाली[1] तथा अपभ्रंश के काव्यों में बहुत पहिले ही प्रचलित थी और उन्होंने भी जनता के व्यवहार से इसको अपनाया होगा। पुष्पदन्त के 'महापुराण' में इसके अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं—

चउरासी लक्खइं कुंजरहिं। तेत्तिय सहसइं रहवराहं।
छण्णवइ सहासइं राणियहं। बत्तीस सिरिहं सतायिणइं।
सोलह सहसइं मिहह मुरहं। आण्णायरहं पज्जलियरहं॥ (तलोगमगी सधि य)

अत्युक्ति का दूसरा रूप 'चित्रात्मक अत्युक्ति' में मिलता है, यहाँ न तो संख्या बतलाई जाती है और न ऊहा की सहायता ली पड़ती है केवल वर्ण्य-वस्तु का चित्र खींचकर उसकी अभिव्यंजना पर जोर दिया जाता है। हिन्दी साहित्य की यह अत्युक्ति वाली आगे चलकर बिल्कुल लुप्त हो गई, यह अत्यन्त खेद की बात है। युद्ध की विकरालता का वर्णन यह बतलाकर भी किया जा सकता है कि उसमें इतने व्यक्ति, इतने हाथी घोड़े मरे और यह बतलाकर भी किया जा सकता है कि रक्त के नाले बहने लगे[2]—प्रथम को संख्यात्मक अत्युक्ति कहेंगे और दूसरे को चित्रात्मक, क्योंकि इसमें पाठक के सामने एक वास्तविक रूप आ जाता है जिसके द्वारा अभीष्ट अभिव्यंजना पर पहुँचना कठिन नहीं रहता। चित्रात्मक में यदि खींचतान की जावे तो ऊहा बन जाती है जैसी कि फारसी के प्रभाव से आगे चलकर हिन्दी साहित्य में स्थान-स्थान पर दिखलाई पड़ी।

अत्युक्ति का सहारा लेते-लेते हमारे कवि कभी-कभी कल्पना-लोक में जा पहुँचते हैं उस समय उनको इस संसार की विषमताओं तथा मात्राओं का ध्यान नहीं रहता।[3] परमाल रासो के रचयिता ने नगर का वर्णन करते हुए सभी पुरुषों को स्वेच्छानुकूल भोग भोगनेवाले देवों के अवतार तथा सभी रमणियों को मेनका से बढ़कर रूपवती बतलाया है आगे चलकर जायसी ने भी ऐसा ही किया। "रावन जी की

---

१ श्री ईशानचन्द्र घोष लिखते हैं—
पालिग्रन्थकारेरा बहुसंख्या द्योतनाय एक एकटा स्थूल संख्या निर्देश करेन बड़ इ पक्षपाती। जिनि धनी तिनि अशीति कोटि सुवर्णेर अधिपति बलिया वर्णित, जिनि आचार्य तिनि पञ्चशत शिष्यपरिवृत, जिनि सार्थवाह तिनि पञ्चशत शकट लइया वाणिज्य करिते जान। (उपक्रमणिका, जातक प्रथम खण्ड)

२ सोहान तनी बज्जे लहरि, कोउ हल्ले, कोउ उत्तर।
परनाल रुधिर चल्ल प्रबल, एक घाव एकहु मर॥

३ सब भू सुर इच्छ की भोग पाव। जन इंदिरापति चित लगाव॥
घर रूप जोवान की रूप सारी। तहाँ मेनिका आदि व अपचारी॥

खातिरदारी" वाले उदाहरण में कवि को यह ध्यान नहीं रहा कि जिस भोज में पाँच मन आटा, पचास मन मैदा तथा बीस मन बेसन लगा होगा उसमें अस्सी मन घी नहीं लग सकता। इसी प्रकार 'आल्हखंड' में[1] आल्हा-ऊदल की खिचड़ी में जितनी हींग पड़ती बतलाई गई है उस पर विश्वास तो होता ही नहीं, पढ़कर केवल हँसी आती है। परन्तु ऐसे उदाहरण इन काव्यों में अधिक नहीं हैं। हाँ, वैभव के वर्णन में ये कवि स्वर्ण, चन्दन, हीरा तथा पन्ना के बिना[2] चलना ही नहीं सीखे।

अत्युक्ति के अनन्तर वीरकाव्यों का दूसरा प्रिय प्रसाधन वह है जिसको आजकल 'ध्वन्यर्थव्यञ्जना' कहा जाता है, इसका व्यवहार भी अपभ्रंश काव्यों में पर्याप्त मात्रा में मिलता है, दोनों ही स्थलों पर शृंगार रस में भी[3] और वीर रस में भी। युद्धस्थल में उत्साहित करने के लिए सिंहनाद कितना काम करती है इसे सभी जानते हैं, और खड्गों की खटखटाहट, बाणों की सरसराहट, एवं घोड़ों की हिनहिनाहट का भी प्रभाव सर्वविदित है; दूसरी ओर सभी रसिक जानते हैं कि नूपुरों की छन-छन, पायल की झन-झन तथा किंकणी की कण-कण में क्या संदेश छिपा रहता है। रासो-काव्य नाद[4] को अधिक पहचानता था, इसलिए उसमें नाद के द्वारा ही अर्थ तक पहुँचाने वाली सर्वजन-सुलभ ध्वन्यर्थव्यञ्जना की शैली के असंख्य उदाहरण मिलते हैं—

(१) झननं झननं भय नूपुरयं।
खननं खन चूरिय भूरि भय॥ (परमालरासो—शृंगार)

(२) हहकंत कूदंत नंचै कमंधं। धडक्कंत वज्जंत छुट्टंत संधं।
लहक्कत लूटंत लूटंत भूमं। झुकंते घुकंते दोऊ बथ्थ भूमं॥
(पृ० रा० २११०)

---

१. आल्हा-ऊदल की खिचड़ी माँ, परिगै सवा लाख मन हींग।

२. (क) चदन काठ कौं मांड्हो, सोना की चौरी, मोती की माल।
(बीसलदेव रासो, २२)

(ख) चन्दन पाट, कपाट ई चन्दन।
खुम्भी पर्नां, प्रवाली खम्भ। ३६। (वेलि क्रिसन रुकमणी री)

३. लहलह लहलह लहलहए उर मोतिय हारो।
रणरण रणरण रणरणइ पग नूपुर सारो।
जगमग जगमग जगमगै कानहि वर कुंडल।
झलमल झलमल झलमले आभरणहँ मंडल। (जिनपद्मसूरि: थूलिभद्दफागु)

४. युद्धस्थल की ध्वनियों के कुछ रूप देखिये—
भभक्कं-भभक्कं बहै रक्तधारं।
सनक्कं-सनक्कं बहै बान मारं।
दडक्कं बजै सथ्थ मथ्यं सुघट्टं।
कडक्कं बजै सेन सेना सुघट्टं॥
भभक, सनक, दड़क तथा कड़क का ग्रामीण भाषा में तो आज भी प्रयोग होता है; खेद है कि काव्य में कवि इन ध्वन्यर्थक शब्दों को भूल ही बैठे हैं।

'धड़कन' 'दड़बन', 'तुटत' आदि ऐसे शब्द हैं जिनको सुनकर ही उनकी क्रिया का चित्र नेत्रों के सामने आ जाता है। इनसे मिलता जुलता शब्द 'हहकत' (हाहाकार करते हुए), वज्जत (बजते हुए) आदि भी अपेक्षित भाव की उत्पत्ति में सहायक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण वीरकाव्यों में संस्कृत काव्य-परंपरा का अधिक प्रभाव नहीं पड़ सका है और न इनमें पाण्डित्य को ही प्रोत्साहन मिल पाया है, इनमें वर्णन तथा नाद की ही प्रधानता है, और किसी न किसी रूप में अत्युक्ति ही इनका प्राण है। अत्युक्तियों में अलौकिकता का एक पुट सदा रहता है जिसको आज का बुद्धिवादी अनावश्यक कल्पना की व्यर्थ उड़ान ही कहेगा, परन्तु जो उस समय की जनता में जीवन भरने के लिए परम आवश्यक था। चन्द कवि ने कुमारी संयोगिता के उत्तरोत्तर अंग विकास का वर्णन करते हुए बतलाया है कि दूसरी बालाएँ जितना एक दिन में बढ़ती हैं उतना वह एक घड़ी भर में बढ़ जाती है और दूसरी बालाएँ जितना एक मास में बढ़ती हैं उतना वह रसवती एक पल में ही बढ़ जाती है[1] राठौड़राज पिथीराज ने लगभग इसी बात को अपनी नायिका के विषय में इस प्रकार कहा है—

> अनि वरसि वध, ताइ मास वध ए,
> वध मास ताइ पहर वधंति ॥१३॥ (वेलि क्रिसन रुकमणी री)

दूसरा उदाहरण विरह की उस दुर्बलता का लिया जा सकता है जिसमें वामांग की अँगूठी दक्षिण हाथ का कंकण बन गई थी, और जिसका उल्लेख 'सन्देश रासक' के रचयिता कवि अब्दुर रहमान ने[2] भी किया था, तथा आगे चलकर केशव तथा तुलसी ने भी। परन्तु नरपति नाल्ह की बात सीधी-सी है वह यह नहीं कहता कि अँगूठी अंगुली में से[3] खिसककर पहुँचे में आ गई प्रत्युत उसकी जोर कलाई की क्षीणता पर है—अगूठी भी अब उसमें आने लगी है इतनी है दुर्बलता—

> डावां हाथ को मूदड़उ
> आवण लागो जीवणी बाँह।[4] (वीसलदेव रासा, ७५)

इसका अभिप्राय यह समझ लेना चाहिए कि वीरकाव्यों के वर्णनों में गम्भीरता कम है, प्रत्युत अनेक स्थलों पर सीधे-साधे शब्दों में ही हृदय तक पहुँचने की शक्ति है, फलतः इन काव्यों में सूक्तियाँ भी बिखरी पड़ी हैं। इन पंक्तियों में या तो भारतीयता की स्थायी छाप मिलेगी, या व्यावहारिक नीति—

---

१ बढ़ बाल जो दीह, घरिय सो बढ़ स सुन्दरि।
   और बढ़ै इक मास पाख बन्ढ़ रस-मुंदरि॥ (१२६०)

२ स देसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहण न जाइ।
   जो कालंगुलि मूदडउ, सो बाहडी समाइ।

३ तुम पूछत कहि मुद्रिके मौन होति यहि नाम।
   कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम। (रामचन्द्रिका)

४ डावां=वाम, मूदडउ=अँगूठी, जीवणी बाँह=सीधा हाथ।

(१) भावी गति आगम विगति, को मेटन समरथ्थ।
राम, युधिष्ठिर और नल, तिन मैं परी अवथ्थ॥ (पृ० रा० १६८५)
(२) दव का दाधा कुपली मेल्ही।
'जीभ का दाधा नु पाँगुरई ॥[2] (बी० रा० ३७)

पृथ्वीराज रासो के ६६वें 'समय' में हम्मीर से जो बातें की गई हैं उनमें अलंकारों का चमत्कार तो है ही नहीं, 'इन बेरां हम्मीर' वाक्य की बार-बार आवृत्ति भी है, फिर भी उसकी गम्भीरता अस्वीकार्य नहीं—कितनी आगे-पीछे की सोचकर कवि ने ये पंक्तियाँ कही हैं, बार-बार दुहराना इसी बात पर जोर देता है कि समय फिर नहीं आवेगा एक बार भली भाँति सोचकर अपने कर्तव्य का निश्चय कर लो—

इन बेरां हम्मीर, नही औगुन वचीजै।
इन बेरां हम्मीर, छत्रि ध्रम्मह संचीजै॥
इन बेरां कै सिंध, वर विपर जेम उँभारै।
इन बेरां हम्मीर, सूर क्यों स्यार सभारै॥ (२२२२)

पृथ्वीराज रासो

वीरकाव्यों में सबसे पहिले हमारा ध्यान 'पृथ्वीराज-रासो' की ओर जाता है जो सबसे प्राचीन तो नहीं परन्तु सबसे उत्कृष्ट रचना है। इस ग्रंथ में ऊपर कही हुई दोनों ही प्रवृत्तियों का भली भाँति विकास हुआ है, और संस्कृत-परम्परा से प्राप्त सामग्री अन्य ग्रंथों की अपेक्षा यहाँ परिमाण में भी अधिक है तथा मूल्य में भी। वस्तुतः यह ग्रंथ एक महोदधि है[3] जिसकी भिन्न-भिन्न प्रकार की तरंगें भिन्न-भिन्न रुचिवाले पाठकों को तन्मय कर सकती हैं। पृथ्वीराज रासो में सबसे स्पष्ट दीखनेवाले अलंकार सादृश्यमूलक हैं, विरोधमूलक उक्तिमूलक अथवा शृंखलामूलक अलंकारों का अभाव है, जनसाधारण का रंजन सादृश्य से ही अधिक होता है दूसरे चमत्कार बुद्धिसाध्य हैं।

सादृश्यमूलक अलंकारों में भी भरमार 'उपमा' की है। परन्तु 'उपमा' शब्द को देखकर ही उपमा अलंकार न समझ लेना चाहिए, व्यवहार की भाषा में 'उपमा' शब्द का अर्थ "सादृश्य" मात्र लिया जाता है। 'उपमा कालिदासस्य' कहनेवाले विद्वानों ने भी

---

१. अग्नि से जले हुए वृक्ष पर फिर से नई कोंपलें आ जाती हैं, परन्तु वचनदग्ध (जीभ का जला हुआ) फिर नहीं पनपता।

२. तुलना कीजिए—
तीयिनाल चुट्टपुन उल्लारुम आरादे।
नाविनाल चुट्ट वडु॥ (तिरुक्कुराल)
(अग्नि से जला हुआ घाव समय पाकर भर जाता है, परन्तु वाणी का घाव सदा ही पीड़ा देता रहता है।)

३. (क) इह ग्रंथ उदधि लहरीत रंग। बाचंत सुनंत उपजे सुरंग॥ (२५०५)
(ख) काबि-समंद कविचन्दकृत मुगति-समप्पन ग्यान।
राजनीति-बोहिय, सुफल—पारउतारण—यान॥

'उपमा' शब्द का प्रयोग एक व्यापक—सादृश्य प्रधान चमत्कार—अर्थ में ही किया है, आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास ने 'उपमा एक अभूत'[1] कहकर सम्भावना को भी उपमा शब्द से व्यक्त किया है। यही बात पृथ्वीराज रासो में दिखलाई पड़ती है, चन्दकवि ने उत्प्रेक्षा (वस्तूत्प्रेक्षा) को ही अधिक अपनाया है, परन्तु उस सादृश्य को 'उपमा' नाम दिया है।[2]

गोस्वामी जी ने जहाँ उपमा के नाम से 'उत्प्रेक्षा' का व्यवहार किया है वहाँ अप्रस्तुत कल्पना में भी कल्पित हुआ करता है—अर्थात् उस अप्रस्तुत का अस्तित्व कहीं भी नहीं होता और न कहीं हो सकता है। गीतावली के ऊपर वाले उदाहरण में प्रस्तुत विषय है आभूषणों से युक्त राम के शरीर पर पीताम्बर, और अप्रस्तुत है बिजली का नील गगन के तारों को ढक लेना बादलों से रहित नील गगन में तारे अवश्य चमकते हैं परन्तु बिजली वहाँ नहीं पहुँच सकती क्योंकि बादलों के बिना बिजली का अस्तित्व असम्भव है, कवि ने यह असम्भव कल्पना प्रमादवश नहीं की प्रत्युत जान-बूझकर की है जैसे कि "तजि स्वभाव" से स्पष्ट हो जाता है। चन्दकवि ऐसी असंभव कल्पना का प्रेमी नहीं क्योंकि वह इसी लोक का व्यक्ति था और इसी लोक के चित्र खींचकर प्रभावित किया करता था। यौवन का विकास कुच, नितंब, कटि आदि कुछ विशेष अंगों में पहिले लक्षित हुआ करता है और ज्यों ज्यों यौवन का विकास होता है त्यों-त्यों वे ही भी बढ़ती जाती है, सयोगिता की वेणी बढ़कर के उसके उभरे हुए नितंबों पर पड़ी हुई है कवि ने इस सौन्दर्य के लिए बड़ी सुन्दर सम्भावना की है।[3] वह कहता है कि नायिका का शैशव चला गया और यौवन आगया इसलिए इस नवीन अधिकारी (जिसका निवास नितम्ब-तट है) ने उस सुन्दरी की लगाम अपने हाथ में ले ली है—अब उस सुन्दरी पर यौवन का ही शासन होगा। अन्यत्र युद्ध-स्थल में बलवान योद्धाओं के कवच कटकर गिर पड़े और अंगों से गाढ़ा रक्त भरपूर बह निकला, कवि ने इस सौन्दर्य के लिए यह सम्भावना की है कि मानो रंगरेज के घर माठ फूट जाने के कारण गहरा लाल रंग नालियों में होकर अकस्मात बह निकला हो। रक्त की लालामी, अधिकता तथा गाढ़ापन तीनों की कितनी सफल व्यञ्जना है—

> कधी घट्ट ज्यों फुट्टि सन्नाह सारी।
> तिनकी उपम्मा कवीचद धारी।

१ उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत ओढ़ाए,।
नील गगन पर उडुगन निरखत, तजि सुभाउ मनो तड़ित छपाए॥
(गीतावली, बालकाण्ड २३)

२ उप्पमा चद जप सु अच्छ। (१०२२)
सो ओपम कविचद। (१०२३)
दिषि सेन तिन उपमा सु करी। (१०३७)
सो कवि इह उप्पम कही। (१२६५)

३ लग्गे नितंब बेनिउ बढ़ि, सो कवि इह उप्पम कही।
ससव पयान क करलही, कामय बग्गी कर गही॥ (१२६६)

मनो रंगरेजं ग्रहे रंग रारी।
जलं जावकं सोभ पन्नार पारी। (१३६६)

चंद की संभावनाओं में एक दूसरी भी मौलिकता है। वह अप्रस्तुत-योजना ऐसी दैनिक जीवन की सामग्री से करता है जिसमें एक कुतूहल होता है, कभी इसका आधार क्रिया-साम्य होता है और कभी वर्ण-साम्य; प्रायः साम्य का आधार शास्त्रीय पंडित के लिए कोई आकर्षण नहीं रखता, फिर भी पाठक को बड़ा प्रभावित करता है। क्रिया-साम्य के निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

गहे दंत दंती उखारंत सूरं। मनों भील कद्दं गिरं कंद मूरं॥
वहे खग्ग धारं धरंगे निनारं। मनो चक्क विड कुलालं उतारं॥
ग्रहे अंत गिद्धी चढ़ें गेन मग्गं। मनो डोरि टुट्टी रमैवाय चंगं॥ (१३७६)

ये सभी संभावनाएँ बार-बार भी दिखलाई पड़ती हैं, कुम्भकार तथा उसके चक्र वाली कल्पना तो दूसरे रासो काव्यों ने भी खूब[1] अपनायी है। वर्ण-साम्य (आकार या आकृति का साम्य नहीं) के आधार पर यह संभावना देखने योग्य है—

निसि घट्टिय, फट्टिय तिमिर, दिसि रत्ती धवलाइ।
सैसव में जुव्वन कछू, तुच्छ तुच्छ दरसाइ॥ (१०४१)

इस प्रकार की 'उपमाओं' का एक फल यह हुआ कि आगे चलकर तुलसी जैसे कवि भी "सेवत लषन सीया रघुवीरहिं। ज्यों अविवेकी पुरुष सरीरहिं॥" लिखने लग गये। बात यह है कि उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों में जो संभावना होती है वह वस्तुगत होती है वाक्यगत नहीं; जहाँ दो वाक्यों को रखा जाता है वहाँ चमत्कार दोनों वाक्यों की क्रियाओं में होता है उनसे संबंधित व्यक्तियों या वस्तुओं में नहीं, इसी हेतु उपमा अलंकार का लक्षण बतलाते हुए एक वाक्य[2] का होना आवश्यक माना गया है, जहाँ साम्य भिन्न वाक्यों में दिखलाया जाता है वहाँ उपमा न होकर दूसरा अलंकार होगा, यदि उत्प्रेक्षा के लक्षण में भी एक वाक्य का होना आवश्यक ठहराया जाय तो कुछ कठिनाइयों से छुटकारा मिल सकता है। युद्ध-स्थल में अश्वों की चंचलता का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

---

१. कुछ अन्य परिचित अप्रस्तुतों को देखिए—

(क) गहि पाइ भुम्मि पटक्कं जु फेरि।
धोबी कि वस्त्र सिल पिट्ट सेर॥
(पैर पकड़कर शत्रु को भूमि पर इस प्रकार पटक देते हैं जिस प्रकार धोबी वस्त्र को पकड़कर पत्थर पर दे मारता है)

(ख) लगै गुर्ज सीसं दुग्रं हथ्थ जोरं।
दधी भाजनं जानि हरिग्वाल फोरं॥
(दोनों हाथों से शत्रु के सिर को इस प्रकार फोड़ देते हैं जैसे कृष्ण दधि लूटते हुए मटकी फोड़ डालते थे।)

२. साम्यं वाच्य मवैधर्म्यं वाक्यैक्य मुपमा द्वयोः। (साहित्यदर्पण)

घन अश्व फरै चल अश्ववाह। तिन की उपम्मा कवीचंद गाह॥
ग्रह पत्ति आग रहै ज्यों कुलट्ट। चित्त वत्ति चल्ल आग स्वामि घट्ट॥ (१०४२)

अश्वारोही के नियन्त्रण रखने पर भी चंचल अश्व चलायमान हो जाता है जिस प्रकार कि घर में पति के सम्मुख रहने पर भी कुलटा स्त्री का चित्त चंचल बनकर पर पुरुष में पहुँच जाता है। यहाँ साम्य का आधार है चल क्रिया (अश्वपक्ष में भी तथा चित्त वत्ति पक्ष में भी) रूप सामग्री में साम्य नहीं है—अश्व तथा कुलटा एवं अश्वारोही तथा कमजोर पति में समानता दिखलाना कवि को अभीष्ट नहीं जान पड़ता।[1]

हमारे कवि का मौलिक सादृश्य तो मनोहर है ही कवि परंपरा का सादृश्य भी परम रमणीय है शृंगार की कामन सामग्री में उसने अप्रस्तुत की योजना बड़ी स्वाभाविक बना दी है। कामिनी को कनकयष्टि कहा जाता है और वेणी को सर्पिणी बतलाना भी कवियों का प्रिय रहा है परन्तु केशपाश को खोलकर खड़ी हुई सुन्दरी के चित्र में चन्दकवि ने इन दोनों संभावनाओं को मिलाकर एक रमणीय रूप पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है—

बाला बंनी छोरि करि छुट्टे चिहुर सुभाय।
कनक खंभ ते ऊतरी उरग-सुता दरसाय॥ (२५वाँ समय)

यहाँ ऊतरी तथा उरग-सुता पर भी ध्यान देना होगा। उतरने का अभिप्राय यह है कि नागिनी का फण नीचे को है फण में जिह्वा आदि के कारण विस्तार होता है और चोटी में भी नीचे की ओर कुछ चीजें गूँथ ली जाती हैं साथ ही यह भी व्यञ्जना है कि नायिका अभी बाला है इसलिए उसकी वेणी अभी और भी बढ़ेगी (सर्पिणी पूरी नहीं उतर पाई है) सर्पिणी न कहकर उरग-सुता कहने से इसी भाव की व्यञ्जना होती है। अन्यत्र वय संधि का वर्णन करते हुए एवं नायिका को 'घरियार'

---

1 रासो ग्रंथों में वीर और शृंगार की सामग्री परस्पर में प्रस्तुत और अप्रस्तुत भाव से आई है कारण यह कि रासोकाव्यकार शृंगार विवर्जित वीर या वीर-वर्जित शृंगार को अपूर्ण समझता था। वीर आदि रसों में अप्रस्तुत रूप से प्रयुज्यमान कुलटा मुग्धा कुलवधू आदि की क्रियाएं बड़ी मनोहर लगती हैं—

(क) यों आतुर रत्त खग्ग मग्ग।
ज्यों कुलटान छैल मन लग्ग॥
(वे तलवार से आतुर होकर इस प्रकार अनुरक्त हैं जैसे छैला का मन कुलटाओं में लगता है।)

(ख) सार सार मच्ची कहर दोउ दलनि सिर संधि।
प्रौढ़ा नायक-छयल रमि प्रात न चह संधि॥
(दोनों दलों में घमासान युद्ध हो रहा है वे संधि नहीं चाहते जिस प्रकार कि प्रौढ़ा नायिका और छैल नायक रमण में प्रलिप्त होकर प्रातःकाल की इच्छा नहीं करते।)

बना दिया है[१], जिसके नेत्र स्नेह-वारि से उसी प्रकार डूबते (तथा रिक्त होते) रहते हैं जिस प्रकार कि घड़ियाल की घड़ी।

यह दुहराना आवश्यक-सा जान पड़ता है कि चंदकवि का सादृश्य पर असाधारण अधिकार है, उसका क्षेत्र बड़ा व्यापक था और युग की प्रवृत्ति का ध्यान रखते हुए उसने अपने अप्रस्तुत व्यापक जीवन से लिए हैं। युद्ध-स्थल की समानता कहीं यज्ञ-स्थल से है कहीं पावस[२] ऋतु से, और कहीं रत्नाकर से[३], तो कभी सेना को पारधि[४] बतलाया है और कभी सर्प[५]। इस प्रकार के सभी वर्णनों में "उपम्मा" शब्द का संयोग है, तथा "मनो" वाचक शब्द बनकर आया है। पावस को अप्रस्तुत तो इतने स्थलों पर बनाया गया है कि उनकी गिनती नहीं हो सकती[६], उस परम्परा के दूसरे काव्यों में भी ऐसी प्रवृत्ति है[७], जिससे जान पड़ता है कि वीरों में पावस को अप्रस्तुत बनाने की एक सामान्य प्रथा रही होगी। यह तो निश्चय है कि ये लम्बे-लम्बे सादृश्यप्राण वर्णन युद्ध-स्थल, सेना, युद्ध आदि वीर रस के स्थलों पर ही हैं, परन्तु इन वर्णनों में अलंकार कौनसा माना जावेगा ? कवि ने प्रायः "उपम्मा" शब्द का प्रयोग किया है, "मनो" तथा "जनु" से उत्प्रेक्षा जान पड़ेगी, परन्तु प्रस्तुत-अप्रस्तुत में अंग-प्रत्यंगों की यथा-नियम समानता देखकर साग रूपक की-सी गंध आने लगी है। व्यवहार में जिस प्रकार प्रत्येक सादृश्य (उपमा हो या उत्प्रेक्षा) 'उपमा' ही कहलाता है, उसी प्रकार प्रस्तुत-अप्रस्तुत में अंग-प्रत्यंगों की समानता दिखलाते हुए सादृश्य कथन "रूपक बाँधना" कहलाता है, वाचक शब्दों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता; इस हेतु इन स्थलों पर हम भी "रूपक बन्ध" नाम को अधिक उपयुक्त समझते हैं, सांगोपांगता रूपक का ही विशेष गुण है इस बात पर ध्यान देना चाहिए। लोक-साहित्य में रूपक का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, यह बात भक्तिकाव्य के अध्ययन से भी प्रत्यक्ष हो जाती है।

चंदकवि को सांगरूपकों से भी प्रेम था, उसके यहाँ वीरकाव्य की परम्परा के अनुसार प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में से एक शृंगार रस का होता है और दूसरा वीर रस का। कवि युद्ध का वर्णन करते हुए रति का ध्यान दिला देता है और रति का वर्णन करते हुए युद्ध का (दोनों उत्साह के व्यंजक हैं)—

लाज गढ्ढ लोयंत, वहिय रद सन ढक रज्जं।
अधर मधुर दपतिय लूटि अब ईव परज्जं।
अरस प्ररस भर अंक, खेत-परजंक पलक्किय।
भूषन टूटि कवच्च, रहै अध बीच लटक्किय।

---

१. बर संसव अच्छर नहीं, जोवन जल बर मैंन।
बाल घरी घरियार ज्यों, नेह नीर बुड़ि नैंन॥ (१०८४)

२. पृ० १०६२। ३. पृ० १०७३।

४. पृ० १००१। ५. पृ० १००१।

६. पृ १००१, १०३३, १०६२ आदि।

७ परमाल रासो पृ० ४१५; वेलि क्रिसन रुकमणी री पृ० ११७।

नीसान थान नूपुर बजिय, हाक हास करपत चिकुर।
रति वाह समर सुनि इछिनिय, कोर चहुत वलिय गहुर। (१६७६)

इस उदाहरण में 'खत-परजक', 'भूषा-कवच', 'नीसान-नूपुर', तथा 'हाक-हास' आदि अंगों में प्रस्तुत अप्रस्तुत की भावना देखकर 'रति-समर' में साग रूपक की भ्रमक आने लगती है। परन्तु कवि का ध्यान क्रिया-साम्य पर अधिक है—रासो ग्रन्थ वस्तु तथा गुण की अपेक्षा नाद एवं क्रिया को अधिक पहिचानते थे। रति में लज्जा का लोप हो जाता है युद्ध में भी कुछ वस्तुएँ लुप्त हो जाती हैं (कौनसी वस्तुएँ? इसमें कोई मत लब नहीं), रति में अधररस की लूट हुई, युद्ध में भी लूट होती है (किसकी? इसकी आवश्यकता नहीं), 'लोप होना' तथा 'लूट होना' ही साम्य का आधार है। रति में नायक नायिका को अक में भरकर पयक पर पटक देता है युद्ध में भी एक योधा दूसरे योधा को धर पटकता है, यही पटकना किया साम्य का आधार है, अन्यत्र भी साम्य क्रियाओं पर आश्रित है।

ऊपर हमारा ध्यान वीरकाव्यों की ध्वन्यर्थ व्यञ्जना की ओर गया था पृथ्वीराज रासो में इसकी भरमार है, साथ ही ध्वनि मात्र का भी बड़ा आग्रह है, प्राय अनुस्वारों का प्रयोग तथा वर्णों का द्वित्व इसके साधन हैं जहाँ ध्वन्यर्थ की व्यञ्जना न हो वहाँ भी ध्वनि एक अपेक्षित वातावरण के निर्माण में बड़ी सहायक होती है। अन्य वीरकाव्यों की भाँति पृथ्वीराज रासो में अत्युक्तियाँ भी असख्य हैं परन्तु इसकी अत्युक्तियों की एक विशेषता यह है कि वे व्यञ्जनाप्रधान हैं—उनके अभिधेय अर्थ में तो कोरी कल्पना ही मिलेगी परन्तु अभिप्रेय अर्थ बड़ा मार्मिक है। सयोगिता के रूप का वर्णन करते हुए तोता बतलाता है कि उसका शरीर इतना सुन्दर है कि हाथ से छूने ही मैला हो जाने की आशंका होती है—

सुनि इछिनि वर जोइ।
कर छुवत मैला होइ॥

पिछली पंक्ति कहावत के रूप में अभी तक जनसाधारण में प्रचलित है जिसके द्वारा केवल रमणी की ही नहीं वस्तुओं की आभा का भी वर्णन किया जाता है। चदकवि ने एक स्थल पर बतलाया है कि जब दम्पति आपस में बातें करते हैं तब पति के मुख की भाप पत्नी के दर्पण जैसे आनन पर जाकर जम जाती है, इस वर्णन में रमणी के आनन की चमक तथा शीतलता दोनों की व्यञ्जना होती है साथ ही नायक के श्वास में गर्मी उसके यौवन तथा बल की द्योतक है—

मुख कहत कत सु बत्त। तिय बदन धूम सरत्त॥
सुनि कहत ओपम ताइ। मुख सम दप्पन भाइ॥ (१६८१)

चदवरदाई कल्पना का भी बड़ा धनी था। इसमें सन्देह नहीं कि इसके आकाश-पाताल के कुलावे नहीं मिलाये परन्तु पुरानी बात को नवीन प्रकार से कहकर रमणीय बनाने की जो कला विद्यापति की कुंजी है, वह चदकवि में पाई जाती है। नायिका के स्तन-युग्म को ऐरावत के समान तथा उस पर बने नखचिह्नों का अंकुश के अक कहना पुरानी परिपाटी है चन्द ने इसको एक नया रूप दे दिया है। नन्दनकानन

को छिन्न-भिन्न कर देने वाला इन्द्र का मदोन्मत्त हाथी ऐरावत भयभीत हो गया और उसकी हृदयरूपी रसनदी में छिपकर विहार करने लगा, स्तन-युग्म उस हृद-नद से बाहर निकला हुआ कुम्भस्थल है जिस पर मदजल की श्यामता दिखाई पड़ रही है, परन्तु भाग्य में कुछ और ही लिखा था रति के समय (इन्द्र के अवतार) पृथ्वीराज ने अपने नखांकुश से उस कुम्भस्थल को विदीर्ण कर दिया—

ऐरापति भय मानि, इंद्र गज धाग प्रहारं।
उर संजोगि रस-नद्दि, रह्यौ दबि करत विहारं।
कुच्च उच्च जनु प्रगटि, उकसि कुम्भस्थल श्राइय।
तिहि ऊपर स्यामता, दान सोभा सरसाइय॥
विधिना निमंत मिट्टत कवन, कीर कहत सुनि इंछनिय।
मनमथ्य समय प्रथिराज कर, करजकोस अंकुस वनिय॥ (१६८०)

परमाल रासो

वीरकाव्य लिखने वालों का नेता चंदवरदाई था, जो कुछ उसने अपने रासो में लिखा प्रायः उसी का अनुकरण दूसरे कवियों ने किया, और जितना उसने लिखा उतना दूसरे न लिख पाये। इसलिये जो प्रवृत्तियाँ सामान्यतः सभी वीरकाव्यों में पाई जाती हैं उनके अतिरिक्त यदि कुछ विशेषताएँ मिलती हैं तो केवल पृथ्वीराज रासो में ही। परमाल रासो के विषय में भी यही नियम ज्यों का त्यों लागू होता है। इसमें वर्णनों की उसी परम्परा का निर्वाह है, अत्युक्ति का बोलवाला है, नाम तथा संख्या का आग्रह है, चित्र खींचने की ओर झुकाव है, नाद का आदर है तथा क्रिया का सम्मान है। सादृश्य से प्रेम तथा शास्त्रीय चमत्कार का अभाव मिलेगा। वीर आदि रसों में जनप्रिय सामग्री इस काव्य में भी दिखलाई पड़ती है। सेल[1] के लगने से छाती फटने तथा रक्त बहने का वर्णन करते हुए कवि ने यह सम्भावना की है कि मानो जावक[2] के माठ के टूटने पर नालियों में होकर जावक बह निकला हो, इस प्रकार की कल्पना हम ऊपर भी देख चुके हैं परन्तु केवल लाल रंग न कहकर 'जावक' कहने से एक व्यन्जना वैधव्य की भी होती है, क्योंकि जावक के पात्र का फूट जाना सौभाग्यवती नारी के लिए अपशकुन माना जाता है—किसी योधा की छाती में सेल का लगना भी तो किसी सौभाग्यवती के अलक्तक पात्र का टूट जाना है। क्रिया-साम्य देखकर तलवार से शिर काटना तथा कुलाल[3] चक्र से मिट्टी का वर्तन उतारना, इन दोनों की तुलना पृथ्वीराज रासो के समान यहाँ भी है। साथ ही तेग से तरबूज के समान सिर को काटकर पृथ्वी पर गिरा देना[4], या फरसा से सिर की उस तरह से फाँकें करना जिस प्रकार कि तरबूज की करते हैं[5], इस काव्य की अपनी सूझें हैं; गदा आदि से सिरों को फोड़ देना

१. शल (सं०) बरछी।
२. अलक्तक (सं०) महावर, जिससे सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपने पैर रँगती हैं।
३. बहे तेग सीसं सु सूरं न हारैं। मनो मृत्त पिंडं कुलालं उतारैं॥ (४४३)
४. बहे तेग कंधं करै सीस न्यारे। परै टुट्ट तरबूज धरनी पसारे॥ (४५)
५. बहैं सीस फरसा सिरं फाक होई। मनौं कहियें फार तरबूज सोई॥ (४४३)

तथा कृष्ण का दही की मटकी फोड़कर लीला करना[1], इन दोनों की समानता भी अद्भुत लगती है परन्तु इसमें बाबा के मन का उल्लास और विनोद भली भाँति व्यक्त होता है—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उस युग में मरना-मारना सबसे प्रिय तथा सबसे प्रतिष्ठित मनोविनोद था।

जायसी के वर्णनों में एक चमत्कार यह बतलाना है कि सिंह वन में जाकर क्यों रहने लगा[2] या भिड़ पीली क्यों होती है[3] या तोते की चोंच लाल क्या है[4], चन्दबरदाई ने भी इस रुचि का संकेत किया है[5] परन्तु परमाल रासो में इस प्रकार की संभावनाएँ अधिक चमत्कारपूर्ण हैं। शृंगार के प्रसंग में कवि ने यह बतलाया है कि सिंह वन में जाकर क्या रहता है और हस्तिनी की सूँड सिकुड़ी हुई क्यों होती है—

कटि की यह सोभ निहार दय। लजि कठि रह बनराज गय॥
सुभ ऊरव जघ सु सोभमय। लजि सुंडिनि सुंड सकोर लय॥ (२७४)

ध्वन्यर्थ-व्यञ्जना के समान ही नाद-सौन्दर्य का एक नया रूप परमालरासो में मिलता है जिसका अनुकरण कबीर के कुछ पदों में तथा जायसी के 'अखरावट' में भी है[6] और यह मानना पड़ता है कि यह एक लोक प्रचलित प्रवृत्ति का ही प्रभाव है जिसका निर्वाह आगे भी लोक-कवि करते रहे क्योंकि जायसी आदि ने इस प्रणाली को जनता से ही लिया होगा किसी काव्य से नहीं। इस प्रणाली के अनुसार अकारादि क्रम से वर्णमाला के सभी वर्णों को किसी एक निश्चित वर्ण के संयोग में यथाक्रम रखकर एक निरर्थक ध्वनि-जाल तैयार हो जाता है[7] परमाल रासो में युद्ध-स्थल में ककार तक इसका सुन्दर रूप दिखलाई पड़ता है—

कह-कह सुबीर कहत। खहखह सु सभु हसत॥
गह गह सुगौरिय गत। घह घह सु घुमड़ि तरग॥
टह-टह सु धन्निय मोर। ठह-ठह सुलन मुख सोर॥
डह डह सु डौरव बज्जि। ढह-ढह सु सिव वष सज्जि॥ (८१)

साधारण दृष्टिपात से तो ऐसा ज्ञान पड़ता है कि कवि ने प्रत्येक वर्ण के साथ

---

१ कहै अग सीस सु अप्पार मार। किधौं काहू फोरत दधि ग्वाल सार॥ (४४३)
२ सिंघ न जीता लक सरि, हारि लीन्ह बनवासु॥ (जायसी ग्रंथावली ४७)
३ परिहँस पियर भए तेहि बसा। (जा० ग्रंथावली ४७)
४ ओहि रक्त लिखि दीन्हीं पाती। सुआ जो लीन्ह चोंच भइ राती॥ (जा० ग्रं० ९६)
५ देखत ग्रीव सुरग। तब भयो काम अनग॥
उप्पनौ देखि सु हस। जौ लियौ बन कौ बास॥
सुनि कोकिला कलराव। भयो बरन स्याम सुभाव॥ (पृ० रा० १९८२)
६ जायसी ने अपने सिद्धांत ग्रंथ 'अखरावट' में दोहे तथा सोरठे के बाद प्रथम चौपाई नवीन वर्ण से प्रारम्भ की है, जैसे 'का-करतार चहिय अस कीन्हा' (क) 'खा-खेलार जस है दुइ करा' (ख), 'गा-गोरहु अब सुनहु गियानी' (ग)।
७ इस प्रणाली को 'ककहरा' कहते हैं।

'ह' जोड़कर उस पद की आवृत्ति कर दी है, और 'कह-कह' आदि शब्द बना लिए हैं। वस्तुतः सभी पद निरर्थक नहीं हैं; जिस प्रकार "खह-खह" किसी के हास्य से चिढ़ने में आता है[1], "घह-घह" जल के घुमड़ने का[2] तथा "डह-डह" डमरू की ध्वनि का नाम है। यह एक दूसरा ही प्रश्न है कि काव्य में इस प्रकार की ध्वनि-योजना सौन्दर्य-वर्द्धक है या नहीं, परन्तु परमालरासो की यह एक विशेषता है, इसमें सन्देह नहीं। वीर काव्य का प्राण नाद तथा अत्युक्ति था, संभव है ककहरा-प्रणाली का भी उस समय इसीलिए स्वागत होता हो।[3]

पृथ्वीराज रासो में 'रूपक-बन्ध' के सौन्दर्य पर हम विचार कर चुके हैं, परमाल रासो में भी उस प्रकार के कुछ निदर्शन हैं, परन्तु उनमें न तो 'उपम्मा' है और न 'मानो', हाँ शृंगार तथा वीर का प्रस्तुत-अप्रस्तुत समानान्तर वर्णन उसी प्रकार चलता है। एक ओर 'सूर' हैं, और दूसरी ओर 'परी' (अप्सरा); दोनों की तैयारियाँ एक-दूसरे की समानान्तर (समानं) है, मानो उनमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो—

इतै टोप टंकार सिरकस उतंगं। उतै अप्छरी कंचुकी कस्सि अंगं॥
इतै सूर मोजा बनावंत भाए। उतै अपसरा नूपुरं पहिर पाए॥
इतै सूरमा पाग पै झिलम डारैं। उतै भुंड रम्भं सु माँगे समारैं॥
कही कवि चंदं निरख्खी सु सोऊ। बरन्नै समानं परी सूर दोऊ॥(३४७)

इस प्रवृत्ति का उद्गम भी हमको अपभ्रंश के काव्यों में मिलता है, महापुराण में इस प्रकार के कई वर्णन हैं, १५वीं सन्धि में सेना तथा नदी का ऐसा ही समानान्तर वर्णन 'सरि छज्जइ' तथा 'बलु छज्जइ' पदों की बार-बार आवृत्ति से किया गया है, ३७वीं सन्धि में सन्यासी तथा पर्वत का समानान्तर वर्णन 'गिरि सोहइ' तथा 'जिण सोहइ' पदावली में भी देखने योग्य है। महापुराण में सबसे रमणीय समानान्तर वर्णन गंगा तथा कान्ता का है, मन्मथवाहिनी अपनी गृहिणी का जो रूप था वही रूप जनसुख-दायिनी मंदाकिनी में राजा ने देखा—

जोयवि गंगहि सारसहं जुयलु। जोयइ कंतहि थणकलस जुयलु॥
जोयवि गंगहि सुललिय तरंग। जोयइ कंतहि तिवली तरंग॥
जोयवि गंगहि आवत्तभवण। जोयइ कंतहि वरणाहि रमण॥

---

१. जब हमको किसी की हँसी बुरी लगती है तो हम चिढ़कर उससे कहते हैं कि क्यों "खह-खह" करता है।

२. देवकवि ने बादलों के घुमड़ने के लिए 'घहर' ध्वनि का प्रयोग किया है—

छहर-छहर भीनी बूँदें है परति मानो
घहर-घहर घटा घिरी है गगन में॥

३ आगे चलकर सूदन कवि ने तो केवल निरर्थक ध्वनियों के प्रयोग द्वारा ही आतंक का प्रभावपूर्ण चित्र खींचा है :—

घड़धद्धरं, घड़धद्धरं। भड़भब्भरं, भड़भब्भरं।
तड़-तत्तरं, तड़-तत्तरं। कड़-क्क्करं, कड़ क्क्करं॥

जोयवि गयहिं पप्फुल कमलु। जोयइ करहिं पिउ वयण कमलु॥
जोयवि गयहिं मोत्तियहु पत्ति। जोयइ करहिं पिय दसण पत्ति॥
लिय गहिलि वम्महवाहिलि, देवि मुलोयण जेही।
मदाइलि जणमुहराइलि, दीसइ राए तेही॥[1]

अपभ्रंश काव्यों की रचि तथा रासो काव्यों की रचि में एक प्रकार अवश्य स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। रासो काव्यों में यह निश्चित था कि प्रस्तुत अप्रस्तुत में से एक वर्णन वीर रस का होगा दूसरा शृंगार का, परन्तु अपभ्रंश काव्यों में यह आवश्यक नहीं है प्रायः एक वर्णन शान्त रस का होता है और दूसरा शृंगार या वीर का। कारण स्पष्ट है कि अपभ्रंश काव्यों में धर्म को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। जो व्यञ्जना वीरकाव्यों में आ गई वह अपभ्रंश काव्यों में न आ सकी। वीरकाव्यों में ऐसे स्थलों पर यह व्यञ्जना रहती थी कि जिस प्रकार युद्ध भूमि में लड़कर प्राण देनेवाले योधा स्वर्ग सुख के भोग (जिसमें अप्सराओं के साथ विलास मुख्य है) को उत्सुक रहा करते थे उसी प्रकार स्वर्ग की अप्सराएँ भी ऐसे स्वनामधन्य वीरों को आलिंगन पाने की प्रतीक्षा करती रहती थीं और एक की तैयारी में दूसरे की तैयारी स्पष्ट झलकती थी। हम्मीर रासो के एक वर्णन से यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है—

मिलन सुवीर शृंगार। हुहु हरष हिए अपार॥
वर वीर हरखेउ अंग। उत अच्छरी सु उमंग॥
तहाँ कौच वीर नवीन। रचि बाल बसन प्रवीन॥
× × ×
इहि भाँति सुर सन्धान। उतकंठ मिलन तिवास॥ (१४८)

आगे चलकर कवियों ने इस प्रवृत्ति को न अपनाया परन्तु जायसी ने एक स्थल पर ऐसा ही झुकाव दिखाया है जिसमें वीरकाव्यों की अभीष्ट व्यंजना अपना यथार्थ रूप न दिखलाकर कोरे 'सिंगार-जूझ'[2] में उलझी रह गई है।

वीसलदेव रासो

नरपति नाल्ह ने वीरकाव्य के युग में राजा वीसलदेव की कथा 'वीसलदेव रासो' नाम से लिखी जिसमें वीर रस की अपेक्षा शृंगार रस का महत्त्व अधिक है तथा जो प्रबन्धकाव्य न होकर गीतकाव्य बना हुआ है। गीतकाव्य में तन्मयता पर ही अधिक जोर दिया जाता है, काव्य सौष्ठव पर कम, इसलिए इसमें आलंकारिक सौन्दर्य का संयोग कम ही हो पाता है। गीतकाव्य की सफलता मार्मिक उक्तियों में है, वीसलदेव रासो की भी अनेक पंक्तियाँ मन को मोहने वाली हैं—

(क) कितमक लीख्या सो भोगवी
बिण भोग्या नहीं छूटसी पाप। (३१)

---

१ दे० 'अपभ्रंश साहित्य', पृ० ६१।
२ गोरा बादल-युद्ध यात्रा-खंड (जायसी-ग्रन्थावली, २८३४)।

(ख) चंद क्युं कुडइ ढांकारणउ जाई ?
रतन छिपायों क्युं रहई ? (४२)
(ग) कान सिड़ा, पग दुर रहा
मुहड़ा आडों दीजो हाथ ॥[1] (५३)
(घ) जाई जोवन, धन मसलै हाथ । जोवन नवि गिणइ दीह ने राति ॥[2]
जोवन राख्यो नु रहई । जोवन प्रिय विण होसीय छार ॥ (४३)

इनमें से अधिकतर सूक्तियाँ उक्तिमूलक अलंकारों का काम देती हैं, जिस प्रकार विशेष से सामान्य का समर्थन करनेवाली यह उक्ति—

सो यो भलो दमयन्ती नारि
नल राजा मेल्हे गयो
पुरुषि समों नहीं निगुण संसार । (६४)

नरपति नाल्ह की उक्तियों के सौन्दर्य में किसी को सन्देह नहीं हो सकता, जिस प्रकार राजा की चिर-प्रतीक्षा करती हुई रानी का यह कथन कि तू केवल एक बार लौटकर घर आजा मैं तेरे पथ को अपने केशों से झाड़कर सुखद बना दूँगी—

एक सारां घरि · आवज्यो
वाट बुहारूं सीर का केस ॥ (७५)

वीसलदेव रासो में न तो सादृश्यमूलक अलंकारों का आग्रह है, न "रूपक-बंध" या "उपम्मा" का, और न समानान्तर सादृश्य का ही कोई उदाहरण मिलेगा, यहाँ साम्यवाचक शब्द "सो" (जैसी), "ज्यूँ", तथा "ईम" पाये जाते हैं। जिन साम्यों के लिए "ज्यूँ" वाचक शब्द का प्रयोग हुआ है उनमें आलंकारिक चमत्कार तो नहीं है परन्तु जनसाधारण में कहावत बनी हुई उक्तियाँ साम्य के भीतर मार्मिकता लिये हुए हैं—

(क) आँसूं ढाल्या मोर ज्यूं (५०)
(ख) खेत कमाती जाट ज्यूं (७६)
(ग) जोवन राख्यो चोर ज्यूं (८४)

यह प्रसिद्ध है कि मोर अपने सुन्दर पंखों को देखकर हर्ष से फूला नहीं समाता,

---

१. कान सबके पास रखो, पैर दूर रखो (छिपाओ), और अपने मुँह पर हाथ रखो; अर्थात् सबकी बात सुन लो, परन्तु किसी के कथनानुसार काम मत करने लग जाओ और अपने मन की बात किसी से मत कहो।

२. तुलना कीजिए—
ऊजड़ खेड़ा भँवरजी फेर बसे जी
हां जी ढोला निरधन के धन होय।
जोवन गयें पछे क ना बावड़े जी
ओ जी थानें लिखूं बारम्बार।
जल्दी घर आओ जी,
क थारी धण एकली जी ॥ (मारवाड़ी गीत)

परन्तु जैसे ही उसका अपना कुरूप परों का ध्यान आता है, उसके मन में गहरी व्यथा जग जाती है नाचना बन्द हो जाता है और आँखों में से टप-टप आँसू गिरने लगते हैं, ठीक इसी प्रकार जब किसी हर्षमग्न मत व्यक्ति को अपने दोष या अपनी किसी अपरिहार्य दुर्बलता का ध्यान आ जाता है तो उसके नेत्रों से परवश अश्रुजल बहने लगता है, सर्वसम्पन्ना रानी को जब अपने पति की निष्ठुरता चुभने लगी तो उसकी भी यही दशा हुई।

"ईम" कावड़ शब्द का प्रयोग नरपति ने सादृश्य के लिए किया है, जिस प्रकार दावाग्नि से झुलसी हुई लोमड़ी उसी प्रकार प्रिय के वियोग में रानी झुलसकर दुर्बल होती गई यहाँ साम्य का आधार केवल दुर्बलता है, रानी को लोमड़ी के समान[1] समझने से वचन में गंभीरता न रहेगी—

जाँण दव दाधी लोंवड़ी,
दूबली हुई भूरइ ईम माह। (७५)

डा० रामकुमार वर्मा का ध्यान नरपति के इस अद्भुत सादृश्य की ओर[2] गया है उसने अंगुली को मूंगफली के समान बतलाया है, यह कवि की अपनी सूझ है जिसमें जनता का ऋण स्वीकार करना पड़ता है आज भी तीन गाँठवाली लम्बी मूंगफली (जो दो गाँठवाली छोटी मूंगफली से भिन्न जाति की होती है) की चर्चा करते हुए अपनी अँगुली को दिखाकर यह बतलाया जाता है कि वह मूंगफली ऐसी है, हमारे कवि ने अंगुली को प्रस्तुत विषय देखकर मूंगफली को अप्रस्तुत बना लिया है—

मूंगफली-सी आँगुली।[3] (६६)

बीसलदेव रासो में अत्युक्ति रूपक तथा उपमा अलंकार तो मिलते हैं परन्तु वस्तूत्प्रेक्षा, जो उस युग की कुंजी थी, यहाँ दिखलाई नहीं पड़ती, यह एक आश्चर्य की बात है। वस्तुतः हमारा कवि उक्तियों से ही अधिक प्रेम करता है, दूसरी सामग्री से कम। सास ने बहू से कहा कि हे बहू, तू घर में चली आ, कहीं चन्द्र के धोखे में राहु तुमको (तेरे मुख को) निगल न जाय—

सासू कहइ—"बहू घर मौहि आव।
चंद कहू भोलइ तोहि गीलसइ राह॥ (७२)

इस उक्ति में जो व्यञ्जना है वह कोरे अलंकारों के भाग्य में कहाँ थी?

बीसलदेव रासो का एक प्रयोग अवश्य ध्यान आकृष्ट करता है उदास रानी का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—'बादल छायो है चन्द्रमा', यहाँ 'मुख' के लिए चन्द्रमा' का प्रयोग *काव्यशास्त्र के रूपकातिशयोक्ति* अलंकार है, परन्तु 'उदासी' के लिए

---

१ रानी को लोमड़ी बनाने में प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवि अवश्य अपना समर्थन पा सकते हैं।

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १५१।

३ उसमान ने 'चित्रावली' में यह अप्रस्तुत कोमलता के लिए रखा है—
विद्रुम-बेलि सो अँगुरी दीसी। वह कठोर यह मूंगफली सी॥ (पृ० ७५)

'बादल छा जाना' क्या कहा जायगा, यह एक विवादास्पद विषय है, जिस पर जायसी के प्रसंग में विचार करेंगे।

राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ काव्य-परम्परा में भी परिवर्तन आता गया और वीरकाव्य का वह जनसाहित्य भी धीरे-धीरे पंडितों के हाथ में चला गया, यहाँ तक कि आगे चलकर वीरकाव्य लिखनेवाले भूषण, लाल तथा सूदन भी रासोकाव्य की स्वाभाविक मनोहरता को छोड़कर रीतिकालीन चमक-दमक में फँस गये। जिन कवियों का राजपूताने के जीवन तथा साहित्य से अधिक सम्पर्क रहा उन्होंने पुराने काव्य को पढ़कर उसकी प्रवृत्तियों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया, परन्तु वह स्वाभाविक प्रवाह न आ सका, 'हम्मीर रासो' का नाम भी पुरानी परम्परा का है तथा प्रयत्न भी, परन्तु जो कमी पीछे के वीरकाव्य में दिखलाई पड़ती है वह यहाँ भी है; 'अबला', तथा 'बेगम' शब्द पर खिलवाड़ हमारे अभिप्राय को स्पष्ट कर देगी—

(क) कवि लाजन अबला कहत, सबला जोध कहंत।[1]
दुबला तन में प्रगट जिहिं, मोहत सन्त असन्त॥ (पृ० ३२)

(ख) बेगम जाति जु तीय की, इन मरिबें मन दीन॥[2] (पृ० ५४)

यदि रासोकाव्यों की तुलना में भूषण आदि के काव्यों को रखकर अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि दोनों में आश्रयदाताओं की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा की गई है, फिर भी दोनों एक ही जाति के नहीं हैं; रासो काव्य का जनता के जीवन से इतना घनिष्ठ मेल है कि उसको दरबारी कहना उचित नहीं जान पड़ता, परन्तु पिछले वीर-काव्य राजसभा में बैठनेवाले कुछ विशेषज्ञों के ही मनोविनोद के साधन हैं, जिसका मुख्य प्रमाण उनमें रासोकाव्य के स्वाभाविक सौन्दर्य का अभाव है।

---

१. अन्य कवि (अथवा लाजन कवि) उसको अ-बला कहते हैं, परन्तु जोध कवि उसको स-बला मानते हैं, क्योंकि यह प्रगट है कि वह सन्त तथा असन्त सभी को मोहित कर दुर्बल बना देती है।

२. स्त्री को बे-गम (जिसको कोई गम = शोक न हो) कहा जाता है, इसीलिए वह मरने (मारने = दूसरों का प्राण हरने) की ठान लेती है।

३

सूफी काव्य

पृष्ठभूमि

मुसलमानों के आक्रमण[1] वीरगाथा-काल में ही आरम्भ हो गये थे परन्तु उस समय के अपने छोटे राज्य के भीतर रहनेवाली जनता में राष्ट्रीय भावना भरने के कारण बने। मुसलमानों की युद्ध-नीति राजपूतों के आदर्शों से भिन्न थी, उसमें पराजय का भय लड़ते-लड़ते प्राण त्याग न था और न मित्रता का भय रहा परस्पर प्रेम भाव ही था फलस्वरूप बार-बार पराजित होकर अपने प्राण बचा लेने वाले आक्रमणकारी अन्त में विजयी बन बैठे, और एक के उपरान्त दूसरा तथा दूसरे के उपरान्त तीसरा राज्य उनके हाथ में जाने लगा। राजपूतों में अब भी आदर्शवाद चल रहा था, वे जिसको मित्र कह दें उसके साथ विश्वासघात कैसे करें और जो गुणों में नीचा है उसके पास जाकर उसको यह कैसे समझावें कि उसको विदेशियों की सहायता न करनी चाहिए। तीन सौ वर्ष के संघर्ष ने हिन्दू-समाज को खोखला कर दिया, विजय उसका ध्येय था परन्तु विदेशियों की कपट-नीति[2] के कारण वह भी स्वप्न बनकर रह गया, सारे उत्तर भारत में विदेशी शासन या कम-से-कम विदेशी आतंक छाने लगा। राजपूतों ने उत्तर भारत को छोड़कर राजस्थान में शरण ली, परन्तु उनको ईश्वर का प्रतिनिधि तथा अपना पिता समझनेवाली प्रजा को तो उसी उत्तर भारत की म्लेच्छाक्रान्त भूमि पर रहना था। प्रजा ने अपने मन को समझाया कि ईश्वर की महिमा अपार है वह किसी को धनी और किसी को भिखारी[3] बनाता है, यदि वह राजा को भिखारी और रंक को राजा बना दे तो उसका हाथ कौन पकड़ सकता है[4]। अतः पितृ-तुल्य शासकों का मोह छोड़कर अब जनता ने विदेशियों को ईश्वर द्वारा नियुक्त अपना शासक मान लिया।

शासन का परिवर्तन तो इतना न खला केवल भाग्यवाद में अकर्मण्यता का रंग

---

१ सब हिंदू जनपदन महं होन लगे उतपात। (परमाल रासो ५५२)
वेद विप्र नहिं पढ़य, सुरभि भारत मद गति। (वही, ५५३)

२ शहाबुद्दीन ने ततारखां तथा खुरासान खां से कहा था—
मन सोइ जिन भेद, भेद बिन सती न कोई।
भेद घाघ बल सोइ, भेद देख सब कोई॥ (पृथ्वीराज रासो)

३ कोहेसि कोइ भिखारि, कोई धनी। (जा० ग्र० २)

४ (क) राजहि करसि भिखारि तौ, कौन गहे तुम्र हाथ। (चित्रा० २३२)
(ख) छत्रहि अछत, निछत्रहि छावा। दूसर नाहिं जो सरवरि पावा॥
(जा० ग्र०, ३)

घोल गया[1] परन्तु सामाजिक परिवर्तन असह्य हो गये। हिन्दुओं के ही सामने उनके मन्दिर तोड़े गये, उनके शास्त्र जला दिये गये, उनकी महिलाओं का अपमान हुआ, और द्विजों को म्लेच्छों की दासता करनी पड़ी। हिन्दुओं की सामाजिक भावनाओं को प्रतिहिंसापूर्वक जीर्ण-शीर्ण कर डाला गया। फल उलटा ही हुआ, इस वीर जाति ने आक्रमणकारियों को यह दिखा दिया कि किसी भी जीवित जाति को तहस-नहस नहीं किया जा सकता। दूरदर्शी विधर्मी इस बात को समझे कि समाज का अभिजात वर्ग मुसलमान नहीं बन सकता और बलपूर्वक तो निम्न वर्ग को भी निगल जाना सम्भव नहीं[2]। अस्तु कुछ समझदार मुसलमान प्रचारक की सच्ची भावना से देश के उस भीतरी अपरिचित भाग में घुस गये[3] जहाँ अभी तक मुसलमानों का नाम न था, और प्रेम की कहानियों[4] तथा जादू-टोने के चमत्कारों से भोली-भाली जनता को अपना अनुयायी बनाने लगे। साहित्य में इनको 'सूफी कवि' अथवा 'प्रेममार्गी' कवि कहा जाता है।

सूफी कवि

विद्वानों ने 'सूफी' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं परन्तु यह मानने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए कि जिस प्रकार भारत का 'सन्त' शब्द एक आचरण विशेष का द्योतक है उसी प्रकार मुसलमान समाज में 'सूफी' शब्द से प्रेम तथा त्याग का संकेत मिलता है; सम्भव है जिस प्रकार भारतीय सन्त के साथ गैरिक वस्त्र लग गया है उसी प्रकार सूफी के साथ पीछे के विद्वानों ने बकरी या भेड़ के ऊन को बाँध दिया हो। अलबरूनी ने सूफी शब्द के अन्य अर्थों को असंगत मानते हुए उसका आदि प्रयोग 'ज्ञानी' (पैलासोपा [ग्रीक] = ज्ञानानुरागी) अथवा 'सन्त' के अर्थ में ही स्वीकार किया है[5]। सूफियों के सिद्धान्तों में दो बातें मुख्य हैं—प्रथम, अपनी कामनाओं को

---

१. (क) मानुष साज लाख मन साधा। होइ सोइ जो विधि उपराजा॥ (११९)
(ख) कंतो धाइ मरे कोइ बाटा। सोइ पाव जो लिखा लिलाटा॥
(जा० ग्रन्थावली, २६९)

२. दीज़ पीपल विल हार्डली यील्ड टु फ़ोर्स और परसुएशन, ओनली ए सिम्पैथेटिक इंटरकोर्स माइट इनक्लाइन देम टु इस्लाम। (डा० हबीबुल्लाह द्वारा "फवदुल फ़वायद" से उद्धृत, पृ० ३०२)

३. ओन दि बिहेस्ट ऑफ दि मुरशिद ही ट्रैविल्ड टु डिस्टेंट कंट्रीज़ एंड सैटिल्ड डाउन विद ए ट्रू मिशनरी ज़ील अमंग अनफ़ैमिलियर एंड ईविन होस्टाइल पीपल। (दि फाउंडेशन ऑफ़ मुसलिम रूल इन इंडिया, पृ० २८२)

४. सुरुज चाँद के कथा जो कहेऊ। पेम क कहनि लाइ चित गहेऊ॥ (जा० ग्र०, ३३)

५. अलबरूनीज़ इंडिया, सपादक डा० एडवर्ड सी० साचू, भाग I।
दिस इज़ ऑल्सो दि थ्योरी ऑफ दि सूफीज़, दैट इज़, दि सेजेज़, फ़ोर सुफ़ मीन्स इन ग्रीक विज़्डम। दिअरफ़ोर ए फिलोसोफ़र इज़ कौल्ड पैलासोपा, दैट इज़ लविंग

पूर्णतः ईश्वराधीन कर देना[1], द्वितीय गुरु की अन्धभक्ति[2]। वे ईश्वरीय आज्ञा की अपेक्षा ईश्वरीय अनुग्रह तथा परलोक-सुधार को अधिक महत्त्व देते हैं, पाप तथा उसके दण्ड का इनको औरों की अपेक्षा अधिक ध्यान रहता है, एवं धर्म के बाहरी रूप का इनके यहाँ कोई मूल्य नहीं। सूफियों को अपने मत के प्रचार की धुन तो रहती है परन्तु किसी दूसरे मत से द्वेष नहीं होता, यही कारण था कि भारतीय जनता को सूफियों में कुछ अपनापन दिखलाई पड़ा और जब वे उसके जीवन में घुलने मिलने लगे तो जनता ने भी उनको अपना समझकर उनका स्वागत किया।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारतीय समाज में चिरकाल से दो वर्ग रहते आये हैं[3]—एक अभिजात वर्ग जिसमें उस समय कम व्यक्ति थे परन्तु जो अपने बुद्धि विकास के कारण समाज का नेता था, दूसरा पतित वर्ग जिसका मानसिक स्तर अपेक्षाकृत बहुत नीचा था। जितने सामाजिक या धार्मिक आन्दोलन हुए हैं सबको इसी पिछले वर्ग में स्थान मिला है। जब मुसलमान उत्तरी भारत में छा गये तो उनको दाल भी इसी वर्ग में गली। उस समय यह वर्ग बौद्धधर्म के विकृतावशेष शैव-शाक्त-मत मिश्रित नाथ मत तथा तान्त्रिक-मत को मानने लगा था, उत्तरी भारत की अपेक्षा पूर्वी भारत में इसका अधिक जोर था। इसमें सिद्धि और चमत्कार, शाप और शकुन, मन्त्र और तन्त्र, ग्रह और नक्षत्र, जोगिनी तथा दिशाशूल आदि की बड़ी मान्यता थी। अध्यात्म सन्त इन बातों को हेय समझते थे परन्तु सूफियों ने इनमें विश्वास दिखलाया इसलिए मूढ़ जनता उनकी ओर खिंच सकी। सिद्धि तथा चमत्कार की ये बातें जातक-कथाओं में भी[4] पाई जाती हैं, मुसलमान सूफियों में से अधिकतर लोग परंपरा में कभी न कभी

विज़डम। व्हेन इन इस्लाम परसन्स एडोप्टेड समथिंग लाइक दि डोक्ट्रिन्स ऑफ दीज़ फिलोसोफ़र्स, दे ऑल्सो एडोप्टेड देयर नेम, बट सम पोपुलरली डिड नोट अंडरस्टैंड दि मीनिंग ऑफ दि वर्ड एण्ड इरोनियसली कम्बाइन्ड इट विद दि अरेबिक वर्ड सुफ़्फ़, एज़ इफ़ दि सूफ़ी वर आइडेन्टीकल विद दि सो-कौल्ड अहल-अस्सुफ़्फ़ा अमंग दि कम्पेनियन्स ऑफ मुहम्मद। इन दि लेटर टाइम्स दि वर्ड वाज़ करप्टेड बाई मिस-स्पेलिंग, सो दैट फाइनली इट वाज़ टेकिन फ़ोर ए डेरिवेशन फ्रोम सुफ़ दैट इज़, दि वूल ऑफ गोट्स। (पृ० ३३ ३४)

१ दि चीफ़ करेक्टरिस्टिक ऑफ देयर बिलीफ वाज़ दि सबमिशन ऑफ ह्यूमन विल टु गौड। (इनफ्लूएंस ऑफ इस्लाम ओन इंडियन कल्चर पृ० ६६)

२ मुहम्मद टोट सरेंडर टु गौड (इस्लाम), सूफ़ीज़्म सरेंडर टु दि टीचर हू इज़ दि रिप्रेज़ेंटेटिव ऑफ गौड अपौन अर्थ। (वही पृ० ८१ २)

३ इनफ्लूएंस ऑफ इ० ओन इ० कल्चर (भूमिका पृ० II)

४ वर्तमान समयेर न्याय तखनउ लोके दुःस्वप्न ओ दुर्निमित्त देखिया भये कम्पित, एवं भूतबलि पिशाचबलि प्रभृति दिया शान्ति-स्वस्त्ययन करित, तखन लोके अर्थद्वारा अपरेर पुण्यांश क्रय करित। (श्री ईशानचन्द्र घोष जातक (प्रथम खंड) उपक्रमणिका)

बौद्ध रह चुके थे[1] इसलिए भी उनका इन अवैदिक काण्डों के प्रति श्रद्धा रखना स्वाभाविक था। राजनीतिक तथा सामाजिक अत्याचारों से संतप्त मूढ़ समाज जब किसी चमत्कारी सिद्ध के आगमन का 'सुसमाचार' सुन पाता था तो थोड़ी देर के लिए उसको अपनी कामनाएँ फलती हुई दीखने लगती थीं, इसीलिए ऐसे सिद्धों के चारो ओर दुखियों की भीड़ लग जाती थी, 'चित्रावली' में इस दृश्य का एक सुंदर चित्र है—

सागर गाँव सिद्ध एक आवा। मुख देखत मन इच्छ पुरावा॥
कुष्टी कया, बाँझ सुत पावे। अंधहि चखु दै जग देखरावै॥
कहै चाह परदेसी केरी। बिछुरेहि आनि मिलावै फेरी॥ (पृ० १७७)

सूफी कवियों ने भारतीय भाषाओं में जो रचना की है उसमें हिन्दू तथा मुसलमान मतों का अद्भुत मिश्रण कर दिया है। हिन्दी के सूफी कवि प्रायः प्रेम की कहानियाँ ही लिखा करते थे और यदि किसी की कहानी चल गई तो वह सिद्धान्त-ग्रंथ बनाने लगता था, यही कारण है कि सामान्य सूफी को सिद्धान्त-ग्रथ लिखने का अवसर न मिला, वामांग से एक कान तथा एक आँख खोकर दक्षिणमार्गी होने की घोषणा करने वाले[2] तथा अपनी परंपरा में नक्षत्रों के बीच शुक्र के समान चमकने वाले[3] मलिक मुहम्मद ही "अखरावट" और "आखिरी कलाम" लिखने का साहस कर सके। बंगाल के कवि सैयद आलाओल की प्रथम रचना "पद्मावती" जायसी के काव्य का ही अनुवाद है, कदाचित् उन्होंने तदनन्तर मुसलिम चरितकाव्य ("दारा सिकन्दरनामा", "नबीवंश" तथा "मुहम्मद-चरित")लिखे, और अंत में "तोहफा" तथा "ज्ञानप्रदीप" लिखकर अपने मत के सिद्धान्तों (मुसलमान धर्मेर अनुष्ठान ओ कृत्य आदि[4]) का विवेचन किया है। जिस प्रकार जायसी ने "पद्मावत" में अप्रस्तुतों को हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के इतिहास से लिया है[5], और उसमान ने तीर्थ-पर्यटन करते हुए मक्का, मदीना, तथा काशी सबका नाम दे दिया है[6], उसी प्रकार सैयद आलाओल के "नबीवंश" में १२ अवतारों के मध्य ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं श्रीकृष्ण को भी स्थान मिल गया है। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते-करते ये सूफी कवि हिन्दुओं की भी बातें चलाकर यह दिखलाना चाहते थे कि हम में और तुम में कोई भेद नहीं है, और हम तुम्हारी बातें भी जानते हैं तुम हमारी नहीं जानते, इसलिए हम स्वयमागत गुरुओं की

---

१. इट इज वैल नोन दि सूफ़ीज अमंगस्ट मोहमेडन्स, हू बीकेम कन्वर्ट्स फ्रोम बुद्धिज्म हैव रिटेन्ड दि फिलोसोफी आफ दिअर ओरिजिनल क्रीड वेनीअर्ड विद फेथ इन ए पर्सनल गौड एन्जौइड बाइ इस्लाम। (२६)
(बंग साहित्य परिचय, भाग १)

२. मुहम्मद बाईं दिसि तजा, एक स्रवन, एक आँखि। (जा० ग्र०, १६२)

३. जग सूझा एकै नयनाहाँ। उआ सूक जस नखतन्ह माँहा॥ (जा० ग्र०, ८)

४. बांगला साहित्येर कथा, पृ०६६।

५. जैसे—'हातिम करम तियागी अहे'। (जा० ग्र०, ७)

६. चित्रावली, पृ० १५६ तथा १६१।

बातें मानकर हमारे शिष्य बन जायो[1]। अधिकतर सूफी अपने को पंडित[2] कहते थे, और अपने को जाति का ब्राह्मण[3] बतलाने का प्रयत्न करते थे, इनकी यों कथित सफलता के दो कारण हैं—प्रथम, इनका नियम था कि मन के भीतर चाहे कुछ हो बाहर से जैसा सब लोग आदर की दृष्टि से देखते हैं वैसा ही आचरण करना चाहिए[4], द्वितीय वे यह जानते थे कि कवि की वाणी आग भी बरसा सकती है तथा पानी भी[5], जिसकी वाणी पानी बरसाकर पाठक या श्रोता के मन को शीतल करेगी वह उस कवि को सदा याद रखेगा और दूसरे से भी उसकी प्रशंसा करेगा[6]।

इस भाँति अपने व्यवहार की व्यवस्था करके सूफी लोग समाज के उस वर्ग में जा बसे जो या तो राजनीतिक परिवर्तनों की कहानियों को दूर से सुन लिया करता था या जिसके पुराने घाव अब भरने लगे थे। राजपूती वीरता की कथाएँ आज भी कभी-कभी छिड़ जाती थीं परन्तु केवल मनोरंजन के लिए या समय काटने भर के लिए नवयुवकों में वीरता के स्थान पर शृंगार की भावना का अधिक स्वागत था और जिन्होंने राजपूतों के विलास तथा उनकी वीरता की गाथाएँ सुनी थीं वे वयोवृद्ध जीवन में असारता का अनुभव करने लगे थे[7], जब इतने बड़े-बड़े योद्धा तथा शासक मिट्टी में मिल गये तो हमारे जैसे तुच्छ व्यक्तियों के जीवन का क्या भरोसा[8]—अन्त में सबकी कहानी ही रह जाती है[9]। जिस प्रकार रात्रि बिताने के लिए बालक कहानी कहना तथा सुनना चाहते हैं उसी प्रकार विदेशी शासन की उस 'स्याम रैन'[10] में प्रजा (अभागी सन्तान के समान जनता) वृद्ध, वृद्ध तथा गुणी लोगों से प्रेम की कहानी सुन

---

१ अपने जोग लागि अस खेला। गुरु भएउ आपु, कीन्ह तुम्ह चेला ॥
अहक मोर पुरुषारथ देखेहु। गुरु चीन्हि कै जोग बिसेखेहु॥ (जा० ग्र०, १४६)

२ हौं बाम्हन औ पंडित, कहु आपन गुन सोइ। (जा० ग्र०, ३१)

३ हम तुम जाति बराम्हन दोऊ। (जा० ग्र० ३१)

४ परगट लोकाचार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासौं राता ॥ (जा० ग्र०, ६३)

५ कवि क जीभ खड्ग हरद्वानी। एक दिसि आगि, दूसर दिसि पानी ॥
(जा० ग्र०, २०१)

६ जो रे सुना ते हिरद राखी। औ पति धाउ आन सों भाखी ॥ (चित्रा०, २३३)

७ जनम अकारथ जगत भा गई अमिरथा आउ। (चित्रा०, ११६)
गयो अकारथ यह जनम, वद न जनमती माइ। (वही, ११४)

८ तुम्ह ऐसी जो रहै न पाई। पुनि हम काह जो आहि पराई ॥ (जा० ग्र० १६०)

९ कोइ न रहा जग रही कहानी। (जा० ग्र०, ३०१)

१० इह कलि स्याम रैनि जनु आई। सोई पुरुष जे जागि बिहाई ॥
जागत हू पुनि आह बिचारा। बहुत भाँति जाग ससारा ॥
× × ×
जागहि पंडित पढ़त हरि-बानी। जागहि बालक कह कहानी ॥ (चित्रा० १४)

कर मुग्ध हो उठी। इस कथा में शृंगार, वीर तथा वैराग्य तीनों का पुट था[1], जिससे तरुणों को शृंगार में मजा आता था, प्रौढ़ों को वीरता की झलक मिलती थी, और बालकों की सामान्य उत्सुकता तृप्त होती थी; अन्त में जब सूफी कवि इस कथा का 'किछु और'[2] अर्थ करता था तो नष्टवीर्य वृद्धजन उसके पांडित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे—

बालक सुनत कानरस पावा। तरुनन्ह के तन काम बढ़ावा॥
बिरिध सुनै मन होइ गियाना। (चित्रा०, १४)

इस कथा की मुख्य विशेषता थी प्रेम का प्रचार और बीच-बीच में नीति के वचन—कहीं दान की प्रशंसा, कहीं सत्य का महत्त्व, कहीं संसार की असारता, और कहीं विधि की प्रबलता।

कथा की परम्परा

भारत के प्राचीनतम वाङ्‌मय में कथात्मक साहित्य आख्यान तथा दृष्टान्त के रूप में मिलता है, इसमें श्रद्धालु जिज्ञासु अपनी किसी शंका का समाधान पाकर संतुष्ट हो जाता था, उद्देश्य होता था किसी आदर्श की स्थापना और पात्र होते थे मनुष्य से अधिक समर्थ एवं विकसित, अतः अलौकिकता का पुट भी रह सकता था। परन्तु साथ ही एक लौकिक परम्परा भी चल रही होगी जिसका पता उस समय चलता है जब इस परम्परा को लौकिक (अवैदिक) सम्प्रदायों का आश्रय मिल गया। धर्म-शिक्षा ब्राह्मण-परम्परा में तो वेदों के पठन-पाठन श्रवण-प्रवचन आदि के द्वारा सम्पन्न होती थी, परन्तु श्रवण-परम्परा ने लोक-साहित्य को धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया, बहुत सम्भव है इस नवीनता का एक मुख्य कारण यह भी हो कि अवैदिक सम्प्रदायों ने लोक-भाषा को ही लोक-हित (बहुजनहिताय) के लिए अपनाया था। अस्तु, महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं के बहाने पशु तथा पक्षियों को भी कथा का पात्र बनाया जाने लगा क्योंकि बोधिसत्त्व की अवस्था में तथागत स्वयं अनेक मनुष्येतर योनियों में रहते आये थे, जब पात्र मनुष्य से नीचे थे तो वैदिक आदर्शवाद के स्थान पर जीवन का यथार्थ एवं लघुतापूर्ण चित्र इन कहानियों में स्वतएव आ गया। जातक कथाएँ लोक-कथाएँ थीं जिनसे कोई भी सम्प्रदाय लाभ उठा सकता था[3], इनका देश में तो प्रचार हुआ ही यूनान तथा अरब में जाकर ये और भी चमकीं और वहाँ के साहित्य को इन्होंने बड़ा प्रभावित किया, यहाँ तक कि उन देशों के अभिजात साहित्य में भी इनको स्थान मिल गया। भारत में ऐसा न हो पाया, कभी-कभी इन लोक-कथाओं का अधिक प्रचार देख-कर किसी पंडित ने इनमें से कुछ का संस्कृत में रूपान्तर कर दिया, और किसी कवि ने इसी प्रकार की लोक-कथाएँ संस्कृत भाषा में लिख दीं; परन्तु जहाँ अभिजात साहित्य के सहस्रों ग्रन्थ मिलते हैं वहाँ लोक-साहित्य की कुछ गिनी-चुनी पुस्तकें ही संस्कृत भाषा

१. तीनौं विद्या महँ निपुन, जोग, बीर, सिंगार। (चित्रा० १८१)
२. मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा। (जा० ग्रं० ३०१)
३. प्राचीन भारत की कहानियाँ, भूमिका, पृ १४।

म पाई जाती है। इस लोकरंजनकारी साहित्य के प्रति इतना उदासीनता शिष्ट समुदाय म क्यों रही है इसका उत्तर भी आसानी से मिल जाता है—पाठक के मन को मुग्ध बनाकर उच्च (अन्य) आदर्शों के बोध न रहने देना। ज्यों-ज्यों शिष्ट समाज इनसे उदासीन होता गया त्यों-त्यों इन लोक कथाओं का स्तर भी गिरता गया क्योंकि इनका निर्माण तथा संरक्षण उसी पतित समाज के हाथ में आ चुका था आज भी इस प्रकार का साहित्य सामान्य में 'बाजारू साहित्य' कहलाता है। जैन कवि बनारसी दास ने अपनी आत्म कथा 'अर्द्ध कथा' में अपनी इश्कबाजी वाली जीवनचर्या (युवक) का पश्चात्तापपूर्ण उल्लेख करते हुए इसी प्रकार के [मिथ्या ग्रन्थों'[1] का निरन्तर पाठ करना अपने दैनिक कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग बतलाया है।[2] लगभग इसी समय गोस्वामी तुलसीदास ने वाणी के इस दुरुपयोग को बुरी तरह फटकारा था—

कीन्हें प्राकृत जन-गुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

आधुनिक युग म भी किस्सा तोता-मैना 'छबीली भटियारी' आदि का श्रद्धालु पाठक अच्छा नवयुवक नहीं माना जाता। अनुमान से जान पड़ता है कि जनता को प्रकमण्य बनाने में इस प्रकार का लोक-साहित्य सदा सहायक रहा है।

प्रान्तिक भाषाओं म से जिनका सम्बन्ध अवैदिक मतों से अधिक रहा है उनका प्रारम्भिक साहित्य इसी जाति का शुद्धीकृत रूप है। बँगला साहित्य के आदियुग में मंगलकाव्यों के लिए जिन कथाओं की कल्पना की गई वे सभी समाज की लोक-कथाएँ हैं ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के स्थान पर सौदागर तथा शूद्रों को नायक-पद मिल गया है[3] और ये लोग राजकन्याओं के वर बना दिये गये हैं 'चण्डीमंगल' का नायक काल केतु व्याध जाति का है मनुष्य पशु का शरीर बदल लेता है और पशु मनुष्य का मानव के भीतर पशु का चित्र खींचने के लिए अश्लीलता के भद्दे तथा नग्न चित्र सजाये गये हैं[4]। अनुमान से जान पड़ता है कि भद्र समाज के विरोध में इस प्रकार का साहित्य जान बूझकर फैलाया गया था क्योंकि इसी प्रकार ब्राह्मण धर्म ब्राह्मण समाज तथा ब्राह्मण विचारधारा की निन्दा की जा सकती थी। जातकों में नायक प्राय राजा तथा ब्राह्मण मिलते हैं परन्तु क्षत्री प्राय अहंकारी एवं ब्राह्मण प्राय मूर्ख पेटू तथा लोभी बनाये गये हैं। मंगलकाव्यों में देवी-देवताओं की पूजा न करनेवाले मनुष्यों को दण्डस्वरूप कष्ट दिलवाकर अन्त में पन्थी भक्ति का अनुयायी दिखाया गया है। जायसी के काव्य म सिंहलद्वीप का युद्ध श्रमण तथा वैदिक संस्कृतियों का युद्ध है कुलाभिमानी गन्धर्वसेन अपनी फूल सी सुकुमारी पुत्री किसी भी अवैदिक जाति को नहीं देना चाहता

---

१ असे कुकवि बनारसि भये। मिथ्या ग्रंथ बनाये नये॥ (अर्द्धकथा प० १४)
२ तब घर में बैठे रहें नाहिन हाट-बजार।
मधुमालती मृगावती पोथी दोय उचार॥ (अर्द्धकथा पृ० २५)
३ सरल बाँगला साहित्य पृ० ६१।
४ वही प० ६८।

परन्तु अन्त में झक मारकर उसको ऐसा करना पड़ा है, रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खंड (दोहा १० से १३ तक) में पंडित और रत्नसेन का शास्त्रार्थ इसी बात का है कि वेद बड़ा है या नाद और जायसी के प्रतिनिधि रत्नसेन ने नाद को वेद से बढ़कर सिद्ध किया है, जिससे यह स्पष्ट है कि जायसी की परम्परा दक्षिण मार्ग का नाम लेने पर भी मधुर शब्दों से वेद की जड़ खोदने में लगी हुई थी।

महात्मा बुद्ध के निर्वाण-लाभ से लगभग २५० वर्ष तक बौद्ध धर्म भारतीय अभिजात समाज में भी आदर प्राप्त करता रहा और अशोक के पुत्र महेन्द्र ने जम्बुद्वीप के समीपवर्ती खंडों में इसका प्रचार करने के लिए सिंहल को अपना गढ़ बना लिया; अस्तु थेरा[1] तिष्य द्वारा नियोजित संगीति भारत में बौद्धधर्म की अन्तिम (तीसरी) धर्म-समिति थी, तदनन्तर केन्द्र सिंहल पहुँच गया और शेष दो संगीतियाँ वहीं हुईं। भारतीय बौद्ध अब लंका को ही धर्मपीठ समझने लगे थे[2], धार्मिक दृष्टिकोण के कारण सिंहलद्वीप के विषय में उनकी कल्पना बड़ी अद्भुत थी। वे इसे धर्म तथा सुख का केन्द्र स्वर्ग ही समझते थे[3]। कालान्तर में उत्तरी-पश्चिमी भारत का अनभिजात समाज भी बौद्ध धर्म को भूल गया परन्तु लंका, दक्षिण देश तथा पूर्वदेश (बंगाल, आसाम, बिहार, उड़ीसा, ब्रह्मदेश) के प्रति उसकी चमत्काराश्रित श्रद्धा बनी रही। उसका विश्वास था कि धर्म की सच्ची परीक्षा तो सिंहलद्वीप में ही होती है जहाँ की पद्मिनी कामिनियाँ धर्मोपासकों को अपनी कुटिल अलकों में फँसाकर एवं अपने चंचल अपांगों से वेधकर धर्म-च्युत कर देती हैं। बंगाल तथा कामरूप की मायाविनियों में मनुष्य को मेढ़ा आदि बना देने की शक्ति तो आज भी मानी जाती है। बौद्ध धर्म ने जब दूसरा रूप धारण किया तो सिद्धिकामी पुरुष को एक ऐसी योगिनी की खोज में रहना पड़ा जो प्रयत्नशील व्यक्ति के अहंकार को अपने आकर्षण के द्वारा चूर्ण करदे[4] प्रायः उत्तर-पश्चिम के सिद्धकामी महाराष्ट्र, दक्षिण देश, पूर्वदेश तथा सिंहल तक ऐसी योगिनियों की खोज में पहुँच जाते थे और किसी भी (प्रायः नीच वर्ण की) कन्या में उनको अपने काम की

---

१. सद्धम्म संग्रह, पृ० ४२-४।

२. तब थेरा रेवत ने कहा—मित्र बुद्धघोष, जम्बूद्वीप में त्रिपिटक का केवल मूल रूप ही सुरक्षित है, उस पर टीका तथा आचार्यवाद यहाँ नहीं है, परन्तु सिंहलद्वीप में महेन्द्र द्वारा सिंहली भाषा में रची हुई सिंहली टीकाएँ सुरक्षित हैं। उनको सम्हालकर और जाँचकर मगध की बोली में उनका अनुवाद कर लो।

(सद्धम्म संग्रह, पृ० ७३)

३. यू विल फाइण्ड, इन दि डिलाइटफुल आइलैण्ड आफ लंका, दि डिलाइटफुल रूल आफ दि कौंकरर। (सद्धम्म संग्रह, पृ० ४७)

४. इस प्रकार महाराष्ट्र देश में उसको अपनी योगिनी एक शल्यकार की पुत्री के रूप में मिली, जो उसकी अहंमूलक सत्ता के तत्त्व को शान्त कर सकती थी⋯तत्काल ही शल्यकार की पुत्री को मुद्रा दी।

(मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ, पृ० ८)

चीज मिल जाती थी। इन कामिनियों के मुद्रानाम पद्मावती, नागावती,[1] मन्त्रावती आदि रखे जाते थे और ऐसी कामिनी उस व्यक्ति की 'पद्मिनी' कहलाती थी[2], वह एक शक्ति थी जिसको पूर्णत: प्राप्त करके सिद्धिकामी व्यक्ति 'शिव' बन जाता था, और फिर भूत-बेताल आदि से सेवा लेकर अनेक चमत्कार कर सकता था[3]। जैन कथाओं में मदनावती, चन्द्रावती, यशोमती, शीलवती, कांतिमती, कीर्तिमती, पुण्यवती आदि नागरियों के तथा बौद्ध इतिहास में हमावती, रामावती, धन्यावती, द्वारावती आदि[4] नगरियों के नाम पाये जाते हैं, इन नगरी-नागरी नामों में वही 'मतुप्' प्रत्यय का आग्रह है जो जायसी आदि के पद्मावती, नागमती, चम्पावती, कौलावती, चित्रावती (चित्रवाली), पुष्पावती, कामवती, ज्ञानवती, इन्द्रावती, मृगावती आदि में ज्यों-का-त्यों मिलता है। जायसी तथा उसमान आदि सूफी कवियों ने दक्षिण देश की प्रशंसा की है[5] बंगाल का यश गाया है[6], तिरहुत, जगन्नाथपुरी, गोरखपुर आदि के प्रति श्रद्धा दिखलाई है। इस प्रकार ये लोक-कथाएँ पात्रों के नाम, स्थानों के महत्त्व, मत की प्रतिष्ठा आदि के लिए महायानियों के प्रति ऋणी हैं, इनमें एक बात प्राय: पाई जाती है—पश्चिम के वर को पूरब की कन्या से जोड़ी मिलना[7] और फिर ऐसे समाज का है जिसको दूसरे लोगों ने उपेक्षा कर दी थी।

बौद्धों ने साहित्य में इतनी रुचि न रखी थी जितनी कि जैनों ने और जैनों का प्रयत्न अधिक ठोस था। वे प्राचीन इतिहास को भी अपने रंग में रंग लेना चाहते थे, प्राचीन कथाओं में उन्होंने ऐसा परिवर्तन किया कि घटनाओं से जैन सिद्धान्तों की गंध आने लगी। वस्तुत: जैनों की इस प्रकार की कथाएँ अध ऐतिहासिक हैं, उनमें प्रमुख नाम तो प्राय: ऐतिहासिक ही हैं परन्तु घटनाओं में साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है[8]। रामायण की प्रसिद्ध कथा जैनों ने भी लिखी है जिसमें पात्र तो सब वे ही हैं परन्तु कथानक में बड़ा परिवर्तन है, सीता मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न रावण की पुत्री थी जिसके विषय में ज्योतिषियों ने यह बतलाया कि वह पिता के नाश का कारण बनेगी, रावण ने उससे छुटकारा पा लिया परन्तु जनक को वह हल जोतने

१ मिस्टिक टेल्स ग्राफ लामा तारानाथ, पृ० ११ तथा २३।
२ वही, प० १६—वह उसकी पद्मिनी बन गई।
३ वही, प० ३४ तथा ३७।
४ हिन्दू कालानीज इन दि फार ईस्ट, प० १६६, १६७, २०२।
५ गुन निधान दच्छिन के गुनी। (चित्रा० प० २६)
६ पूरब अपूरब देस बँगाला। (चित्रा०, प० १६१)
७ पच्छिउ कर बर पुरुबक बारी। जोरी लिखी न होइ निनारी॥ (जा० ग्र० ११६)
८ दि जैन्स डिलाइटेड इन एडोर्निंग आल विमर रिलीजियस समन्स विद दि टलिंग ग्राफ स्टोरीज रिलीजियस और सकुलर, कन्वर्टिंग दि लेटर फौर एजुकेटिंग जन डौक्ट्रिन एण्ड एकम्प्नोडेटेड दि इनहेरेंट इंडियन टडेन्सी टुवडस दि स्टोरी लिटरेचर। (प्राकृत लैंग्वेजिज एण्ड देयर कंट्रीब्यूसन टु इंडियन कल्चर)

हुए मिल गई, अन्त में मंदोदरी ने उसको पहिचान भी लिया था परन्तु रावण को अन्त समय तक न बतलाया। जैनों ने प्रसिद्ध ऋषि नारद को कलह-प्रिय[1] बनाया है जो कृष्ण के अधिकतर विवाहों में मध्यस्थ बन जाते हैं। इस प्रकार जैनों ने एक ओर तो इन अर्ध-ऐतिहासिक चरित काव्यों में इतिहास की उपेक्षा करके संस्कारजन्य भावना में परिवर्तन करना चाहा है, दूसरी ओर प्रत्येक कथा को शृंगारी रूप देकर उससे अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।[2] सूफियों ने ये दोनों बातें उनसे सीखी, वे उतनी प्रसिद्ध कथाओं को तो ले न सकते थे क्योंकि उस समय तक ब्राह्मण धर्म फिर से दृढ़ बनकर लोक को भी सारा पुराना इतिहास याद करा चुका था, इसलिए नगरों तथा व्यक्तियों के नाम इतिहास से आने लगे, और इस प्रकार वीरकाव्य की परंपरा में बैठकर सूफी के लिए अपने धर्म का प्रचार कुछ सरल बन गया। सूफियों ने हिन्दू-पुराणों के नामों तथा स्थानों को अपनी कथाओं में याद कर लिया है, परन्तु प्रायः अशुद्धियों के साथ; "गौरा-पार्वती" के साथ "हनुमंत-वीर" सदा ही दिखाई पड़ते हैं, कृष्ण तक का धनुष ही आयुध है, राहु (राहुकेतु) तथा रोहू (मत्स्यवेध वाली मछली) में जायसी ने घपला कर दिया है। ध्यान देने की बात यह है कि जैन-कथाओं में पुरुषपात्र का मुख्य स्थान था, क्योंकि वही सबको जीतकर अन्त में 'जिन' बन जाता था, परन्तु सूफियों ने बौद्धों की योगिनी के अनुकरण पर नारी-पात्र को मुख्य स्थान दिया है क्योंकि उसी योगिनी में असीम का रूप झलकता है।

इन कथाओं पर बंगाली, बौद्ध तथा जैन साहित्य का प्रभाव देखने का अभिप्राय केवल इनके सूत्रों को खोजना है। वस्तुतः उस समय तक ये कथाएँ "हिन्दुओं के ही घर की" हो चुकी थीं, और वीरकाव्य के लोक-साहित्य में भी इनकी छाप लग चुकी थी। परदेश में रत्नों की इच्छा से भारत के सौदागर प्रायः जाते रहे हैं और उनकी गृहणियाँ उनके विरह में विलाप करती लोक-भाषा के कवियों ने प्रायः देखी हैं, उनका सन्देश ले जाना पक्षियों का काम रहा है, "सन्देसरासक" में नायक व्यापार के लिए ही विदेश गया था, ढोला-मारू की प्रसिद्ध कथा में भी नायक अर्थलोभी ही है[3], "बीसल-देवरासो" में राजा रत्न-संचय के लिए परदेश गया और राजमती को नागमती के समान ही विरह में झूरना पड़ा था; प्रेम का सन्देश भी प्रायः तोता, हंस या कोई दूसरा पक्षी ले जाया करता था, "पृथ्वीराज रासो" में एक नायिका भी पद्मावती है। प्रेम की ये कथाएँ सभी देशों तथा सभी प्रदेशों के साहित्य में प्रचलित रही हैं। जिनमें एक ओर

---

१. श्री० रामसिंह तोमर : स्वयम्भू का रिट्ठणेमिचरिउ। (हिन्दी अनुशीलन, चैत्र-ज्येष्ठ, २००६)

२. न चावौ मुग्धबुद्धीनां धर्मो मनसि भासते।
कामार्थकथनात्तेन तेषामाक्षिप्यते मनः ॥४८॥ (उपमिति भवप्रपंच कथा)

३. पाँच पाना पीपल उगियो मारूजी
हो मरूजी होगयो है घेर घुमेर
मारूजी ढोला थें तो चाल्या चाकरी ॥

तो प्रेम के सम्मुख भौतिक (भय-संचय आदि) लाभों को तुच्छ बतलाया गया है, दूसरी ओर अभौतिक लाभों (ज्ञान-संचय आदि) की भी अवहेलना की गई है, समस्त विश्व प्रेम में डूबा हुआ है इसके इस रहस्य को जानकर न तो हम मिथ्या ज्ञान की उपासना करेंगे और न संसार की हाय हाय में पिसते फिरेंगे, सौराष्ट्र के उच्छृंगराय ओझा कितने मधुर शब्दों में कहते हैं—

मिथ्या छ ज्ञान अने फोगट छ फां फां
व्यथ था जीवनना विखवाद हो,
न्हाणा समजी ले साचा सत्य नें ॥
प्रेम भीनो प्राणिया प्रवासमां विचरजे
प्रेम छ समष्टिनो सवाद हो,
न्हाणा समजीले साचा सत्य नें ॥ (सेणी अने वीजानन्द)

रासो युग की कथाओं में वीर तथा शृंगार रस का मेल होता था जैना की धार्मिक कथाओं में शृंगार तथा शान्त का सूफियों ने शृंगार, वीर तथा शान्त तीनों को घोटकर मिला दिया है। रासो कथाओं में इतिहास का बड़ा महत्व था, धार्मिक कथाओं में कल्पना काफी थी सूफियों के समय तक लोक ने दोनों को एक कर दिया रासो कथाओं के नायक क्षत्री थे धार्मिक कथाओं के प्राय व्यापारी, सूफियों के नायक क्षत्री राजा हैं परन्तु उनके नाम क्षत्रियों के जैसे नहीं हैं—जायसी ने तो राजा रत्नसिंह का नाम सौदागरी बनाने के लिए 'रत्नसेन' कर दिया है। धार्मिक कथाओं में नायक आदि का धर्म अन्त में बदल दिया जाता था, रासो कथाओं में इसकी सम्भावना न थी, सूफियों ने अपने नायकों का धर्म तो नहीं बदला परन्तु उनके विचार बिलकुल बदल दिये हैं। इन सूफी काव्यों में लोक-साहित्य की परम्परा का नवीन रूप मिलता है।

विदेशी प्रभाव

मुसलमानों के संस्कारों में इन लोक-कथाओं के प्रति अवश्य कुछ आकर्षण रहा होगा अन्यथा इनका एकाधिकार केवल उन्हीं को न मिलता, अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी[१] उस समय एक प्रकार की लोक-कहानी मुसलमान सूफियों ने ही लिखी। हम ऊपर कह चुके हैं कि प्राचीन काल में ही भारत की लोक-कहानियाँ अरब आदि देशों

---

१ बंगाल में लगभग डेढ़ दर्जन मुसलमानों ने इस प्रकार की परन्तु छोटी-छोटी प्रेम कहानियाँ लिखी हैं जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—
मधुमालार किस्सा, मालती-कुसुम-माला, काञ्चनमालार किस्सा, सखी सोना, यामिनी भान, बेहुला सुन्दरी लोर चन्द्राणी, चन्द्रावलिर पुँथी।
(प्राचीन बांगला साहित्येर कथा)
पंजाब में अब्दुल हकीम ने 'यूसुफ जुलेखा', अहमद यार ने 'कामरूप कामलता', अलम्य शाह ने 'गनिपुन्नन' इमाम बख्श ने 'चन्द्रवदन' आदि कहानियाँ लिखी हैं 'हीर' का लेखक वारिसशाह तो प्रसिद्ध ही है।
(एन इन्ट्रोडक्शन टू पंजाबी लिटरेचर)

में जाकर शिष्ट समाज में स्थान पा गई थी, 'ग्रलिफ लैला' की अरबी कथाएँ संसार में प्रसिद्ध हैं, शैली की दृष्टि से सूफियों की इन भारतीय कहानियों पर भी उनका कुछ प्रभाव जान पड़ता है। मसनवियों में कथा की रूपरेखा तो एक ही निश्चित[1] बनी हुई है केवल नाम बदलकर थोड़ा हेर-फेर करने से अनेक कथाएँ बन जाती हैं, सूफी कथाओं में भी यही प्रवृत्ति ज्यों-की-त्यों मिलती है; एक कथा की दूसरी कथा से इतनी अधिक समानता है कि एक काव्य दूसरे की मौखिक नकल जान पड़ेगा, किन-किन वस्तुओं का वर्णन करना है, किस प्रवृत्ति से करना है, अप्रस्तुत की कौन सी सामग्री रखनी है— यह सब मानो पहिले से ही निश्चित था। पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो इस प्रकार कह सकते हैं कि हिन्दी के सूफी काव्यों में कथानक-रूढ़ियों (मोटिफ्स) तथा अलंकार-रूढ़ियों का छांटना अत्यन्त सरल है परन्तु उनका ठीक-ठीक उद्गम खोज निकालना सरल नहीं।

शैली की दृष्टि से अरबी कहानियों में मुख्य तीन विशेषताएँ हैं[2]—जीवन का व्यापक तथा ओजपूर्ण चित्रण, भावों की मधुरता तथा गहराई, और कथाकार की कथा में अन्वानुरक्ति जो प्रायः मर्यादाहीन बन जाती है। ये तीनों गुण सूफियों की प्रेम-कहानियों में भी मिलते हैं। जब सूफी कवि वर्णन करने बैठता है तो उसको रुकने की आवश्यकता ही नहीं, और क्योंकि ये वर्णन घरेलू हैं इसलिए इनमें पाठक को रमाने की भी पूरी सामर्थ्य है। कुंवर सुजान प्रासाद में चित्रावली का चित्र देखकर मोहित हो गया, उसको अपने तन-मन की भी सुधि न रही; जब जनता उसको देखने के लिए पहुँची तो उसकी दशा पर अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करने लगी—

> कोऊ कहै मृगी एहि आई। होइ अचेत परा मुरछाई॥
> कोउ कहै डसा साँप एहि मढ़ी। सूरज उदय लहरि है चढ़ी॥
> कोउ कहै अहा राति कर भूखा। तांवरि आइ, रुहिर तन सूखा॥
> कोउ कहै रैनि रहा एकसारा। कै दानौ, कै चुरइलि छरा॥
>
> (चित्रा०, पृ० ३७)

यद्यपि कवि इन चित्रों में कोई कमी नहीं रहने देता, फिर भी वह यह समझता है कि उससे न्याय नहीं हो सकता—अनुभव तथा वर्णन् में बड़ा अन्तर है, दृश्य का जो आनन्द अनुभव में है वह वर्णन में कहाँ सम्भव है?[3]

अरबी कवियों के समान सूफी कवियों ने मधुरता का ही विशेष ध्यान रखा है और लोक से वे भाव ही अधिक लिए हैं जिनका सम्बन्ध हमारी सहज प्रवृत्तियों से है, अश्लील चित्रों की चर्चा हो चुकी है, दूसरे स्थलों पर भी शृंगार के बड़े सबल वर्णन हैं—

१. श्री ब्रजरत्नदास : उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० २३-४।
२. अरेबियन नाइट्स, ट्रान्सलेटर्स फोरवर्ड।
३. मांडो देखत ही बनै, रसना कहा न जाय।
कै जो ब्याहा जान सो, कै जो बरातहिं जाइ॥ (चित्रा०, पृ० २००)

आजु गवन हौं आई नाहीं। तुम न कत गवाहु रन माहीं॥
धनि ा नन भरि देखा पीऊ। पिउ न मिला धनि सौं भरि जीऊ॥
× × ×
भीज हार चीर हिय चोली। रही अछूत कत नहिं खोली॥
× × ×
घुट-घुट काजर आँचर भीजा। तबहुँ न पिउ कर रोवँ पसीजा॥
(पद्मा० गोरा-बादल युद्ध यात्रा-खड)

अरबी कहानियों के आश्चयजनक तथा साहसिक कार्यों की ओर विद्वानों का उतना ही ध्यान गया है जितना उनकी नग्नता की ओर। सूफियों ने हिन्दी को दानों ही वस्तुएँ दीं। चित्रावली म भी अलाउद्दीन के दीवरन्दन के समान कुछ देव ह जो मदों तक को मायव कर देते ह एव वे अपनी माया से सुजान को सोते हा स्थान कहीं स कहीं पहुँचा दिया राजपाशी ऐसे ह जो हाथी तक को अपनी चाच में दबाकर आकाश में उड जाते ह और चार घडी में ही सात समुद्र पार जा सकते ह। प्रम क समान हा मान प्रभाव स वशीभूत करने वाले भयकर तूफान अरबी कहानियों में भी ह तथा हिन्दी के सूफियों में भी।

अरबी कह नियों का प्रारम्भ जिस ढग से होता है वही ढग इन प्रेम कहानियों में भी दिखाई पडता है। मेरा पिता एक धनी सौदागर था जिसके यहाँ अनक दास-दासियाँ जल-पोत तथा ऊट थ परन्तु उसके कोई सतान न थी। एक रात्रि को उसने स्वप्न देखा कि उसके एक पुत्र उत्पन्न होगा जो थोड़े दिन पीछे मर जायगा। समय पूरा होने पर मेरी माता न मुझको जन्म दिया तब पिता ने पडित तथा ज्योतिषी बुलवाये।[१] सवसम्पन्न व्यक्ति की सन्तानहीनता फिर तप से सन्तान प्राप्ति आदि घटनाएं रामायण काल से आजतक मनोरजन का कारण बनी हुई ह परन्तु इनके बीच जादूगर सिद्ध तथा जोगियों का आ जाना निश्चय ही अवदिक प्रभाव है जो भारत में भी चल रहा था तथा अरब म भी। भाग्य अथवा विधि को ऐसी घटनाओं के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है।[२] भाग्य से भी ऊपर अगर कोई है तो नारी क्योंकि पुरुष के लिए प्राय वही भाग्यविधायी बन जाती है वह जो कुछ चाहती ह कर लती है पुरुष का वश उसके सामने नहीं चलता[३] इसीलिए हरिनामा के समान अरबी लेखक न यह सम्मति दी है कि नारी पर विश्वास नहीं करना चाहिए

---

१ अरेबियन नाइट्स भाग १ पृ० १४५ ६।
२ वही पृ० १६७ १६६ आदि।
३ प्रयत्न करने पर भी भाग्य में न तो परिवतन हो सकता है और न उससे बचाव हो सकता है और स्त्री जो कुछ चाहती है वही कर लेती है पुरुष कुछ भी करे उसको रोक नहीं सकता। (वही पृ० १३)

वह नारी में सतीत्व तो मान ही नहीं सकता।[१] इसी प्रकार भाग्य के सामने घुटने टेक-कर अपनी कहानी कौतूहल से प्रारंभ करनेवाले हिन्दी के सूफी कवियों ने नारी-जगत् की भरपेट गालियां सुनाई हैं[२] जो उनसे पूर्व हिन्दी साहित्य में कभी नहीं था। यह एक आश्चर्य की बात है कि सूफियों की नारी में बौद्ध नारी की परुष भावना भी है तथा हिन्दू नारी की कोमलता भी,[३] वस्तुतः हिन्दी में ऐसा योग विदेशी (अरबी) प्रभाव का ही सूचक है।

अरबी कहानियाँ शहरजाद ने अपनी बहिन को इसीलिए सुनाई थीं कि वे सब लोग जगते हुए रात्रि काट सकें,[४] इसलिए इन कहानियों का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है, परन्तु लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ये कहानियाँ सीखनेवाले गंभीर व्यक्तियों को बहुत कुछ सिखा भी सकती हैं[५]; सूफी कवियों का भी ठीक यही उद्देश्य था जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। अरबी कहानियों में एक प्रवृत्ति आशीर्वाद की भी है, लेखक स्थान-स्थान पर कहता चलता है—"ईश्वर उसको शक्ति दे, "अल्लाह तुम्हारा भला करे', 'इंशाअल्लाह' आदि; हमारे सूफियों का भी यही स्वभाव है; लोक-कहानियों का अंत आज भी यही होता है कि—"जैसा उनका हुआ, वैसा सब का हो"; सूफी लोग इस शुभ कामना के साथ-साथ पाठक को या तो उपदेश देते हैं या चेतावनी—

(क) जिमि काहू कह होइ बिछोऊ। अस दै मिलै, मिलै सब कोऊ॥ (जा० ग्र०,१८४)

---

१. स्त्री पर कभी भरोसा मत करो। (वही, पृ० १३)
स्त्री का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। (वही, पृ० १३)
इस पृथ्वी पर कोई भी स्त्री सती नहीं रही, और न अब कोई सती रहती है। (वही, पृ० १४)

तुलना कीजिए :—
रहो नास्ति, क्षणो नास्ति, नास्ति प्रार्थयिता नरः।
तेन नारद ! नारीणां, सतीत्वमुपजायते॥ (पञ्चतन्त्रे, मित्रभेद)

२. जो तिरिया के काज न जाना। परै धोख, पाछै पछिताना॥ (जा० ग्र०, ३५)
मूरख सो जो मतै घर नारी। (वही, पृ० ५५)
नारि-पेट जेहि अंत नहिं, बारिधि गहिर गंभीर। (चित्रा०, ७६)
कहिसि कि महरिन्ह बुद्धि न रती। (वही, पृ० २३१)

३. एइ सब नारी चरित्र के प्रधानतः "बौद्ध" ओ "हिन्दु" एइ दुइभागे विभक्त करा हइया थाके। चरित्रेर दृढ़ता वा परुषभाव देखलेइ एइ सब नारीचरित्र बौद्धगन्धी एवं कोमलता देखलेइ इहारा हिन्दुभावापन्न बलिया अनुमित हइया आसितेछे। (प्राचीन बांगाला साहित्येर कथा, पृ० ३५)

४. अल्लाह तुम्हारा भला करे, प्यारी बहिन, हमको कोई नई मनोहर तथा सुहावनी कहानी सुनाओ, जिससे रात्रि के बाकी घंटे बीत सकें। (अरेबियन नाइट्स, भाग १ पृ० २४)

५. तुम्हारी कहानी बड़ी अद्भुत है"'चेतनेवाले को वह चेतानेवाली है। (वही, पृ०२६)

(ख) तेहि कुल रतनसेन उजियारा। धनि जननी जामा अस बारा॥ (वही, २६)
(ग) भावता जा दिन मिलै, ता दिन होइ अनद।
सपति हिए हुलास अति, कटि बिरहा दुख फद॥ (माधवानल कामकदला)

परन्तु कुछ कहानियों का अन्त केवल कथा की समाप्ति में ही हो जाता है, यद्यपि ऐसे अन्त में भी मधुरता की कमी नहीं है—

(क) औ दोउ प्रेम विदिन होइ गएऊ। अत बियाह दोउ सग भएऊ॥
(अनुराग बाँसुरी)
(ख) गये सकल नप अपने घर को। मालति ब्याह गई मधुकर को॥
(इन्द्रावती)

प्रादेशिक भाषाओं में भी मुस्लिम कवियों ने जो प्रेम-कथाएँ लिखी हैं उनमें ये सारी प्रवृत्तियाँ ज्यों की त्यों पाई जाती हैं इनमें मनोरमता तथा मधुरता दोनों हैं परन्तु कल्पना की अस्वाभाविकता भी कम नहीं, बगाल के प्रसिद्ध विद्वान श्री दीनेशचन्द्र सेन ने इसीलिए यह कहा है कि इस काव्य को पढ़कर अरब तथा फारस की कहानियों का ध्यान[1] अपने आप ही आ जाता है।

पद्मावत

हिन्दी की प्रेम कहानियों में सबसे महत्वपूर्ण जायसी का काव्य 'पद्मावत' है जिसमें काव्य सौष्ठव भी औरों से बढ़कर है तथा सिद्धान्त प्रतिपादन भी। पद्मावत की कथा के दो भाग किये गये हैं—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध 'रत्नसेन-सगति खड तक पूरा हो जाता है क्योंकि यहाँ तक आते आते नायक सिद्धि-लाभ कर सकुशल तथा सानद अपने देश में आकर रहने लगता है उत्तरार्द्ध का सूत्रपात राघवचेतन से ही है यदि वह न होता तो कथा आगे चल ही न सकती थी। पडित रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि पूर्वार्द्ध कल्पित कहानी है और उत्तरार्द्ध का आधार इतिहास है[2]।

पूर्वार्द्ध में चित्तौड तथा सिंहलद्वीप—दो स्थान एव रत्नसेन तथा पद्मावती—दो एक नाम के पात्र मुख्य हैं। चित्तौड का वर्णन जायसी ने बिलकुल नहीं किया और न रत्नसेन के विषय में ही रुचि दिखलाई है उसका अनुराग 'सिंघलदीप पदमिनी रानी' से ही है कारण हम ऊपर बतला चुके हैं यह यामिनी की खोज का प्रभाव है। 'चित्तौड' का नाम तो भारतीय समाज में उस समय भी उस प्रसिद्ध दुर्घटना के कारण प्रत्येक व्यक्ति की जीभ पर था और चतुर कथक उसका भरसक लाभ उठाते थे—किसी भी गल्प, कथा या कल्पना का सम्बन्ध प्रसिद्ध नामों से जोडने पर उसका महत्त्व अपने आप ही बढ़ जाता है, कादम्बरीकार कवि बाण दण्डकारण्यान्तःपाति आश्रमपद का वर्णन करते हुए उसका सम्बन्ध राम-सीता से जोडना आवश्यक समझते हैं (काद

---

१ एइकाव्ये (पद्मावती काव्ये) कल्पनार कतकटा अस्वाभाविक आडम्बर आछे, सेइ सकल अश पडिते-पडिते आरब्य ओ पारस्यदेशेर गल्पगुलिर कथा मने हय।
(बगभाषा ओ साहित्य पृ० ५४८)

२ जायसी ग्रथावली, भूमिका, ऐतिहासिक आधार, पृ० २२)।

मञ्जरी, कथामुख)। शुक्ल जी ने 'रत्नसेन' को 'रत्नसिंह' या 'रत्नसी' मान लिया है जो अनुचित है, राजपूतों के नाम 'सिंह' पर होते हैं, 'सिंह' का बिगड़ा हुआ रूप 'सी' तो हो सकता है 'सेन' नहीं; जायसी ने पात्रों के नाम 'सेन' शब्दान्त—गन्धर्वसेन, चित्रसेन, नागसेन, कँवलसेन—सौदागरी प्रभाव से ही रखे हैं, जायसी के रत्नसेन में कोई भी राजपूती गुण नहीं हैं वह ऐतिहासिक रत्नसिंह का व्यंग्य-चित्र तो माना जा सकता है उसका प्रसिद्ध रूप नहीं; दोनों नामों में 'रत्न' शब्द का उभयनिष्ठ होना उतना ही महत्त्वहीन है जितना कि जायसी का 'चित्तौड़'।

'पद्मावती' तथा 'सिंहलद्वीप' में तो उतनी भी ऐतिहासिकता नहीं मिलती। ऐतिहासिक रत्नसिंह की रानी का नाम क्या था यह ठीक नहीं कहा जा सकता, हाँ वह जाति की[1] पद्मिनी अवश्य थी, इसीलिए उसका रूप-सौन्दर्य लोक-प्रसिद्ध था; जायसी ने भी एक पद्मिनी नायिका का वर्णन किया है किसी रानी विशेष का नहीं—'पद्मावती' तथा 'पद्मिनी' शब्दों की लोकप्रियता पर ऊपर विचार हो चुका है, यहाँ इतना और कहना उचित है कि जायसी ने इन दोनों शब्दों को जातिवाचक तथा पर्यायवाची समझा है, और दूसरे प्रेमाख्यान लिखने वाले भी अपनी नायिका को पद्मिनी बनाया करते थे, पद्मिनी नारी के साथ स्वर्गभोग उनकी उच्चतम अभिलाषा थी—

(क) घर-घर नारि पदमिनी, मोहहिं दरसन-रूप ॥ (जा० ग्रं १४)
(ख) पदमिनि रूप देखि जग मोहा ॥ (वही, २०)
(ग) वहँ हौं लौनि, कि वै पदमिनी ॥ (वही, ३४)
(घ) जौ पदमिनि तौ मोरे, अछरी तौ कविलास। (वही २०६)
(ङ) सिंघल कै जो पदमिनी, पठै देहु तेहि बेग। (वही, २१७)
(च) रूप सुरूप पदमिनी नारी। (आखिरी कलाम, ३६०)
(छ) इन्द्रावति है पदमिनी, रंभा तुलै न ताहि ॥ (इन्द्रावती)

जायसी के उपरान्त सफलता में दूसरा स्थान उसमान का है, जिनकी नायिका चित्रावली है, वह पद्मिनी तो नहीं है परन्तु उससे तनिक ही कम है अर्थात् वह चित्रिणी है[2]; कवि ने कदाचित् इसीलिए उसका नाम चित्रावती (अथवा चित्रावली) रखा है। अभिप्राय यह है कि सूफी कवियों की प्रवृत्ति से जान पड़ता है कि वे नायिका का वर्णन करने को एक मुख्य उद्देश्य समझते थे, अधिकतर ने अपनी नायिका को पद्मिनी माना है, हाँ, जायसी ने उस जातिवाचक शब्द का उपयोग जनता को मुग्ध करने के लिए भी कर लिया था।

पद्मिनी 'जातिवाचक' अतः कल्पित है, परन्तु 'सिंहलद्वीप' नहीं। 'सिंहल' शब्द के सुनते ही हमारा ध्यान उस द्वीप की ओर जाता है जिसको 'लंका' भी कहते हैं। प्राचीन काल में इसको 'ताम्रपर्णी' कहते थे[3]। 'महावंश' में लिखा है कि राजकुमार

---

१. पद्मिनी चित्रिनि संखिनी अरु हस्तिनी बखानि।
विविधि नायिका भेद में चारि जाति तिय जानि ॥ (भाषाभूषण)
२. निसि दुख देखा चित्रिनी, सब निसि एक एक जाम ॥ (चित्रा० ५०)
३. लेक्चर्स आन दि एनसेन्ट हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ७।

विजय और उनके साथी जब प्रथम बार उस द्वीप पर पहुँचे तो थकावट के कारण वे पृथ्वी पर हाथ टेककर बैठ गये मिट्टी ताम्रवर्ण की थी, उसके स्पर्श से उनकी हथेलियाँ ताम्रपर्ण सी (ताँबे के पत्र जैसे रंगवाली) हो गईं, इसीलिए उस द्वीप का नाम ताम्रपर्णी पड गया[1] सिंहल नाम उस द्वीप के किसी गुण पर आश्रित न होकर उस वंश के नाम पर है जिसने पहले पहल उस द्वीप की खोज की, कदाचित् जम्बूद्वीपवासी उसको सिंहल कहते थे, और उपनिवेश बसाने वाले थे निवासी उसको 'ताम्रपर्णी'। राजकुमार विजय का वंश सिंहल कहलाता था क्योंकि वंगराज की आज्ञा से विजय के पिता सिंहबाहु प्रजा में आतंक उत्पन्न करने वाले अपने पिता सिंह को मारकर ले आये थे ((सिंह+ल=सिंहल)[2] अस्तु 'ताम्रपर्णी' का नाम 'सिंहल' हो गया। इसके कुछ भाग 'ओजद्वीप' 'मुण्डद्वीप' तथा नागद्वीप भी कहलाते थे।[3] इसके निवासी यक्ष[4] तथा नाग बतलाये गये हैं। वैभव तथा विलास का यह केन्द्र था, अनेक साहसी नवयुवक वहाँ जाकर रूपवती स्त्रियों तथा असंख्य रत्नों के स्वामी बन जाते थे, दलपति का विवाह तो उस पर मोहित होने वाली यक्षिणी के साथ होता था परन्तु उसके साथियों को भी अपने अपने पद के अनुसार दूसरी यक्षिणियाँ मिल जाती थीं। राजकुमार पाण्डु वासुदेव संन्यासी के वेश में नाव द्वारा सिंहल पहुँचा, और पराक्रम दिखलाने के कारण उसका विवाह उस भद्र कात्यायिनी के साथ हो गया जिसके लिए संसार के सभी लोग इच्छुक थे (महावंश अष्टम परिच्छेद)। इस प्रकार की कथा में पद्मावत की कथा का आधार खोजा जा सकता है। पद्मावती का पिता कम-से-कम नाम से ('यक्ष न सही) गन्धर्व-सेन था उसके विलास तथा वैभव की क्या सीमा, पद्मावती के रूप पर तीनों लोकों के मधुप मँडराते थे, अंत में जम्बूद्वीप का एक राजकुमार संन्यासी बन, नाव में बैठ, वहाँ पहुँचा और अपना साहस दिखलाकर उस विश्व सुन्दरी का पाणिग्रहण कर सका।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने पद्मावती के रूप सौन्दर्य की वर्तमान सिंहलिनियों के रूप से तुलना करने पर यह निश्चय किया है कि जायसी का सिंहल ऐतिहासिक सिंहल अर्थात लंका न होकर राजपूताने या गुजरात का कोई स्थान[5] होगा। जायसी ने स्वयं भी 'सिंहल' को लंका' से भिन्न कोई द्वीप माना है, सात द्वीपों के नाम गिनाते समय सिंहल और लंका का अलग अलग उल्लेख किया है और सिंहल के राजा की लंका के राजा से तथा सिंहलनगर की लंकानगर से सर्वत्र तुलना की है—

लंकदीप के सिला अनाई। बाँधा सरवर घाट बनाई॥ (पृ० १२)
लंका चाहि ऊँच गढ़ ताका। निरखि न जाइ, दीठि तन थाका। (पृ० १५)

---

१ महावंश सप्तम परिच्छेद, छन्द ४१।
२- वही, षष्ठ परिच्छेद छन्द ३२ ३३ तथा सप्तम परिच्छेद, छन्द ४२।
३ महावंश १५/५६, १५/१२७, १। ४७ तथा २०/१५।
४ वही १/२१ २२ तथा १,८४।
५ जायसी ग्रंथावली, भूमिका, ऐतिहासिक आधार, पृ० २५।

लंका सुना जो रावन राजू। तेहु चाहि बड़ ताकर साजू॥ (पृ० १०)
और खजहजा अनवन नाऊ। देखा सब राउन-अमराऊ॥ (पृ० ११)

जायसी ने जो सात द्वीप गिनाये हैं उनका ऐतिहासिक या भौगोलिक महत्त्व है या नहीं, यह विचार नहीं करना, परन्तु यह निश्चय है कि इन नामों की जनता में काफी प्रसिद्धि रही होगी, 'कथक' इसीलिए इनका उल्टा-सीधा प्रयोग कर लिया करते थे। 'महावंश' के आधार पर इतिहासवेत्ताओं ने उन स्थानों की चर्चा की है जहाँ अशोक के समय में धर्म-प्रचार के लिए स्थविर भेजे गये थे (महावंश, द्वादश परिच्छेद), जम्बु-द्वीप के 'प्रत्यन्त' सात देशों (अथवा द्वीपों) की सूची दी गई है, डा० लॉ के अनुसार[1] यह प्रचार-क्षेत्र उत्तर में गान्धार, दक्षिण में सीलोन, पश्चिम में पश्चिमी समुद्र तट तथा पूर्व में लोअर बरमा तक फैला हुआ था। गिनाये गये स्थानों[2] में से कुछ स्थानों के नाम जायसी के द्वीपों से मिलते हैं जैसे सरनदीप[3] और स्वर्णभूमि, लंकदीप और लंका, दीप गभस्थल और गान्धार, दीप महिस्थल (या महुस्थल) और महिष्मण्डल—सरनदीप तो स्वर्णद्वीप या स्वर्णभूमि प्रसिद्ध है ही,[4] गर्भस्थल गान्धारस्थल ही हो सकता है, और महिस्थल को नर्मदा का दक्षिणवर्ती प्रदेश महिष्मण्डल मानना पड़ेगा; इसको इतिहास के इस मत का भी समर्थन प्राप्त है कि अशोक के राज्यकाल में बौद्धमत उत्तर भारत में भली भाँति दृढ़ होकर पूर्व देश तथा दक्षिण देश में प्रवेश कर रहा था[5]। अब जायसी द्वारा गिनाये गये तीन द्वीप और रह गये—जम्बुद्वीप, सिंहलद्वीप, और दियाद्वीप; 'जम्बुद्वीप' के विषय में मतभेद को कोई स्थान नहीं है, 'सिंहलद्वीप' पर हम विचार कर रहे हैं; 'दियाद्वीप' बच जाता है, इसकी स्थिति पश्चिमी समुद्र तट पर माननी पड़ेगी क्योंकि पश्चिम ही एक ऐसी दिशा बच गई जिसका कोई स्थान शेष ६ द्वीपों में नहीं आ पाया है—जब तक कोई विद्वान् इस पर विशेष प्रकाश न डाले तब तक हम 'दियाद्वीप' को पश्चिमी समुद्र तट का द्वारका मान लेते हैं, बंगाली कवियों ने अपने मंगल काव्यों में पश्चिमी तट के लिए समुद्र यात्रा करने वाले वणिकों का उल्लेख किया है, और कवि कंकण ने अपने चंडीकाव्य में अन्य मुख्य स्थानों के साथ द्वारका की भी सगौरव चर्चा की है।

सिंहल को पहिचानने से पूर्व ऊपर के विवेचन से परिलक्षित दो निष्कर्षों को ध्यान में रखना आवश्यक है—प्रथम यह कि लोककथाओं में 'द्वीप' शब्द का अर्थ 'समुद्र के बीच में निकला हुआ स्थल'[6] नहीं है, प्रत्युत किसी भी भूभाग को 'द्वीप' कहा जा

१. ज्योग्राफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ६० ।
२. बुद्धिज्म एण्ड अशोक, पृ० ७३ ।
३. शुक्लजी ने लंका और सरनदीप को अलग-अलग मानने पर आपत्ति की है जो अनुचित है, बौद्ध इतिहास में इनको अलग-अलग माना गया है।
(दे० जायसी ग्रंथावली, सिंहलद्वीप-वर्णनखण्ड, फुटनोट १)।
४. महावंश, द्वादश परिच्छेद, फुटनोट ३ ।
५. बुद्धिज्म एण्ड अशोक पृ०, ७२ ।
६. द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम् । (अमरकोशः)

सकता है—भूखण्ड, देश, प्रदेश, नगर तथा द्वीप शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। द्वितीय यह कि जम्बूद्वीप के दक्षिण तथा पूर्व में भारतीयों के जो उपनिवेश बसे थे उनमें भारतीय संस्कृति की इतनी अधिक छाप थी कि मुख्य-मुख्य नगरों तथा नदियों के सारे नाम भारतवर्ष के ही रख लिए गये थे—डा० भाण्डारकर ने चार मथुरा नगरों का उल्लेख किया है[1], ब्रह्मदेश में दूसरा भारत बसाने का तो सफल प्रयत्न हुआ ही बौद्ध मत के भारत वाले स्थानों की भी ज्यों-की-त्यों आवृत्ति हो गई[2]। यदि भारत के वासुदेव कृष्ण का सारा जीवन सिंहलराज पाण्डुवासुदेव के दौहित्र पाण्डुकाभय के जीवन में प्रतिबिम्बित मिलता है (दे० महावंश नवम परिच्छेद), तो सिंहल के कतारा आदि विहार तथा अनुराधपुर आदि नाम भी ब्रह्मदेश में पाये जाते हैं।

अशोक के जीवन-काल में तिष्य स्थविर द्वारा नियोजित तृतीय धर्म संगीति भारत में बौद्धमत की अन्तिम सभा था इसके उपरान्त उत्तर से धीरे धीरे बौद्धमत का लोप होने लगा, साथ ही उसका लंका में उतना ही प्रभाव बढ़ने लगा। लंका का धर्म अधिक कट्टर था, भारत में जहाँ महायान को अधिक आश्रय मिला वहाँ लंका में हीन यान को और पूर्व के देशों में लंका का प्रभाव अधिक था परन्तु उत्तर-पूर्व के देशों में भारत का। जब लंका में भी धर्म का भण्डा लड़खड़ाने लगा तो उसका एकमात्र गढ़ सुदूर पूर्व का ब्रह्मदेश हो बन गया—जो जोश एक समय जम्बूद्वीप में था, फिर किसी समय सिंहल में रहा वह अब ब्रह्मदेश में अपना फल दिखलाने लगा। सातवीं शताब्दी से ही ऐसे प्रामाणिक उल्लेख मिलते हैं जिनके अनुसार जम्बूद्वीप तथा लंकाद्वीप के बौद्ध विद्वान् विशेष अध्ययन के लिए ब्रह्मदेश जाते थे। सातवीं शताब्दी में नालंदा के अध्यापक काञ्चीवासी धर्मपाल तथा ग्यारहवीं शताब्दी में बंगाल के अतीस दीपांकर बौद्धमत के विशेष अध्ययन के लिए इन पूर्व देशों में गये थे[3], अरिमर्दनपुर के राजा अनिरुद्ध[4] (म० मृ० १०७७ ई०) के शासन को तो स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। इधर भारत में ब्राह्मण धर्म फिर से जाग उठा था और शिक्षित समाज बौद्धमत को छोड़ चुका था, छठवीं शताब्दी से ही वेद शास्त्रों की दुहाई दी जाने लगी थी[4], बौद्धमत या तो कुछ विहारों में बन्द रह गया था निम्नस्तर की जनता में बिखरा हुआ। यह जनता धर्म का केन्द्र आज भी भारत के बाहर किसी द्वीप को जानती थी, और श्रुति-परम्परा से उस द्वीप का नाम इस जनता में सिंहल था। लोक-साहित्य में सिंहलद्वीप इसी अर्थ में आया है हिन्दी तथा बंगाली की अधिकतर लोक-कथाएँ सिंहल के बिना चलती ही नहीं यहाँ तक कि रामकथा में भी बंगालियों ने दशरथ का विवाह[6] सिंहलराज की पुत्री

१ लेक्चर्स आन दि एन्सेंट हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० १२।
२ हिन्दू कोलोनीज इन दी फार ईस्ट, पृ० २१५ तथा २१६।
३ ग्रेटर इंडिया, पृ० ५६ ५७।
हिंदु कोलोनीज इन दि फार ईस्ट, पृ० ८५।
४ हिन्दु कोलोनीज०, पृ० २१० २११।
५ मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ६ १०।
६ प्राचीन बंग साहित्य, कृत्तिवास, पृ० ६४।

से करा दिया है। इस प्रकार यह निश्चय है कि जायसी का धर्मद्वीप प्राचीन सिंहल (लंका) न होकर नवीन सिंहल या सिंहलाभास (ब्रह्मदेश का कोई भाग) है।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने सिंहल की स्थिति राजपूताने या गुजरात में मानी है, श्री कालिदास राय ने भी दशरथ की ससुराल वाला सिंहल[1] लगभग वैसा ही कोई स्थान बतलाया है, तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार सिंहलदेश या त्रियादेश हिमालय के चरणों में स्थित नाथों का कोई प्रसिद्ध परीक्षा-स्थान है।[2] परन्तु जायसी का सिंहलद्वीप इन तीनों स्थानों में से एक भी नहीं है, उस तक पहुँचने के लिए समुद्र-यात्रा तो करनी ही पड़ेगी, बंगीय लोक-कहानियों में भी समुद्री मार्ग से ही सिंहल पहुँचा जाता है।

जायसी ने जम्बुद्वीप से सिंहलद्वीप पहुँचने का समुद्री मार्ग बतला दिया है। दण्डकारण्य से दो मार्ग सामने आते हैं—एक सिंहल जाने वाला और दूसरा लंका के पास पहुँचाने वाला। लंका वाले मार्ग को एक ओर छोड़कर उड़ीसा में समुद्र-तट पर जा निकलते हैं[3]। बंगाली कवि वंशीदास के अनुसार सिंहल जाते समय एक ओर कलिंग और उत्कल देश रह जाते हैं दूसरी ओर दक्षिण का सेतुबन्ध रामेश्वर और कनकलंका सामने दिखलाई पड़ती है।[4] कविकंकण मुकुन्दराम के अनुसार सेतुबन्ध को एक ओर छोड़कर जब धनपति ने दूर से लंका के प्रासादों को देखा तो पूछा कि सिंहल कितनी दूर है? फिर रात्रि-दिन चलते रहने के उपरान्त वे कालीदह (गंभीर सागर) को पार करके सिंहल नगर के निकट आ गये।[5] रत्नसेन के लौटने का भी जायसी ने ऐसा ही वर्णन किया है—

---

१. बाँगाली कवि सिंहल—राजकन्या संगे दशरथेर बिवाह दिया सिंहल आर लंका के एक नय तहाइ बलियाछेन। एइ सिंहल भारतेर मध्येइ एकटा प्रदेश, मृगया करिते-करिते जेखाने पौंछानो जाय। (वही, वही, वही)

२. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ५५, तथा पृ० १६७।

३. परे आइ बन परवत माहाँ। दंडाकरन बीझ बन जाहाँ॥
एक बाट गइ सिंघल, दूसरि लंक समीप॥
आगे पाव उड़ैसा, बाएँ दिसि सो बाट।
दहिनावरत देइ कै, उतरु समुद के घाट॥ (जोगी खंड)

४. कलिंग उत्कल देश डाइने थुइया।
सेतुबन्ध रामेश्वर राखिया दक्षिणे॥
सम्मुखे कनक लंका देखे ततक्षणे॥ (मनसा मंगल)

५. सेतुबन्ध सदागर पश्चात् करिया।
दूर हैते देखे साधु लंकार मयाल॥
अलंध्य सागर डानि बामे नाहि स्थल॥
पथिक जिज्ञासे कत योजन सिंहल?

आध समुद ते आय नाहीं। उठी बाउ आँधी उनराहीं ॥
बोहित चले जो चिनउर ताके। भए कुपंथ लंक दिस हाँके ॥
महिरावन क रीढ़ जो परी। कहहु सो सेतुबंध बुधि छरी ॥
(देस यात्रा खंड)
जगनाथ कहँ देखा आई। भोजन रीधा भात बिकाई ॥
(लक्ष्मी समुद्र खंड)

इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि (१) समुद्र यात्रा के लिए उड़ीसा में पुरी[1] का बन्दरगाह एक सामान्य स्थान था (२) सेतुबन्ध तथा लंका को दूर से देखकर मार्ग का अनुमान लगाया जाता था (३) पूर्वी समुद्र में जिस ओर लंका है उससे दूसरी ओर सिंहल का मार्ग है (४) तथा जहाँ से लंका दिखाई पड़ती है वहाँ से सिंहल आधी से कम दूर रह जाता है—जायसी के मन में यह बैठ जाता है कि अब कुछ ही दिनों की और बात है। इस प्रकार सिंहल दक्षिणी ब्रह्मदेश का कोई समुद्रतटवर्ती प्रसिद्ध स्थान है बंगीय कवियों ने जिसको अपनी कविता में पूर्व देश कहा है और बंगीय विद्वानों ने जिसको बौद्ध मत का केन्द्र निम्नब्रह्म माना है।[2] इतिहास यह बतलाता है कि उत्तर ब्रह्मदेश की अपेक्षा दक्षिण ब्रह्मदेश में भारतीयों का आना जाना अधिक था और वे समुद्री मार्ग से ही जाते थे[3]।

स्वर्णद्वीप या स्वर्णभूमि नामों का प्रयोग बड़े अनिश्चित अर्थ में होता था सुदूर पूर्व के सभी देशों के लिए भी इन नामों का व्यवहार था तथा प्रदेश विशेष या विशेषप्रदेशों के लिए भी। संभव है जावा को कभी यह नाम मिला हो, क्योंकि एक समय इसका राजनीतिक प्रभाव सर्वत्र था यह पहले हीनयान तथा फिर महायान का केन्द्र बन गया था सुमेरु पर्वत यहीं खोजा जा सकता है तथा १३वीं शती में यहाँ का सिंहसारि राज्य बड़ा शक्तिशाली था[4]। तब सिंहल की खोज हम हेन-साग द्वारा दिये गये भारत राज्य के सीमा प्रदेशों का आश्रय लेते हैं दिये गये ६ नामों में से प्रथम को

रात्रि दिन चले साधु तिलेक नाहि रहे।
उपनीत धनपति हैता कालीदहे।
वाह वाह बलिया डाकेन सदागर।
निकट हइल राज्य सिंहल नगर ॥ (चंडीकाव्य)

१ बंगीय कवि भी पुरी से ही अपनी समुद्र यात्रा प्रारम्भ करते है।
(प्राचीन बँगाला साहित्येर कथा, सेकाले बांगालीर वाणिज्य पृ० ७७)।

२ बाँगालार पूर्व्वदेश' बलिते ब्रह्मदेशेर विशेषत निम्नब्रह्म बुझाइतेछ जाति विचारहीन बौद्धगण के नियाइ बोध होइ कविरोत्व करिया बलिते छन जे 'सब जाति एकाचारी नाहिक आचार। (वही वही वही पृ० ८४)

३ इण्डियन कोलोनिस्ट्स टू बेंट बाइ सी टु लोअर बर्मा फार लार्जर इन नम्बर दन दौज हू प्रोसीडेड बाइ डिस्ट्रिक्ट लैंड रूट्स टु अपर बर्मा
(हिंदु कोलोनीज० पृ० १९५)

४ हिन्दु कोलोनीज०, पृ० ६६ से ६८ तक।

आजकल श्री क्षेत्र समझा जाता है,[1] यह दक्षिण ब्रह्मदेश की समुद्र-तटवर्ती प्रसिद्ध राजधानी[2] थी, जिसमें पहले हिंदू संस्कृति का केन्द्र था और फिर राजा अनिरुद्ध की कट्टरता के कारण ११वीं शती में बौद्ध मत की सांस्कृतिक पीठ बन गई। जायसी का सिंहल यही श्रीक्षेत्र जान पड़ता है। श्री राहुल सांस्कृत्यायन ने श्री पर्वत नाम के एक सिद्धिपीठ की चर्चा की है[3] जो वज्रयानी सिद्धों का केन्द्र था, यह दक्षिण में था, क्या आश्चर्य है कि भारत से बौद्धमत के साथ यह नाम (श्रीपर्वत या वज्रपर्वत) भी दक्षिण ब्रह्मदेश में अपने गुणों को ले गया हो, और ब्रह्मदेश के पुराने श्रीक्षेत्र में भारत के इस श्रीपर्वत के गुणों की कल्पना उस पिछड़ी हुई जनता ने कर ली हो ? डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी स्त्रीदेश, त्रियादेश तथा सिंहल को एक मानते हैं, क्या श्रीक्षेत्र को स्त्रीदेश (स्त्रीक्षेत्र) या सिंहल मानने में इससे अधिक कल्पना की आवश्यकता है, विशेषतः उस परिस्थिति में जब शेष सारी बातें वहाँ मिल जाती हों ?

जायसी के सिंहलद्वीप में दो और बातों पर भी ध्यान जाता है। प्रथम तो यह कि जायसी ने बार-बार उसकी लंका से तुलना की है, जिसका अभिप्राय यह है कि सिंहल का आदर्श जम्बुद्वीप की अपेक्षा लंका अधिक है, अर्थात् लंका का महत्त्व कम होने के साथ सिंहल का उत्कर्ष हुआ और क्योंकि यह उत्कर्ष बौद्धमत सम्बन्धी ही था, इसलिए सिंहल को लंका के उपरान्त प्रसिद्धीभूत धर्मस्थल मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह कि जायसी ने सिंहली हाथियों की बड़ी प्रशंसा की है (सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड, दोहा २० से २१ तक) जो स्वयं सिंहल के ब्रह्मदेश में होने का प्रमाण है।

जायसी के सिंहलद्वीप के साथ कदलीवन या कजरीवन (या कदली देश) का नाम भी प्रायः लिया जाता है। बंगाल की गोरक्ष-विजय कहानियों में यह प्रसंग बड़े महत्त्व का है कि जब गोरखनाथ के गुरु मीननाथ कदली देश की कामिनियों के जाल में फँस गए तो गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया था। गोविन्ददास (१८वीं शती) ने अपने कलिका-मंगल-काव्य में इस घटना का इस प्रकार उल्लेख किया है—

मीननाथ नामे छल एक महायोगी। भाव जानिते तेह हइलेन वैरागी॥
शतेक कामिनी लैया कदलीर वने। अतिरसे अनुक्षीण हैल दिने दिने॥
गोरक्षनाथ परम योगी मीननाथेर शिष्य। नाना यत्न करिलेक गुरुर उद्देश्य॥

जायसी ने भी परम्परा के अनुसार 'कजरीवन' की कथा का संकेत किया है परन्तु गोरखनाथ के प्रसंग में नहीं, गोपीचन्द या भर्तृहरि के ही प्रसंग में—

(क) जौं भल होत राज औ भोगू। गोपिचन्द नहिं साधत जोगू॥
उन्ह-हिय-दीठि सो देख परेवा। तजा राज कजरी-बन सेवा॥
(जोगी खण्ड)

---

१. वही, वही, पृ० १९७-१९८।
२. साउथ इंडियन इन्फ्लूऐन्सेज़ इन दि फार ईस्ट, पृ० १३ तथा १५।
३. पुरातत्त्व-निबन्धावली, वज्रयान और चौरासी सिद्ध, पृ० १४१।

(ख) जानौ आहि गोपिचन्द जोगी । की सो आहि भरथरी बियोगी ॥
　　वै पिंगला गए कजरी आरन । ए सिंघल आए केहि कारन ? ॥ (बनज खंड)

वस्तुतः जायसी की दृष्टि में कदलीवन और सिंहलद्वीप दो भिन्न भिन्न स्थान हैं, यह सम्भव है कि दोनों ही धार्मिक परीक्षा के केन्द्र रहे हों, परन्तु दोनों को एक ही न समझना चाहिए।

यह पूछा जा सकता है कि क्या सचमुच जायसी के मन में इन स्थानों की भौगोलिकता भी थी। उत्तर निश्चय ही निषेधात्मक होगा। जायसी और उनकी परम्परा का इन स्थानों से सुना-सुनाया परिचय था, वे बंगीय लोक-कवियों के समान भी नहीं माने जा सकते जो समुद्रजीवी लोगों के ही बीच रहते थे। समुद्र तथा तद्विषयक ज्ञान जायसी आदि को पूर्वी लोक कहानियों (बंगीय लोक-काव्यों) के प्रभाव से ही मिला होगा इसीलिए इनके नाम आदि विश्वसनीय नहीं हैं परन्तु वर्णनों की सचाई पर सन्देह नहीं किया जा सकता। वस्तुतः जायसी की दृष्टि से तो उनका सिंहलद्वीप केवल कैलाश है—सिंहलद्वीप आहि कैलासू। यदि 'आखिरी कलाम' के वर्णनों से तुलना करते हुए रत्नसेन की सिंहल यात्रा पर विचार किया जाय तो यह रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है।

पद्मावत के पूर्वार्द्ध में (षट् ऋतु-वर्णन-खंड तक के २६ खंडों में) प्रलय तक की कहानी प्रतीक रूप में कही गई है। रत्नसेन पैगम्बर का प्रतिनिधि सूफी गुरु (या स्वयं पैगम्बर) है, सोलह सहस्र राजकुमार उसके अनुयायी हैं जो उसके रास्ते पर ईमान लाते हैं समुद्र का किनारा ही इश्क का प्रारम्भ है मार्ग के सात समुद्र नाना प्रकार की यातनाएँ हैं। अन्त में सिंहल का सुख स्वर्ग भोग है, पद्मावती बीबी फातिमा जान पड़ती है क्योंकि उसी की दया से सबका उद्धार होता है साथ का वचन कुरान का उपदेश था। इस प्रकार रसूल के कलाम पर ईमान लाने वाले सूफी मुरशिद के अनुयायी अनेक यातनाओं के सहने के बाद अन्त में अखंड स्वर्गभोग को प्राप्त करते हैं, और शेष सारे लोग नरक कुंडों में पड़े पड़े सड़ते रहते हैं। प्रेमपथ पर चलने वाला उस मार्ग को प्राप्त करता है जहाँ मृत्यु तो है ही नहीं केवल सुख ही-सुख है और जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता।[1] पहले पाँच समुद्र मृत्यु से पूर्व की परिस्थितियाँ हैं जो इनमें डूब जाता है उसका उद्धार नहीं हो सकता। क्षार समुद्र में संसार का तिरस्कार है इसको वही पार कर सकता है जिसके हृदय में 'सत'[2] है क्षीर समुद्र में भोग का आकर्षण है यदि मन फँस गया तो योगभ्रष्ट हो जाता है[3], दधि समुद्र में प्रेमाग्नि है इसकी जलन व्यर्थ नहीं जाती[4] उदधि समुद्र में प्रेम की तड़पन है[5], और

१ प्रेम-पंथ जौं पहुँचै पारा । बहुरि न मिलै आइ एहि छारा ॥
　तेहि पावा उत्तिम कैलासू । जहाँ न मीचु सदा सुख बासू ॥ (बोहित खंड)
२ सत साथी सत कर संसारू । सत्त खेइ लेइ लावै पारू ॥ (सात समुद्र खंड)
३ मानुस चाह दरब औ भोगू । पंथ भुलाइ बिनास जोगू ॥ (वही)
४ दधि समुद्र देखत तस दाधा । प्रेम क लुबुध दगध पै साधा ॥ (वही)
५ तलफ तेल कराह जिमि, इमि तलफ सब नीर ॥ (वही)

सुरा समुद्र में प्रेमोन्माद है[1] जिसके कारण ही सिंहल की यात्रा की जाती है। इसके अनन्तर किलकिला समुद्र आता है जो मृत्यु की यात्रा है, यह प्रलय का दृश्य है[2] जिसको देखकर होश-हवाश उड़ जाते हैं[3], इसी अवसर के लिए गुरु की विशेष आवश्यकता होती है।[4] इस 'पुले सरात' का चित्र जैसा पद्मावत में है वैसा ही 'आखिरी-कलाम' में भी—

(क) इहै समुद्र-पंथ मँझधारा। खाँडै कै असिधार निनारा॥
तीस सहस्र कोस कै पाटा। अस साँकर चलि सकै न चाँटा॥
खाँडै चाहि पैनि बहुताई। बार चाहि ताकर पतराई॥
परा सो गएउ पतारहि, तरा सो गा कविलास॥
कोई बोहित जस पौन उड़ाहीं। कोई चमकि बीजु जस जाहीं॥
कोई जस भल धाव तुखारू।
कोई रेंगहि जानहुँ चाँटी। कोई टूटि होहिं तर माटी॥ (पद्मावत)

(ख) तीस सहस्र कोस कै बाटा। अस साँकर जेहि चलै न चाँटा॥
बारहु तें पतरा अस झीना। खड्ग-धार से अधिकौ पैना॥
जो धरमी होइहिं संसारा। चमकि बीजु अस जाइहि पारा॥
बहुतक जानौं रेंगहि चाँटी। बहुतक बहै दाँत धरि माँटी॥ (आ० कलाम)

यदि यात्री नरक-कुंडों में गिरने से बच गया तो अब अन्तिम समुद्र मानसर में आता है, इसको 'मानसर' क्यों कहा गया, इसका उत्तर भी 'आखिरी कलाम' में ही मिलेगा—यह दूध और पानी को अलग-अलग करने का स्थान है[5], यहाँ हमारे कर्मों का न्याय होता है। जब बीबी फातिमा की दया से सबका उद्धार हो गया तो रसूल और उसके अनुयायी सुगन्धित जल से नहाकर सज-बजकर ज्योनार के लिये बैठे, सबके बीच मुहम्मद ऐसे लगते थे जैसे बरात के बीच दुलहा बैठा हो[6], दुलहा मुहम्मद और दुलहा रत्नसेन में कोई भेद नहीं है; जिस प्रकार पद्मावती के अनूप रूप को देखकर रत्नसेन तन-मन की सुधि भूल जाता है उसी प्रकार परम ज्योति की झलक पाकर रसूल मूर्च्छित हो गया। स्वर्ग-भोग का वर्णन दोनों स्थलों में एक-सा है, इधर हूरें हैं उधर पद्मिनियाँ हैं—आगे चलकर हूरों को 'पद्मिनी' कह दिया है, सिंहल की कामिनियाँ तो अप्सराएँ थीं ही। रत्नसेन की बरात तथा रसूल का जलूस बिलकुल एक-से ही हैं, जिनको देखने के लिए अप्सराएँ बन-ठनकर झरोखों में आ बैठती हैं। जायसी

---

१. जो तेहि पियै सो भाँवरि लेई। सीस फिरै, पथ पैगु न देई॥ (वही)
२. भै परलै नियराना जबहीं। (वही)
३. गै औसान सबन्ह कर, देखि समुद्र कै बाटि॥ (वही)
४. एही ठाँव कहँ गुरु संग लीजिय॥ (सात समुद्र खंड)
५. नीर छीर हुँत काढ़ब छानी। करब निनार दूध औ' पानी॥ (आ० कलाम)
६. ऐसे जतन बियाहैं, जस साजैं बरियात।
दूलह जतन मुहम्मद, बिहिस्त चले बिहँसात॥५३॥ (वही)

ने विहिस्त' को 'कैलास' कहा है और सिंहलद्वीप का भी, दोनों में सात खंड के प्रासाद हैं वही अगर, कपूर, कस्तूरी की महक वही राजकुमारी युवती पद्मिनियों के साथ भोग विलास वही शरीर की सुकुमारता और रूप का अपूर्व आलोक !!

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्थूल रूप से जायसी का सिंहल लोक-परम्परा में प्रसिद्ध दक्षिणी ब्रह्मदेश का वभव-सम्पन्न और धन-धान्य कोई समुद्रतटवर्ती प्रदेश है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से वह इसलामी परम्परा का स्वर्ग है जो रसूल के अनुयायियों का सुरक्षित स्थान कहा जा सकता है।

पद्मावत का उत्तरार्द्ध भी ऐतिहासिक नहीं है। कोई भी काव्य उस समय तक ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता जब तक कि उसमें ऐतिहासिक विचार-धारा सुरक्षित न हो, पद्मावत में रत्नसेन तथा अलाउद्दीन अवश्य मिलते हैं परन्तु न रत्नसेन में राजपूती रक्त है न अलाउद्दीन में अलाउद्दीनत्व। यदि जायसी ने रत्नसिंह के प्रसिद्ध व्यक्तित्व में जान-बूझकर परिवर्तन किया है तो यह कवि की अनुदारता है, रत्नसेन रानी के फुसलाने में आ जाता है भोगविलास में अपना कर्तव्य भूल जाता है, धन को पाकर मदोन्मत्त हो उठता है और समुद्र में दुखी होकर प्राकृत जन के समान विनम्रता है, दरबारी पंडित उसको झाँसा देकर राघव को उसके प्रतिकूल कर देते हैं, उसमें पद्मावती के बराबर भी दूरदर्शिता नहीं, अलाउद्दीन के घृणित प्रस्ताव से उसका रक्त एकदम नहीं खौल उठता प्रत्युत वह निर्बलों के समान नीति समझता है[१], जायसी ने शाह को सूर्य तथा रत्नसेन को चन्द्र बतलाया है[२], रत्नसेन का कैद होना उसकी मूर्खता तथा अकर्मण्यता का प्रमाण है जब वह छूटकर चित्तौड़ आ गया तो पद्मावती से बातों में उसका क्षत्रियत्व नहीं झलकता प्रत्युत स्त्रैणता टपकती है[३], अलाउद्दीन के हाथ से न मरकर देवपाल के हाथ से मारा जाना उसके जीवन की विडम्बना है—प्रमुख शत्रु को मारना या उसके हाथ से मरना राजपूती गौरव है कीड़ों (कीड़ों के समान तुच्छ शत्रुओं के बीच) में मरना उसकी अन्तिम असफलता है। पद्मावती में न क्षत्राणी के गुण हैं न पटरानी के, न हिन्दू गृहिणी के, पूर्वार्द्ध में तो वह कामशास्त्र की पद्मिनी नायिका भर है जो रूपगर्विता है, नजाकत का खिलौना बनी हुई हर समय प्रिय के

१ भलेहि साह पुहुमीपति भारी । माँग न कोउ पुरुष कै नारी ॥
× × ×
दरब लेई तौ मानौं सेव करौं गहि पाउ ।
चाहै जौं सो पदमिनी सिंहलदीपहि जाउ ॥ (बादशाह चढ़ाई-खंड)

२ जौ लगि सूर जाइ देखरावा । निकसि चाँद घर बाहर आवा ॥
(बादशाह चढ़ाई-खंड)
चाँद घरहि जो सूरज आवा । होइ सो अलोप अमावस पावा ॥
(रत्नसेन-बंधन खंड)

३ भलेहि तुम्हारि मिलन कै तब सो रहा जिउ पेट ।
नाहित होत निरास जौ कित जीवन कित भेंट ॥ (पद्मावती मिलन खंड)

गले से लिपटी रहने वाली, अपनी कामुकता का परिचय वह विवाह से पहले ही दे चुकी थी[1], चित्तौड़ आकर उसने नागमती से बाकायदा कुश्ती की, जिसका समाचार सुनकर राजा स्वयं उस अलौकिक (पालतू पक्षियों की-सी) जोड़ी को बचाने के लिए उस स्थल पर आया[2]। पद्मावती ने सबसे बड़ी भूल उस समय की जब वह एक मूर्ख दासी के कहने से सोलह शृंगार करके झरोखे से अलाउद्दीन को देखने पहुँच गई, यह सत्य है कि स्त्रियों में इस प्रकार की उत्सुकता होती है, इसीलिए अपने ही दूल्हा को देखने की आतुरता पद्मावती ने अपने विवाह के अवसर पर भी दिखलाई थी, परन्तु नागमती भी तो स्त्री थी, और जो व्यक्ति उसको उसके पति से छीनना चाहता है उस दुष्ट का मुँह देखना क्या पतिव्रता के लिए उचित है—इस हीनाचार से यदि अलाउद्दीन यह समझता कि जिस प्रकार मैं इसके रूप का क्रीतदास हूँ उसी प्रकार यह मेरे बल-वैभव के सामने झुक सकती है, तो क्या वह गलती करता ? दूती कुमोदिनी जिन पकवानों को लेकर पद्मावती को पटाने आई थी उनको स्वीकार न करना उसके चरित्र का कोई विशेष गुण नहीं है; अन्त में भी पद्मावती जौहर न कर सकी प्रत्युत सती हो गई। इस प्रकार जायसी के नायक तथा नायिका ऐतिहासिक तो हैं ही नहीं, सामान्य से भी नीचे स्तर के हैं, उनमें न तो उनकी जाति के गुण हैं न उनके व्यक्तित्व के। जायसी ने जान-बूझकर कोई परिवर्त्तन न किया हो शायद हीन जनता के सामान्य गुणों को ज्यों-का-त्यों उन्हीं की बातों से अपना लिया हो।

काव्य-सौन्दर्य

सूफी कवियों की प्रवृत्ति उनकी काव्य-शैली में भली भाँति झलकती है, वे सामान्य जनता के मनोरंजन में योग देकर उसके हो जाते थे और उसका विश्वास प्राप्त करके उसको अपना उपदेश सुनाते थे। जो कवि गम्भीर होते थे उनका टिकना बड़ा कठिन था, जायसी की तो सूरत देखकर ही लोग मजाक उड़ाते थे[3], केवल उपर्युक्त युक्ति ही

---

१. सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई॥
जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह-देह हम्ह लाग अनंगा॥ (जन्मखंड)
× × ×
मैं जानेउँ जोबन रस भोगू। जोबन कठिन सन्ताप वियोगू॥
× × ×
जोबन भर भादौं जस गंगा। लहरैं देइ, समाइ न अंगा॥
(पद्मावती-वियोग-खंड)
और सहेली सबै बियाही। मों कहँ देव! कतहुँ बर नाहीं॥ (बसंत खंड)

२. पवन स्रवन राजा के लागा। कहेसि लड़हि पदमिनि औ नागा॥
दूनौ सवति साम औ गोरी। मरहिं तो कहँ पावसि असि जोरी॥
(नागमती-पद्मावती-विवाद-खंड)

३. जेहि मुख देखा तेइ हँसा, सुनि तेहि आयउ आँसु। (पृ० ६)

उनका सफल बना सकी। उस्मान ने लिखा है कि उनको मनोरंजन की बातें इसलिए करनी पड़ती हैं कि यदि वे ऐसा न करें तो लोग उनकी खिल्ली उड़ाते हैं[1], उनकी गम्भीर बातों को सुनने का तो प्रश्न ही नहीं आता। अतः विनोद एक साधन था जिसके आवरण में सूफी कवि अपनी तीखी बूटी 'मुग्ध' जनता को पिला दिया करता था। इस काव्य में इसीलिए एक ओर खिलवाड़ है दूसरी ओर उपदेश, दोनों का संयोग वहाँ होता है जहाँ कवि खिलवाड़ करके अपने अगाध ज्ञान का परिचय देता हुआ अपने को गुरुपद के योग्य सिद्ध करता है।

खिलवाड़ एवं गम्भीरता के इस योग (ज्ञान प्रदर्शन) के अनेक उदाहरण सभी काव्यों में मिलते हैं, परन्तु सभी काव्यों में उसका रूप एक सा ही नहीं है। जायसी किसी लोकशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हैं और श्लेष अथवा यमक की सहायता से प्रस्तुत वर्णन के साथ-साथ उस शास्त्रविशेष की प्रक्रिया अप्रस्तुत रूप से आती रहती है, सिंघि गुटका (पृ० १२६), पासा (पृ० १३०), जोगी (पृ० १२६), बेनी (पृ० १६६) तथा फुलवारी (पृ० १६२) के प्रसंग तो प्रसिद्ध हैं ही, काया-भीतर (पृ० १२६) मन डाल (पृ० २६४) आदि के स्थल भी देखने योग्य हैं। नूर मुहम्मद ने 'अनुराग बाँसुरी' में साहित्यशास्त्र के शब्दों को इस शैली के लिए अपनाया है, उनके यहाँ एक ही स्थल पर शास्त्रविशेष के सभी शब्द नहीं आते प्रत्युत किसी वर्णन में एक शब्द है तो किसी में कोई दूसरा शब्द, इस प्रकार 'सांतरस', 'करुना रस', 'उनमाद', 'जड़ता', 'परलाप', 'निश्चय', 'संदेह', 'स्वाधीनभर्तिका', 'रूपगर्विता', 'प्रेम गर्विता' आदि रस, प्रेमदशा, अलंकार तथा नायिका भेद के पारिभाषिक शब्दों का बड़ा भद्दा प्रयोग[2] 'अनुरागबाँसुरी' में मिलता है। उस्मान की 'चित्रावली' में 'वासकसेजा' (पृ० २२८), 'नियखंडित' (पृ० २२६), 'नायिका धीरा' (पृ० २२६) आदि साहित्य शास्त्र के, और 'सुरति' तथा 'महासुख' (पृ० २१०) आदि योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं, तो 'माधवानल कामकंदला' में आलम ने रागों के साथ उनकी सभी रागिनियों[3] के नाम परिचय सहित गिना दिये हैं[4]। सभी लोककहानीकारों ने अपने काम शास्त्र के ज्ञान का तो पूरा परिचय दिया ही है जायसी में शकुन विचारने के लिए दिशा शूल, योगिनी तिथि तथा राशि के फल का भी लम्बा वर्णन (पृ० १६८-६६) है यह प्रथा अपभ्रंश के लोक-साहित्य में भी थी वीर-काव्य में भी इसका प्रभाव रहा और

---

१ जो न हँसौं तो सब हँसहिं, हँसौं तो हँसी न जाइ। (चित्रा० १७३)

२ पिय के प्रेम गर्व जो राखै। कवि तेहि प्रेमगर्विता भाखै॥ (पृ० ६)
निश्चय जब दरसन निरखावै। अलंकार सन्देह न भावै॥ (६६)
करुना रस उपजत है मोही। चित्रौं बिना जीव को तोही॥ (७३)

३ बहुरि अलाप राग षट पंच पंच संग बाल। (आदि से लेकर आगे तक)

४ 'चित्रावली' में सारे राग और उनकी रागिनियों के साथ साथ सप्तस्वर का भी विस्तृत परिचय दिया गया है। (देवखंड, पृ० २९-३०)
'पद्मावत' में भी देखिए 'राजा-बादशाह-युद्ध-खंड', पृ० २३५

आगे चलकर 'रामचरित मानस' में भी इसकी छाया मिलती है।

ज्ञान-प्रदर्शन से रहित कोरी खिलवाड़ उन स्थलों पर मानी जावेगी जहाँ ऐतिहासिक नामों का श्लिष्ट प्रयोग है; ऐसे वर्णन 'पद्मावत' में हैं; शृंगार रस के प्रसग में 'राम', रावन', तथा 'लछन' प्रायः श्लिष्ट है, सबसे सुन्दर उदाहरण 'रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खंड' में है—

हुलसी लंक कि रावन राजू।
राम लखन दर साजहिं आजू ॥[1] (पृ० १२३)

और कोरे उपदेश की प्रवृत्ति भी अनेक स्थलों पर है, प्रेम, ज्ञान, विद्या, मित्रता, भाग्य, रूप आदि के विषय में सूफियो को बहुत कुछ कहना है। यह उपदेश जहाँ नीतिकाव्य बन जाता है उस रूप पर तो आगे विचार करेंगे, यहाँ किसी शब्द की धक पूरने वाली शैली को देखिए। किसी एक शब्द को पकड़कर उसका दम निकाल देना इन काव्यों का एक गुण है, प्रायः 'सत्त' तथा 'दत्त' दोनो भाइयों[2] पर यह आपत्ति आई है 'चित्रावली' (पृ० १६) में भी तथा 'पद्मावत' में भी; 'दत्त' का दूसरा नाम 'दिया' है, जायसी को 'दत्त' 'सत्त' से भी अधिक प्यारा था[3], इसलिए इसके वर्णन में उनका मन रम गया है—

धनि जीवन औ ताकर हीया। ऊँच जगत महँ जाकर दीया॥
एक दिसा तें दस गुन लहा। दिया देखि सब जग मुख चहा॥
दिया करै आगे उजियारा। जहाँ न दिया तहाँ अँधियारा॥
दिया मँदिर निसि करै अँजोरा। दिया नाहिं घर मूसहिं चोरा॥
(पृ० ६१)

रेखांकित शब्दों के या तो श्लेष के कारण दो अर्थ है, या संकेत के कारण, सभी वाक्य दान तथा दीपक दोनो पक्षों मे ठीक उतरते है; अन्तिम वाक्य का एक अर्थ तो सामान्य है—दीपक के कारण रात्रि के समय घर में प्रकाश रहता है, यदि दीपक न होगा तो घर में चोर घुस आवेंगे और सब कुछ चुराकर ले जायँगे[3]; दूसरा अर्थ बड़ा सुन्दर है—दान से मन में धर्म जगता रहता है यदि दान न होगा तो मन में काम, क्रोध आदि चोर घुस पड़ेंगे और उसको खोखला कर डालेंगे।

वीर काव्य का प्राण नाद तथा अत्युक्ति माने गये हैं, सूफी काव्य शब्द पर मुग्ध थे—शब्द के अभिधेय एक या अनेक अर्थ तो यहाँ पर शोभा के कारण बनते ही हैं, शब्द के सांकेतिक अर्थ भी सराहनीय हैं। कुछ विद्वानो ने सूफियो के विदेशी काव्य

---

१. कमर (लंक) प्रसन्न हुई कि आज राजा उस स्त्री (रामा) के शृंगार (लखन) को लूटता हुआ (दर) उसके साथ रमण करेगा। दूसरा अर्थ—लंका प्रसन्न हुई कि आज राम और लक्ष्मण, रावण को मारकर, उसको सुशोभित करेंगे।

२. दत्त सत्त हैं दूनौं भाई। दत्त न रहै सत्त पै जाई॥ (जा० ग्रं० १७१)

३. भर्तृहरि ने धन की तीसरी गति नाश ही मानी है—

दानं भोगो नाशस्च तिस्त्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

में इस सांकेतिकता को देखकर यह अनुमान लगाया है कि सूफियों के संदेश गुप्त होते थे इसीलिए वे इस शैली को अपनाते थे विदेशी सूफी काव्य को इस्लाम से भी सदा डर रहता था इसलिए खुला उपदेश न देकर वह संकेत द्वारा समझने वाला को अपनी बात समझाता था भारत में सूफियों पर इस प्रकार का कोई बंधन न था फिर भी अपनी परम्परा की रीति वे न छोड़ सके, दूसरा कारण युगप्रभाव भी था ही, यही समय 'सन्ध्याभाषा' के अनुकरण का था यही समय 'उलटबाँसियों' का था, सम्भव है युग की गति को समझकर ही सूफियों ने अपनी परम्परा के उस गुण को यहाँ सुरक्षित रखा। ध्यान देना होगा कि फारसी कविता के प्रतीक प्याला, साकी और शराब का हमारे सूफियों में अधिक प्रचार नहीं है[2], इनका अनुराग तो कुछ ऐतिहासिक नामों तथा कुछ प्राकृतिक पदार्थों से ही जान पड़ता है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार जहाँ अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत की व्यंजना हो वहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार माना जाता है इस प्रसंग में यह भी आवश्यक है कि प्रयुक्त अप्रस्तुत ऐसा प्राकृतिक पदार्थ हो जो कविलोक में व्यंग्य प्रस्तुत के लिए प्रसिद्ध हो यदि ऐसा न होगा तो समझने में पाठक को बड़ी कठिनाई होगी, कदाचित् इसी बात को ध्यान में रखकर साहित्यशास्त्रियों ने रूपकातिशयोक्ति के उदाहरणों में अप्रस्तुतों के प्रयोग से नायिका या नायक के अंगों का वर्णन ही रखा है। सूफियों ने इस प्रसाधन से भी पर्याप्त लाभ उठाया है —

(क) पन्नग, पंकज मुख गहे खंजन तहाँ बईठ। (जा० ग्र० ४७)
(पन्नग = चोटी, पंकज = मुख, खंजन = नेत्र)

(ख) ससि पर गलक ढरत निन देखा। (अनुराग बाँसुरी ७१)
(ससि = मुख, गलक = आँसू)

(ग) अचरज भएउ सबन्ह पहँ, भइ ससि कँवलहि भेंट। (जा० ग्र० १८४)
(ससि = नायिका का माथा, कँवल = नायक के चरण)

सूफियों की इस प्रतीक शैली में इतनी रुचि नहीं है जितनी कि एक दूसरे प्रतीक प्रकार में, जहाँ पर दो व्यक्तियों (या दो स्थानों) का पारस्परिक सम्बन्ध दो प्रसिद्ध प्राकृतिक (या ऐतिहासिक) पदार्थों (या नामों) (यह व्यंग्य सम्बन्ध जिनमें लोक प्रसिद्ध है) के प्रयोग से बतलाया जाता है। प्रथम वर्ग (प्राकृतिक पदार्थों के प्रयोग) में मालती-मधुकर मधुकर-कंज चन्द्र-सूर्य, तारा-शशि, कंज-सूर्य आदि के जोड़ों पर ध्यान देना पड़ेगा यहाँ व्यञ्जना उनके गुणों और पारस्परिक सम्बन्धों की होती है इसलिए यह भी हो सकता है कि व्यक्ति भेद से गुण भेद की व्यञ्जना हो, जो व्यक्ति शशि है

---

१ अनुराग बाँसुरी, (काव्यचर्चा, पृ० २२)

२ इन प्रतीकों का प्रयोग है तो सही परन्तु कम, "पद्मावती रतनसेन भेंट खंड
बिनय कर पद्मावति बारा। सुधि न, सुराही पिएउ पियाला॥
पिउ आयसु माथे पर लेऊँ। जो माँग नइ नइ सिर देऊँ॥
प, पिय ! बचन एक सुनु मोरा। चाखु, पिया ! मधु थोर थोरा॥ (पृ० १४१)

उसका तारागण के साथ एक विशेष गुणवाला सम्बन्ध होगा और सूर्य के साथ एक नितान्त ही भिन्न गुणवाला :—

(क) चांद सुरुज सत भाँवरि लेहीं । नखत मोति नेवछावरि देहीं ॥ (जा० ग्रं० १२७)
(चांद = नायिका, सुरुज = नायक, नखत = सखियाँ) ।

(ख) आयी जगन्नाथ दरबारा । ससिहर लियै संग दुइ तारा ॥ (चित्रा० २३३)
(ससिहर = नायक, दुइतारा = दो नायिकाएँ)

[1](ग) मधुकर भँवै कंज बैरागा । कंज क मन सूरज सौं लागा ॥
सूर दरस जब कौल बिगासा । तब पूजै मधुकर मन आसा ॥ (चित्रा० १४७) ।
(मधुकर = कमलावती, कंज = नायक सुजान, सूर = नायिका चित्रावली) ।

(घ) मधुकर कौं भइ मालति प्यारी ॥ (अनुराग बाँसुरी, ३६)
(मधुकर = नायक, मालति = नायिका) ।

(ङ) कहाँ बसत केहि कुसुम गुन, मधुकर हिये विचारु ।
भूलि रहा केँहु कौल केँह, मालति बेलि सँभारु ॥ (चित्रा० १६६)
(मधुकर = सुजान, कौल = कमलावती, मालति = चित्रावली)

दूसरे वर्ग में ऐतिहासिक नामों के प्रसिद्ध सम्बन्ध में प्रस्तुत पारस्परिक सम्बन्ध की व्यंजना होती है; पद्मावत में इसके सुन्दर उदाहरण है—

(क) छोड़ी राम अयोध्या, जो भावै सो लेव । (जा० ग्रं०, २६८)
(राम = रत्नसेन, अयोध्या = चितौड़) ।

(ख) भए अलोप राम औ सीता । (जा० ग्रं० ३००)
(राम = रत्नसेन, सीता = पद्मावती) ।

(ग) हनिवँत कहा सीय कुसलाता । राघव बदन सुनत भा राता ॥ (चित्रा०, १७८)
(हनिवँत = परेवा, सीय = चित्रावली, राघव = सुजान) ।

(घ) जहँवा राम तहाँ पुनि सीता । (वही, १७६)
(राम = सुजान, सीता = कमलावती) ।

(ङ) राम अजुध्या ऊपने, लछन बतीसो संग ।
रावन रूप सौं भूलिहि, दीपक जैस पतंग ॥ (जा० ग्रं०, २०)
(राम = पद्मावती, अजुध्या = सिंहल, रावन = रत्नसेन) ।

(च) आजु मिली अनिरुध कहँ ऊखा ॥ (जा० ग्रं० ११६)
(अनिरुध = रत्नसेन, ऊखा = पद्मावती)

(छ) राम जाइ भेंटी कौसिला ॥ (वही, १८८)
(राम = रत्नसेन, कौसिला = 'माइ सुरसती') ।

सूफियों में एक तीसरे प्रकार का भी संकेत मिलता है, जिसको दुहरा प्रतीक

---

१. इस उदाहरण से स्पष्ट है कि "प्रतीक प्रयोग" में केवल दो व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध की व्यंजना होती है, उन व्यक्तियों की नहीं; अन्यथा नायक को कमल एवं नायिकाओं को मधुकर तथा सूर्य कहने में दोष आजावेगा ।

कह सकते हैं। बीसलदेव रासो' में एक प्रयोग 'बादल छायो है चन्द्रमा' है, जहाँ 'चन्द्रमा' 'मुख के लिए, तथा बादल' 'नाव' के लिए आया है, बादल का अर्थ चन्द्रमा के अर्थ पर निर्भर है और बादल के कथन से एक अमूर्त गुण की व्यंजना होती है। जायसी में भी इस प्रकार के प्रयोग हैं—

(क) जबहिं सुरुज कहँ लागा राहू। तबहिं कँवल मन भएउ अगाहू॥ (पृ० १०६)
(सुरुज = नायक राहू = कष्ट)

(ख) आजु सूर दिन अथवा, आजु रैनि ससि बूड़॥(पृ० २६६)
(सूर = तेज, दिन = नायक, रैनि = नायिका, ससि = कांति)

इस प्रसंग में भी व्यक्तियों का व्यंजना न होकर उनके पारस्परिक सम्बन्ध के आधार भूत गुण की व्यंजना होती है।

इन दो उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त सूक्तियों की लोक-कहानियों में एक सुन्दर प्रवृत्ति नीति की भी है, वीरकाव्य भी लोक-काव्य होने के नाते सूक्तियों से भरा हुआ है, परन्तु वीरकाव्य में जिन गुणों को लेकर सूक्तियाँ आती हैं उन गुणों का इन सूफी काव्यों में कोई स्थान न था वहाँ साधारण उत्साह व्यावहारिक नीति, राज नीति तथा जीवन की सफलता आदि पर ध्यान दिया गया है परन्तु यहाँ प्रेम, रूप, रोष सत्य, दान आदि का विशेष आग्रह है। इन स्थलों में कोई एक ही अलंकार नहीं है, शायद लोककवि इस बात की परवाह भी नहीं करता—

(क) रूप तथा प्रेम—

१ जहाँ रूप तहँ प्रेम। (चित्रा० १३)

२ सदा न रूप रहत है, अन्त नसाइ।
प्रेम रूप के मारहिं, ते घटि जाइ॥ (अनु० बाँसुरी ६)

(ग) नेह—

१ का सो प्रीति तन माँह बिलाई। सोइ प्रीति जिउ साथ जो जाई॥
(जा० ग्र० २२)

२ प्रीति न नेह काहू सौं कीज। नाव मिटै, काहे जिउ दीज॥
पहिले सुख नेहहिं जब जोरा। पुनि होइ कठिन निबाहत ओरा॥
(वही ५०)

३ प्रेम की आगि जरे जौं कोई। दुख तेहि कर न अँबिरथा होई॥ (वही, ६५)

४ परिमल प्रेम न आछ छपा। (वही ६१)

५ प्रीति बेलि जिनि अरुझै कोई। अरुझै, मुए न छूट सोई॥ (वही, १०८)

६ ऊपर राता भीतर पियरा। जारौं ओहि हरदि अस हियरा॥ (वही १६४)

७ कन्हूँ प्रेम कि बाँधे होई। बरबस प्रेम करै नहिं कोई॥ (चित्रा० १४६)

८ मीख लिए तें बाढ़, अधिक सनेह।
भीख न चाहै एहि जग, नेहो नेह॥ (अनु० बाँ० ३५)

९ नेह न छिपे छिपाएँ, जिमि मृगसार।
चहूँ दिसि ल पहुँचाव, पवन-बयार॥ (वही ८१)

(ग) सुन्दरता—

१. सुंदर मुख देखे सुख होई । सुन्दरता चाहै सब कोई ।। (अनु० बां० ४५)

२. सुंदर मुख की आँखिन, चाही लाज ।
लाज बिना सुंदरता, कौनें काज ।। (वही, ७२)

(घ) शेष भाव—

१. दुइ सो छपाये ना छपें, एक हत्या एक पाप ।। (जा० ग्रं० ३५)

२. रिस आपुहिं, बुधि औरहिं खाई ।। (वही, ३७)

३. जेहि रिस कै मरिये, रस जीजै । सो रस तजि रिस कबहुँ न कीजै ।।
(वही, वही)

४. साहस जहाँ सिद्धि तहँ होई । (वही, ६२)

५. गुपुत चोर जो रहै सो साँचा । (वही, ९४)

६. जोगी भँवर निठुर ए दोऊ । केहि आपन भये ? कहै जो कोऊ ।।
एक ठाँव ए थिर न रहाहीं । रस लेइ खेलि अनत कहँ जाहीं ।।
(वही, १३६)

७ पुरुष न आपनि नारि सराहा, मुए गए सँवरै पै चाहा ।। (वही, १८२)

८ पाप न रहै छिपाएँ छिपा । छिपै पुन्य जो अहनिसि जपा ।। (चित्रा० ५४)

९ औ निहचै जानहु जिय माहीं । दुख दिन कर कोउ साथी नाहीं ।।
(चित्रा०, १६६)

१०. जनमभूमि मों जब लगि कोई । तब लगि गुनी-विदग्ध न होई ।। (अनु० २०)

११. जो न ठौर आपन पहिचाना । तेहि नसान आदर, पछिताना ।। (वही० ७४)

१२. सुख सम्पति सब दीन्हा दाता । मारु न छौर भात सों लाता ।। (इन्द्रावती)

सौन्दर्य-योजना पर विदेशी प्रभाव

हिन्दी में कविता करनेवाले मुसलमान कवियों की प्रवृत्ति को ठीक-ठीक समझने के लिए उनकी प्रस्तुत सामग्री की अपेक्षा अप्रस्तुत रूप में लाई गई सामग्री अधिक महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः हम हिन्दी-प्रेमी मुसलमानों को दो वर्गों में रख सकते हैं—(क) वे कवि जिनके सस्कार भारतीय हो चुके थे, (ख) वे कवि जिनमें विदेशीपन प्रचार बनकर उमड़ा पड़ता है। पहिले वर्ग में रहीम, रसखान, मुबारक आदि आते हैं, इनकी कविता तो भारतीय विचारों से भरी है ही, अप्रस्तुत रूप में आनेवाली सामग्री भी ठेठ भारतीय है; ये सभी कवि भारतीय आराध्य के ऊपर कुरबान[1] होकर उसकी श्यामल छवि[2] पर त्रिलोक का ऐश्वर्य वारने के लिए तैयार थे,[3] इसलिए भारतीय जीवन, भारतीय वनस्पति, भारतीय इतिहास, तथा भारतीय पुराणों से ही इनके

१. नंद के कुमार कुरबान तांडी सूरत पै ।
तांडे नाल प्यारे हिन्दुवानी हो रहूँगी मैं । (ताज)

२. मोहि वाकी स्यामताई लागति उज्यारी है । (आलम)

३. या लकुटी औ कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं । (रसखान)

अप्रस्तुत आये हैं, रहीम कवि जब युवती आँखों का वर्णन करने लगे तो उनकी कल्पना में दो वस्तुएँ ही आईं ऐसा कमल जिसमें मधुकर बैठा हो अथवा चाँदी के पात्र में रखी हुई शालिग्राम की पिण्डी,[1] जब हाथी को धूलि उड़ाते देखा तो पुराणों का रहस्य उनकी समझ में आ गया[2] । रसखान ने जब विरहिणी के नेत्रों को देखा तो जल विहीन मछली से उनकी तुलना[3] करने लगे । इसी प्रकार के अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी रचना में विदेशी प्रभाव नहीं है, भारतीय हृदय का ही निश्छल रूप है ।[4]

दूसरे वर्ग में सूफी कवि आते हैं जिनकी अप्रस्तुत सामग्री विदेश से ही अधिक आई है इनके काव्यों में विदेशी कथाओं के अनेक प्रसंग आते हैं उसमान में हदीस की कितनी ही बार आवश्यकता पड़ती है कवि निसार ने तो भारतीय प्रेम-कथाओं को झूठा समझकर यूसुफ-जुलेखा की साँच कथा[5] को भाषा[6] में कहना अपना उद्देश्य बनाया था । आदिल नौशेरवाँ दानी हातिम जुलकरन सिकन्दर सुलमान तथा उमर बार-बार अप्रस्तुत बनकर चले आते हैं भारतीय इतिहास के भी अप्रस्तुत हैं अवश्य, परन्तु केवल वे ही जिनको कथा से अलग करना सम्भव न था कहीं कहीं तो भारतीय सामग्री को विकृत कर दिया है । जनता की लोक संस्कारों में परिवर्तन की प्रवृत्ति पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं, यहाँ केवल इतना ही कहना और अभीष्ट है कि प्राचीन इतिहास से अनभिज्ञ होना तो क्षम्य है परन्तु उसको विकृत करने का प्रयत्न असावधानी कहकर टाला नहीं जा सकता । जायसी के पद्मावत में राम-सीता को अति सामान्य पात्र बना दिया गया है कितने ही स्थानों पर ऐसी ध्वनि है जिसमें कवि की राम या सीता के प्रति कोई सद्भावना नहीं जान पड़ती—

(क) तौ लगि सुगुनि न लेइ सखा, रावन सिय जब साथ ।
　　कौन भरोसे अब कहौं ? जीउ पराए हाथ ॥ (पृ० १००)

(ख) तुही एक मैं बाउर भेंटा । जस राम दसरथ कर बेटा ।
　　ओहू नारि कर परा बिछोवा । एहि समुद्र मँह फिरि फिरि रोवा ॥
　　　　(पृ० १८२)

प्रथम उदाहरण में पद्मावती स्वयं ही रत्नसेन के लिए पत्र लिखते हुए अपने अमिलन

---

१ रहिमन पुतरी स्याम, मनो जलज मधुकर लसैं ।
　कधौं सालिगराम, रूपे के अरघा धरे ॥

२ धूलि उड़ावत सीस पर कहु रहीम केहि काज ।
　जेहि रज मुनि घरनी तरी, सो ढूँढत गजराज ॥

३ उनहीं बिन ज्यौं जलहीन ह्वै मीन सी आँखि मेरी अँसुवानी रहैं ॥

४ दे० हमारा लेख 'सूफियों की अलंकार योजना'
　(हिन्दी अनुशीलन वर्ष ३, अंक २, आषाढ़ भाद्रपद २००७)

५ झूठि जानि सबसे मन भागा । अब यह साँच कथा चित लागा ॥

६ भाषा माँ काहू ना भाखा । मोरे मन दइव लिखि राखा ॥

की समानता इतिहास की एक प्राचीन एवं प्रसिद्ध घटना से करती है—जब तक सीता साथ थी तब तक रावण उसका भोग न कर सका, अब तो वह दूसरे के बन्धन में है, अब क्या आशा या भरोसा ? तो क्या कवि यह चाहता है कि रावण अधिक चतुर होता तो अच्छा था ? निश्चय ही 'रावन' शब्द का दूसरा अर्थ भी है तथा 'सिय' शब्द यहाँ पद्मावती के ही लिये आया है, परन्तु जो नीच ध्वनि उस वाक्य से निकलती है उससे कान बन्द नहीं किये जा सकते । दूसरे उदाहरण में पोत-भंग के अनन्तर हताश रत्नसेन को ब्राह्मण समझा रहा है—मैंने तो तू ही एक मूर्ख देखा है या एक और भी था दशरथ का (नालायक) लड़का राम, वह भी तेरे ही समान अपनी स्त्री को खोकर इसी समुद्र में बार-बार विलाप करता रहा था । मर्यादापुरुषोत्तम का जो एक विशेष गुण है अनन्य-स्त्रीव्रत, उसको कैसी मखौल से उड़ाने का प्रयत्न किया गया है ? लोक में राम के प्रति जो श्रद्धा है वह उनके कुछ गुणों ही के तो कारण, यदि उन गुणों को, एक-एक करके ही सही, काटते चले जावेंगे तो श्रद्धा कहाँ खड़ी रह सकेगी ?[1] इतना ही नहीं 'पद्मावत' में राघव को शैतान[2] बना दिया है, ब्राह्मण या तो 'निपट भिखारी'[3] है या नीच दूत ।[4] इस प्रकार प्राचीन संस्कारों तथा प्राचीन विश्वासों के प्रति घोर तिरस्कार की भावना इन काव्यों में है; दूसरी ओर विदेशी विश्वासों तथा विदेशी इतिहास के प्रति अटूट श्रद्धा दिखलाकर अपनी प्रवृत्ति का परिचय इन कवियों ने दिया है ।[5]

इतना ही नहीं, सूफी कवियों ने प्राकृत अप्रस्तुत भी विदेश से लिये हैं; जायसी में भारतीयता का प्रयत्न है, उसमान ने भी प्रयत्न किया है, परन्तु नूर मुहम्मद तो नरगिस के बिना अपना काम नहीं चला सकते वे कमल को भूल गये और नेत्रों का उपमान नरगिस ही स्थिर हो गया[6], जायसी और उस्मान ने स्त्री जाति का उपमान फूलवारी को बनाया है[7] एक बार नहीं अनेक बार । स्त्री जाति के प्रति सूफी लोग केवल विलास की भावना रखते हैं, किसी भी स्त्री के लिए "प्यारी"[8] कहना तो इनका

१. दे० हमारा लेख "जायसी और रामकथा" । (साहित्य-संदेश, भाग १०, अंक ५, नवम्बर, १९४८)

२. राघव दूत सोई सैतानू ॥ (उपसंहार)

३. बाम्हन हुत एक निपट भिखारी । (बनिजारा-खंड)

४. दूती एक बिरिध तेहि ठांऊ । बाम्हनि जाति, कुमोदिनि नाऊँ ॥ (देवपाल दूती-खंड)

५. यह मुहम्मदी जन की बोली । जामों कंद-नबातें घोली ॥
बहुत देवता को चित हरें । बहु मूरति औंधी होइ परें ॥
बहुत देवहरा ढाहि गिरावें । संख-बाद की रीति मिटावें ॥ (अनु० बाँ०, ४)

६. नरगिस फूल बिलोकि सयाना । ओहि लोचन के ध्यान भुलाना ॥ (अनु०, बाँ० ३४)

७. पदमावति सब सखी बुलाई । जनु फुलवारि सबै चलि आई ॥ (जा० ग्र० २३)
सखी सहेली लीन्ह हँकारी । आई सब जानहुँ फुलवारी ॥ (चित्रा०, ४६)

८. आप गई मंदिर कहँ प्यारी । बहुतन को कर गई भिखारी ॥ (इन्द्रावती)

स्वभाव है, ऐसा जान पड़ता है कि एसे स्थलो पर हृदय की उदारता नहीं है प्रत्युत कामुकता ही है फलत नायिका क उन अंगो का वर्णन अधिक है जिनकी चर्चा सभ्य समाज में कामुकता मानी जायगी[1], सामान्य वर्णन में भी यही स्पष्टता झलकती है[2], काम शास्त्र खड (चित्रावली) तथा स्त्री भेद वर्णन-खड (पद्मावत) की तो चर्चा ही व्यर्थ है। सूफियो की नायिका इसलिए सौकुमार्य का अवतार बन गई है, उसके वस्त्र, उसका भोजन उसका हास और उसके आँसू सभी हास्यास्पद बन गये है, उसका पान की पीक निगलना एक मनोरजक दृश्य है—

मकरि क तार तेहि कर चीरू। सो पहिरे छिरि जाइ सरीरू॥ (जा० ग्र०, २१६)
नस पानह क काढ़हि हेरी। अधर न गड़ फाँस ओहि केरी॥ (वही २१६)
खीर अहार न कर सुकुँवारी। पान फूल के रहे अधारी॥ (वही, २०८)
क लँबोल क फूल अधारा। (चित्रा०, ७६)
वोहि क बोल जस मानिक मूगा। (वही, ६६)
घूट जो पीक लीक सब देखा। (जा० ग्र०, ४५)

इन कवियों ने स्त्री के कुछ अगो पर विशेष ध्यान रखा है और उनके वर्णन में एक विशेष गुण पर जोर दिया है इन अगों में और उनके विशिष्ट गुणों में कटि की सूक्ष्मता अधरो की मधुरता स्तनो की उत्तुगता तथा नेत्रो की वक्रता के विषय में सभी एक मत ह, और ध्यान इस बात पर जाता है कि इनके वर्णन में इन कवियों ने रस निष्पत्ति की ओर अधिक सावधानी नहीं दिखलाई इसलिए अधिकतर पक्तियाँ या तो परपरा का निर्वाह या लोक-साहित्य का निदर्शन होकर केवल रम्य सूक्ति मात्र बन जाती ह, उनसे रति की व्यजना नहीं होती। जायसी ने नायिका की कटि इतनी झीनी[3] कर दी कि उसमान को उसके अस्तित्व[4] पर सदेह होने लगा, और नूर मुहम्मद ने कभी उसको 'नाही' से निर्मित[5] समझा और कभी 'नाहीं' का निदर्शन[6]। अधर अमृत से भरे[7] हो सकते हैं परन्तु उसमान जब उनका वर्णन करने लगे तो उनके मुख में पानी[8] भर आया, नूरमुहम्मद जब कभी मधु और मिसरी को बाजार में बिकता हुआ देखते हैं तब-तब उनको नायिका के अधरों का ध्यान आ जाता है[9], भाग्यशाली चित्र

---

१ जो देख यह छनिय सुहावा। पूरन काम सो धान सतावा॥ (युसुफ-जुलेखा)
दारिउँ दाव फरे अनचाखे। अस नारँग दहुँ का कहँ राखे॥ (जा० ग्र०, ४६)
२ अस क अधर अमी भरि राखे। अबहि अछूत, न काहू चाखे॥ (वही, ४४)
३ बसा लक बरन जग झीनी। तेहि तें अधिक लक वह खीनी॥ (जा० ग्र०, ४७)
४ लक छीन जेहि भ ग लजाहीं। कोउ कह आहि, कोउ कह नाहीं॥ (चित्रा०, ६३)
५ पातर लक केस की नाँई। नाहीं सो मिरजा जग साँई॥ (इन्द्रावती)
६ जो कोई 'नाहीं' देखन चहै। ता कटि देख, नाहीं अहै॥ (अनु० १३)
७ अस के अधर अमी भरि राखे॥ अबहिं अछूत, न काहू चाखे॥ (जा० ग्र०, ४४)
८ अधर सुधानिधि बरनि न जाई। बरनत मति रसना पनियाई॥ (चित्रा०, ७२)
९ जो मधु मिता ओर चित गएऊ। रामा अधरन सों सुधि भएऊ॥ (अनु०, ४६)

कार जब उन अधरों का चित्र बनाने बैठा तो उसकी लेखनी भी मीठी हो गई[1]। इन सब वर्णनों से जो व्यंजना सोची गई थी वह न हो पाई, पाठक का मनोरंजन ही होता है अभीष्ट भाव तक वह नहीं पहुँचता; सूफी कवि यह समझता है कि जैसा उसका हृदय है वैसा पाठक का भी पहिले से ही तैयार, इसलिए संकेत पाते ही उसमें रसोद्रेक हो जायगा, वर्णन की सामग्री जुटाने पर वह निर्भर नहीं रहता।[2]

सूफी काव्य में वीभत्स वर्णनों की ओर आलोचकों का ध्यान गया है, यह वीभत्सता संयोग श्रृंगार में भी है तथा वियोग में भी; चरण, हथेली, तथा अधर तीनों लाल होते हैं और प्रेमपात्र में चरम सौन्दर्य के सूचक हैं। हमारे इन कवियों ने प्रेम को जान पर खेलना मानकर प्रेमपात्र को प्रायः हत्यारा या हत्यारिनी[3] कह दिया है, जहाँ भी रक्तवर्ण है वहाँ प्रेमियों का रक्त ही लिपटा हुआ मिलेगा—

(क) रकत लाग रह पायन संगा। जानहिं लोग महाउर रंगा॥ (चित्रा०, ७८)

(क) हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा। रुहिर भरी अँगुरी तेहि साथा॥
(जा० ग्र०, ४६)

(ग) राता रकत देखि रँगराती। रुहिर भरे आछहिं बिहँसाती॥
(जा० ग्र०, ४४)

फारसी का यह प्रभाव इन सूफियों में स्पष्ट ही दिखलाई पड़ता है। वे नायिका के अंग-अंग को जहाँ अत्यधिक कोमल तथा रमणीय मानते हैं वहाँ उसको विषैला तथा हृदय-वेधक भी कह देते हैं, उनके यहाँ प्रेम एक प्रकार से मृत्यु का प्रथम आमन्त्रण है, यह बात दूसरी है कि प्रेम पर मरकर प्रेमी अमर हो जाता है। यह मरण किसी उदात्त भावना का फल नहीं, प्रत्युत तत्कालीन खोखले जीवन का परिहास है, मरणोत्सव के चित्र सभी सूफी काव्यों में हैं जिनसे जीवन का अंधकार नेत्रों के सामने छा जाता है, परन्तु 'चित्रावली' के मरणोत्सव का गोरखधंधा केवल मजाक बन जाता है और देवताओं के समान हम भी उस दृश्य को 'थकि रहे' देखते रह जाते हैं—

मरन लागि दुहु बाद पसारा। सुनि सुजान धायो बेकरारा॥
कहिसि कि नेहरिन्ह बुधि न रत्ती। हौं अब मरौं होहु तुम सती॥
तीनहु गही मरन की टेका। मरन न पाउ एक तें एका॥
देवता सरग जो देखत अहे। इन्हकर प्रेम देखि थकि रहे॥
(२३१–२)

सूफियों का एक प्रसिद्ध अलंकार हेतूत्प्रेक्षा है, जहाँ पर प्रस्तुत के किसी विशेष गुण का उत्कर्ष दिखलाने के लिए उसको किसी प्राकृतिक सत्य का हेतु मान लेते हैं; नायिका के नखशिख का वर्णन करते हुए इस शैली का प्रायः व्यवहार सभी सूफियों

---

१. अधर तेहिक जो लिखै चितेरा। मीठ होइ लिखनी नहिं केरा॥ (इन्द्रावती)
२. अस रूपवंती सुंदर आहै। बिनु देखै सब ताहि सराहै। (इन्द्रा०)
३. हत्यारिन हत्या लेइ चली॥ (बसंत खंड)

में मिलता है। लंगूर का मुख काला होना है[1], तोते की चोंच लाल होती है[2], परन्तु इनके कारण जायसी ने स्वयं कल्पित किये हैं और वे नायिका के शरीर की कुछ दशाएँ हैं। इसी प्रकार नायिका का अंग-सौन्दर्य भी कारण बन जाता है—

दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरकि ॥ (जा० ग्र०, ४४)

गये मयूर तमचूर जो हारे। उहै पुकारेंहि साँझ-सकारे ॥ (वही, ४५)

सब न सम भा साँझ सकारा। तातें जहँ तहँ कर पुकारा ॥ (चित्रा० ४४)

दुहुँ कौनास सोऊ सर नाहीं। तातें रथ कनेजे माहीं ॥ (वही वही)

जायसी एक कदम और भी आगे बढ़े हैं और ऐसे स्थलों पर उन्होंने उस शैली को अपनाया है जिसको प्रत्यनीक अलंकार कहते हैं। नायिका के अंग से पराजित होकर अपने उस गुण के लिए प्रसिद्ध पशु या पक्षी अब बदले की भावना से सभी नायिकाओं (या नायिका की जाति=मनुष्यमात्र) को कष्ट देता है—

(क) बसा लंक बरनै जग झीनो। तेहि ते अधिक लंक वह खीनी ॥
परिहँस पियर भये तेहि बसा। लिए लंक लोगन्ह कहँ डसा ॥ (पृ० ४७)

(ख) सिंघ न जीता लंक सरि, हारि लीन्ह बनवासु।
तेहि रिस मानुस रक्त पिय, खाइ मारि कै मासु ॥ (पृ० ४७)

ईश्वर की स्तुति करते समय सूफी कवि एक मौलिक प्रणाली को अपनाते हैं, ईश्वर जब किसी वस्तु को बनाता है तो उसकी आवश्यकता का अनुभव भी उत्पन्न कर देता है, जब उसने कोई रोग बनाया है तो साथ ही उसकी औषधि भी बना दी है, उसकी सृष्टि में कोई भी वस्तु व्यर्थ नहीं है सब एक दूसरे के लिए ही है। इस विचार को कितने सरल एवं प्रभावपूर्ण ढंग से कवियों ने पाठक के सामने रखा है—

(क) कीन्हेसि दरब, गरब जेहि होई। कीन्हेसि लोभ, अघाइ न कोई ॥
कीन्हेसि जियन, सदा सब चहा। कीन्हेसि मीचु, न कोई रहा ॥
(जा० ग्र० २)

(ख) दीन्हेसि काया, जेहि जग पोषा। दीन्हेसि माया, जेहि न सँतोषा ॥
पहिले औषध मूरि बनाये। ता पाछे सब रोग उपाए ॥
(चित्रा०, ३)

वर्णन में कवि लोकोक्तियों की प्रायः सहायता ले लिया करते हैं ये लोकोक्तियाँ लोक में आज भी प्रचलित हैं और अभीष्टार्थ का संकेत देने में पूरी सफल हैं। सूफी लोग लोकोक्तियों का उपयोग नखशिख आदि के वर्णन में नहीं करते, प्रत्युत दान, न्याय, आदि व्यक्ति के तथा शीतलता, ऊँचाई आदि स्थानों के गुणों की सूचना देने के लिए करते हैं—

परी नाथ कोइ छुव न पारा। मारग मानुष सोन उछारा ॥
गऊ सिंह रेंगहि एक बाटा। (जा० ग्र०, ६)

---

१ जरा लँगूर सु राता उहाँ। निकसि जो भागि भएउ करमुहाँ ॥ (पृ० ८६)

२ ओहि रक्त लिखि दीन्हीं पाती। सुआ जो लीन्ह चोंच भइ राती ॥ (पृ० ६६)

मलय समीर सोहावन छाँहा । जेठ जाड़ लागै तेहि माँहा ॥ (वही, ११)
ग्रस भा ग्रदल मते हरि बानी । छाना नवा पुराना पानी ॥
पुहमी परै न पावँ काँटा । हस्ती चाँपि सकै नहिं चाँटा ॥
गाय सिंह गवनहिं एक गली ॥ (चित्रा० ८)

पद्मावत तथा चित्रावली

सूफियों ने हिन्दी में एक दर्जन से ग्रधिक प्रेमकथाएँ[1] कही हैं, जिनमें से ग्राज केवल ग्राधी दर्जन ही देखने को मिलती हैं[2], सम्भवत. कुछ ग्रौर भी पुराने पुस्तकालयों या संग्रहालयों में दबी पड़ी हों; बंगभाषा के मुसलमानों ने उस पुरानी लहर में जो इसी प्रकार का प्रेमसाहित्य लिखा था वह 'केच्छा साहित्य' (किस्सा साहित्य—बाजारू साहित्य) नाम से मिल जाता है, परन्तु उसको कोई पढ़ता नहीं। जायसी ने 'पद्मावत' में सात[3] प्रेमकथाग्रों का नाम लिया था, परन्तु उसने यह नहीं कहा कि वे सब कथाएँ लिखी जा चुकी थीं, उसका संकेत केवल यह है कि लोक में वे कथाएँ उस समय प्रचलित थीं।[4] ग्रागे चलकर उस्मान ने केवल तीन ही कथाग्रों की चर्चा की है[5], सम्भवतः संख्या इसलिए कम हो गई कि उस्मान की दृष्टि में केवल लिखित कथाएँ ही थीं। ग्रस्तु, इन कथाग्रों में से ग्रधिकतर तो बाजारू ही हैं, पद्मावत इनमें सर्वोत्तम है ग्रौर दूसरा स्थान चित्रावली का है।

जायसी की रचना ग्रौरों की ग्रपेक्षा ग्रधिक प्रौढ है, ग्रधिक साहित्यिक है; हिन्दी के सूफी-साहित्य की सभी विशेषताएँ तथा लोक-साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ तो उसमें मिलती ही हैं, भारतीय परम्परा से भी कुछ गुण 'पद्मावत' में ग्राये हैं। जायसी ने भारतीय साहित्य का ग्रध्ययन किया हो, ऐसा तो उनकी रचना से नहीं जान पड़ता, परन्तु भारतीय वीरकाव्य उन्होंने सुने थे ग्रौर उनकी कुछ बातें ग्रपना भी लीं, जिनमें से मुख्य है शृंगार ग्रौर वीर की सामग्री को मिलाकर रखना—ग्रगर प्रस्तुत शृंगार

---

१. चंदायन (मुल्ला दाऊद), मिरगावती (कुतबन), पद्मावती, मधुमालती (मंझन) माधवानल कामकंदला (ग्रालम), इन्द्रावती (नूरमुहम्मद), चित्रावली, ग्रनुराग बाँसुरी, युसुफ-जुलेखा (निसार), खंडरावती, स्वप्नावती, मुग्धावती, प्रेमावती।
२. हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'सूफी-काव्य-संग्रह' के नाम से कुछ प्रेमकथाएँ छापी हैं।
३. विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा ॥
मधूपाछ मुगुधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी ॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ ॥
साध कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह बियोगू ॥
प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। ऊषा लागि ग्रनिरुध बर बाँधा ॥ (पृ० १००)
४. बहुतन्ह ऐस जीउ पर खेला। तू जोगी कित ग्राहि ग्रकेला ॥ (वही)
५. मृगावती मुख रूप बसेरा। राजकुँवर भयो प्रेम ग्रहेरा ॥
सिंघल पद्मावति भो रूपा। प्रेम कियो है चितउर भूपा ॥
मधुमालति होइ रूप देखावा। प्रेम मनोहर होइ तहँ धावा ॥ (चित्रा०, १३)

है तो अप्रस्तुत वीर, और यदि प्रस्तुत वीर है तो अप्रस्तुत शृंगार। 'गोरा बादल-युद्ध यात्रा-खंड व सिंगार-कुर्क' (पृ० २८४) में वीरकाव्य की वही प्रणाली है जिसको 'रूपक वध' कह आये हैं, और जिसको आचार्यों ने 'परिणाम अलंकार कहा है'[1] 'बादशाह चढ़ाई खंड' (पृ० २२५) में प्रस्तुत विषय वीररस का है परन्तु तोपों को 'मतवारी नारी' के रूप में दिखाने के लिए अप्रस्तुत शृंगार रस कर दिया है—

सेंदुर आगि सीस उपराहीं। पहिया तरिवन चमकत जाहीं॥
कुच गोला-दुइ हिरदय लाए। चंचल धुजा रहहिं छिटकाए॥
रसना लूक रहहिं मुख खोले। लंका जरे सो उनके बोले॥

इस प्रकार के वर्णनों में अप्रस्तुत विषय इतना प्रभावशाली है कि प्रस्तुत को पाठक बिलकुल भूल जाता है। तीसरा प्रसिद्ध उदाहरण 'षट् ऋतु-वर्णन-खंड' (पृ० १४८) में वीर सिंगार दोउ' को जीतने वाले 'जोगी' रत्नसेन का है जहाँ पर भी वीर-परम्परा का रूपक-वध ही माना जायगा। इन प्रकार के उदाहरणों से एक बात स्पष्ट है कि यद्यपि दो भिन्न रसों की समानान्तर सामग्री प्रस्तुत अप्रस्तुत रूप से आती है फिर भी यदि इस सामग्री को अलग रखा जाय तो उतनी हानि नहीं होती जितनी कि इस सामग्री को एकरूप करके रूपक बना देने से, रूपक में यदि प्रस्तुत और अप्रस्तुत भिन्न भिन्न रसों के होंगे तो पाठक पर अप्रस्तुत का ही प्रभाव पड़ेगा क्योंकि अप्रस्तुत से उसका परिचय अपेक्षाकृत पुराना होता है फलतः वर्ण्य विषय अभीष्ट रस की दृष्टि से निर्जीव बन जायगा।

जायसी में कला और्रों की अपेक्षा अधिक है जहाँ दूसरे कवियों ने हेतूत्प्रेक्षा का चमत्कार दिखलाया है वहाँ जायसी एक कदम और आगे बढ़कर प्रत्यनीक की सहायता लेते हैं यह ऊपर कहा जा चुका है। कहीं कहीं कवि प्रत्यनीक की ओर तो नहीं गया परन्तु उत्प्रेक्षा पर भी नहीं रहा, उसने अध्यवसाय[2] सिद्ध मानकर अतिशयोक्ति का चमत्कार दिखलाया है—ऐसे स्थलों पर असम्बन्धे सम्बन्ध वाला सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार बड़ा सुन्दर है। तोते की चोंच लाल होती है और वसा का शरीर पीला, परन्तु जब इनका कलात्मक कारण बतलाते हुए हम यह कहें कि रक्त में भीगी हुई चिट्ठी के कारण तोते का चोंच लाल हो गई और नायिका की कटि से पराजित होकर वसा पीली पड़ गई तो ऐसे स्थलों पर हेतु की चमत्कारपूर्ण सम्भावना के कारण हेतूत्प्रेक्षा अलंकार माना जायगा। वसा' वाले उदाहरण में यदि यह और कह दिया जाय कि उसी पराजय का बदला लेने के लिए वसा शत्रुजाति (मनुष्य मात्र) को डसती फिरती है तो फिर यह चमत्कार प्रत्यनीक[3] बन जाता है। इन सभी उदाहरणों में अप्रस्तुत सामग्री ऐसी है जिसके अभीष्ट गुण के विषय में यह सोचा जा सकता है

१ प० रामचन्द्र शुक्ल जायसी ग्रंथावली भूमिका, पृ० ११६।
२ सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते। (साहित्यदर्पण)
३ प्रबलौकस्मात्केन प्रतीकारे रिपोयदि।
तदीयस्य तिरस्कार स्तस्यवोत्कर्षसाधक॥ (साहित्यदर्पण)

कि वह शायद पहिले न भी रहा हो—कौन कह सकता है कि तोते की चोंच सदा से ही लाल है, और बसा का शरीर सदा से ही पीला है ? परन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके विषय में यह प्रश्न ही नहीं उठता जैसे सूर्य का दीप्त होना, आकाश में इन्द्र-धनुष का निकलना आदि प्राकृतिक व्यापार, क्योंकि यदि इन व्यापारों में वह गुण न रहा होगा तो वे व्यापार भी न रहे होंगे—उनका अस्तित्व ही उन गुणों पर निर्भर है। ऐसी स्थिति में जो सम्भावना होती है वह वर्ण्य-वस्तु के गुण तथा अप्रस्तुत के गुण दोनों को नित्य एवं नित्य-सम्बन्धित मानकर चलती है—

(क) जेहि दिन दसन जोति निरमई । बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती । रतन पदारथ मानिक मोती ॥
(पृष्ठ ४४)

(ख) उहै धनुक किरसुन पर अहा । उहै धनुक राघौ कर गहा ॥
ओहि धनुक रावन संघारा । ओहि धनुक कंसासुर मारा ॥
ओहि धनुक बेधा हुत राहू । मारा ओहि सहस्राबाहू ॥ (पृ० ४२)

जायसी की अप्रस्तुत योजना में एक विशेषता यह है कि अनेक स्थलों पर उनके अप्रस्तुत भी पाठक के सामने (प्रस्तुत के साथ) ही दिखलाई पड़ते हैं, फलत. पाठक को कल्पना में भटकना नहीं पड़ता प्रत्युत वह अनायास ही प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों की रमणीयता का आनन्द प्राप्त कर लेता है। 'नागमती-वियोग-खंड' में एक ओर तो नागमती के विरह-विह्वल अंग हैं (प्रस्तुत) दूसरी ओर प्रकृति की वैसी ही सामग्री (अप्रस्तुत) है, दोहरी सामग्री से रसोद्रेक अधिक सहज बन जाता है—

हिय हिंडोल अस डोलै मोरा । बिरह झुलाइ देइ झकझोरा ॥
बरसै मघा झकोरि झकोरी । मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी ॥
पुरवा लाग भूमि जल पूरी । आक जवास भई तस झूरी ॥
तन जस पिअर पात भा मोरा ॥

'सात समुद्र खंड' में रत्नसेन और उनके साथी प्रातःकाल सातवें समुद्र 'मानसर' पर आये, उस समय कमल खिले हुए थे, उनके पत्ते जल पर छाये हुए थे, भ्रमर कमलों में रस-पान कर रहे थे, नाविक भी हँसते हुए, वहाँ पहुँचे—

देखि मानसर रूप सोहावा । हिय हुलास पुरइनि होइ छावा ॥
कँवल बिगस तस बिहँसी देहीं । भौंर दसन होइ कै रस लेहीं ॥ (पृ० ६७)

यहाँ अप्रस्तुत सामग्री प्रस्तुत बनकर रसोद्रेक में दोगुनी सहायता कर रही है—

हुलास = पुरइनि, कँवल = देहीं, भौंर = दसन ।

पद्मावत में अनेक चमत्कारपूर्ण स्थल हैं, कहीं पद्मावती के रूप से पराजित होकर पूर्ण शशि का घटते-घटते अमावस्या बन जाना और फिर द्वितीया के रूप में नवनिर्माण (पृ० १६); कहीं विरह की कष्टमयी रात्रि को ज्यों-त्यों बिताने के लिए वीणा-निनाद और उसका विपरीत फल (पृ० ७३); तो कहीं यौवन रूपी वाटिका में 'कुंजर-विरह' (पृ० ७४), यौवन-पक्षी पर विरह-व्याध का आक्रमण आदि। कुछ स्थलों पर सीधे-

सादे शब्दों में ही बड़ी सुन्दर व्यंजना है—

> देखि रूप सरवर कै, गै पियास औ भूख ॥ (पृ० १२)
> जेहि के असि पनिहारी, सो रानी केहि रूप ॥ (वही)
> उलटि बहा गंगा कर पानी । सेवक-बार आइ जो रानी ॥ (पृ० २७६)
> काह हँसौं तुम मोसौं, किएउ और सौं नेह ।
> तुम्ह मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेह ॥ (पृ० १८६)

इन उदाहरणों में अलंकारों का चमत्कार तो है ही भावाभिव्यक्ति कितनी सशक्त है, 'तुम्हारे मुख पर बिजली चमकती है और मेरे मुख पर मेह बरसता है' इस वाक्य की असंगति उस समय और भी रमणीय बन जाती है जब इसका कारण किएउ और सौं नेह' पाठक के सामने प्रकट हो जाता है।

उसमान ने चित्रावली में जायसी का पर्याप्त अनुकरण किया है, उन्होंने जो सुन्दर-सुन्दर रूपक बनाये हैं उनमें से अनेक की सामग्री वही वीर शृंगार-संयोग के आदेश को मानती है कहीं 'फौज जनु सावन घटा' (पृ० १४०) है कहीं "कमान" "मानिनी' गरब-जोबना" (१४०) है, कहीं "तुपक जस बिरहिनि सती" बनी है कहीं "कमान सुन्दरी नारी, तो कहीं "करवारि पदुमिनि' (पृ० १४१) का सुन्दर चित्र मिलता है। ऐसे स्थलों पर प्रायः रूपक है इसलिए अप्रस्तुत का बलशाली प्रभाव प्रस्तुत रस की आस्वाद्यता में बाधक बन जाता है, ढाल का 'बरिआरि नारि' के रूप में वर्णन करते हुए तो उसमान ससुरो की मडली के स लगने लगते हैं—

> अति बरिआरि नारि विधि कीन्हा । पुरुषन्ह जाइ सरन जेहि लीन्हा ।
> पाछे मेलि सरन जो आवा । सनमुख रहाइ आपु तर धावा ॥
> सतत परकारन दुखी, जानत नहिं अपकारि ।
> जहँतहँ दुहु जोधा लरहिं बरबस जाइ मँझारि ॥ (पृ० १४२)

यौवन को मतवाला हाथी उसमान ने भी (पृ० १६४) कहा है जिसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं है, परन्तु जहाँगीर के दरबार में 'छहों रितु एकठौं' देखने का प्रयत्न (पृ० ७) बड़ा सुन्दर बन गया है सभी ऋतुओं के लिए रूपक नहीं बनाये गये परन्तु जिन जिनके लिए (पावस शरद) रूपक हैं उनमें चमत्कार की कमी नहीं। सबसे अच्छा साग रूपक उस प्रक्रिया का है जिसके अनुसार 'दुहिता सोन' की कुंदन बनकर 'नग-साँई से भेंट होती है जैसा कि स्पष्ट है यह रूपक भी रस की दृष्टि से अधिक उपयुक्त नहीं हो सका है—

> दुहिता-सोन अगिनि-ससुरारा । सासु-सँडासी, दत सुनारा ॥
> दै सोहाग सब निसि दिन केली । ओट सदन-घरी महँ मेली ॥
> ननद-नाल फूकत निन रहई । सुलगि हिया कोइला जिमि-दहई ॥
> घाउ-बोल घन छिन छिन लाई । ठाउ न छोड़ जानि निहाई ॥
> तब निरिया कुंदन की नाँई । भेंट अक में भरि नग-साँई ॥
> (पृ० २२१)

रूपक जब अपना विस्तार करता है तो प्रायः उसकी उपादेयता कम होती जाती

है, क्योंकि प्रस्तुत के सभी अंगों का जब अप्रस्तुत के सभी अंगों से साम्य खोजा जायगा तो उपयुक्तता यथावत् नहीं बनी रह सकती। यही कारण है कि सांग रूपक प्रायः भद्दे हो जाया करते हैं, भक्तिकाल तक सांग रूपकों का बड़ा बोलबाला रहा परन्तु सबमें यही दोष अथवा विशेषता पाई जाती है। उत्प्रेक्षा का चमत्कार कल्पना को नवीन रंग देता है; वस्तूत्प्रेक्षा के चित्र प्रायः सुन्दर बन जाया करते हैं; उस्मान की कल्पना रूप का जिस रूप में ग्रहण करती है वह देखने योग्य है; अलंकार उत्प्रेक्षा भी हो सकता है तथा सन्देह भी। कपोल तथा कपोल का तिल सूफियों के प्रिय विषय रहे हैं जायसी ने भी इनका वर्णन किया है तथा दूसरे कवियों ने भी परन्तु उस्मान की कल्पना अपूर्व है, कपोल का वर्णन करते हुए उसका ध्यान केवल उसके रंग पर जाता है—

ईंगुर केसर जानु पिसाए। दोऊ मिलाइ कपोल बनाए॥ (पृ० ७१)

और उसका तिल, मानो पुष्प के भीतर मधुकर बैठा हो; अथवा चित्र बनाते-बनाते विधि की लेखनी से एक बूंद उस कपोल पर गिर गयी हो—

कै विधि चित्र करत कर धरे। करत उरेह बूंद खसि परे॥ (पृ० ७१)

नूर मुहम्मद ने इसी भाव को इस प्रकार अधिक स्पष्ट कर दिया है—

इन्द्रावति दृग लिखित कै, भा विरंचि मतवार।
मसि लगाउ लेखनी गिरेउ, सोभा भै अधिकार॥ (इन्द्रावती)

इस उदाहरण में अधिक चमत्कार है, यहाँ यह भी बतला दिया गया है कि कपोल के ऊपर जो बिंदु गिरा वह काला ही क्यों था, और विधि से इतनी असावधानी क्यों हो गई।

उस्मान ने उमंग में अँगड़ाइयाँ लेती हुई युवती का चित्र तो सूक्ष्म बनाया ही है उसके लिए अप्रस्तुत भी परम उपयुक्त रखा है; यौवन में अँगड़ाकर जम्हाइयाँ लेना काम का चिह्न माना जाता है, दोनों हाथ सिर के ऊपर पहुँचकर एक दूसरे से मिल जाते हैं, नीचे चन्द्र के समान उज्ज्वलवदन और उनके घेरनेवाली (एक दूसरे से जुड़ने के कारण) वृत्ताकार गोरी-गोरी कलाइयाँ; कौन इस शोभा को देखकर मुग्ध न बन जायगा—

नैन उघारि नारि जँभुआनी। दोऊ भुज पसारि अँगिरानी।
बदन सरूप देखि जग मोहा। जनु मयंक पारस मधि सोहा॥ (पृ० ४५)

दाँतों को मोती या अनारदाने, केशों को सर्प, नेत्रों को खंजन, नासिका को शुक, आदि और कवि भी कहते आये हैं परन्तु उस्मान ने सारी सामग्री में अधरामृत को मिलाकर एक सुंदर कल्पना की है; देवताओं ने शशि की क्यारी को अमृत से सींचा और उसमें अनार के दाने बो दिये, शुक, पिक तथा खंजन से चौबीसों घंटे भय बना रहता है, इसलिए सर्प-शिशुओं को वहाँ रखवाली करने के लिए नियुक्त कर दिया—

पान खात कछु भए उघारे। दिष्टि परे मंजुल रतनारे॥
जनु दुइ लर मुकुता रंग भरे। मंजन लागि आइ मुंह धरे॥
कै देवतन्ह ससि कीन्ह कियारी। अमिरित सानि वारि अनुसारी॥

दाड़िम बीज तहाँ न बोए। रखवारे राखे अहि पोए ॥
निसि बासर ते निकट रहाहीं। मधु सुक पिक खजन घुनि जाहीं ॥
(पृ० ७२-३)

उसमान ने कुछ स्थलों पर सीधे-साधे शब्दों में भी बड़ी सरस भाव-व्यंजना की है, संयोग में भी तथा वियोग में भी, संयोग में तल्लीन हो जाने का सबल संकेत है तथा वियोग में वेदना एवं प्रलाप का। दो प्रेमी जब बीच की बाधा हट जाने पर मिल जाते हैं तो उनकी चिरसंचित मनोकामना पूरी हो जाती है। उनके जीवन की यह एक अनोखी घटना है। एक-दूसरे को देखने से उनकी आँखें अघाती ही नहीं, न जाने कौन-सा भाव होता है उस निर्निमेष[1] दृष्टि में एक की दृष्टि दूसरे के रूप की चिर-प्यासी है—

दोऊ उदधि प दोऊ पियासे। पी पी जल पुनि रहहिं पियासे ॥
देखत काहू होई न सौंतो। दिवस चारि बीते एहि भाँती ॥
(पृ० ११०)

विरहिणी नायिका सोचती है कि यदि चन्द्र उसके लिए भी उष्ण होता तो क्या वह व्याकुल होकर मेरे पास न चला आता, जान पड़ता है कि विधि ने दो चन्द्र बना दिये हैं एक शीतल दूसरा उष्ण जो शीतल था वह उसके पास भेज दिया और जो जलाने वाला है वह मेरे पास छोड़ दिया—

क विधि जग दो ससि निरमयो। एक तातो एक सीतल भयो ॥
सीतल हुत सो गा तुम्ह रुगा। रहो उसन मम दाहन आगा ॥ (पृ० १६७)

जायसी की नायिका अपना सन्देश भेजती हुई भ्रमर तथा काग से कह रही थी कि प्रिय से जाकर यह कहना कि तेरी प्रेयसी विरह में जलकर मर गई और उसी के धूम्र से हम काले रंग के हो गये हैं। इस सन्देश में यह स्पष्ट है कि नायिका का यह प्रलाप-वचन नहीं है प्रत्युत 'चातुरी' है। वह पक्षियों को सिखाकर झूठ बुलवाती है और अपना काम बनाना चाहती है। चित्रावली ने ऐसा नहीं किया, उसको इतना होश ही कहाँ है। वह तो देखती है कि जो भ्रमर उसका पीछा नहीं छोड़ता था वह उसके शरीर से डरकर न जाने क्यों भाग जाता है। शायद वह एक बार उसके विरह-ताप से जलकर काला पड़ गया है। अब शरीर के पास आने की भूल न करेगा—

एक दिन भूलि मधुप उर लागा।
दहि भा स्याम सबहि उड़ि भागा ॥ (पृ० १६८)

इन्द्रावती तथा अनुराग बाँसुरी

नूर मुहम्मद ने लोक-कहानियों के अनुकरण पर अपनी 'इन्द्रावती' लिखी, परन्तु जब मजहब ने उनके मानस में जोर मारा तो उनको 'अनुराग-बाँसुरी' लिखनी

---

[1] बिहारी की नायिका मध्या है इसलिए वह निर्निमेष दृष्टि से प्रिय को देख भी नहीं सकती। उसका प्रेम गुप्त है, परन्तु सूफी नायिका अपने प्रेम के कारण प्रसिद्ध हो चुकी है अब कैसी लज्जा और कैसा संकोच।

देखत बनै न देखते बिन देखे अकुलांइ ॥ (बिहारी)

पड़ी। संस्कृत के 'सुनासीर', 'द्वैमातुर', 'समज्ञा', 'अभिधान', 'आसीविख', 'कारमुक', 'तिरविष्टिप', 'अध्वग', तथा 'अरुनतुंड' जैसे शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि ये संस्कृत भी अवश्य जानते होंगे। इनके काव्य में प्रचार ही मुख्य उद्देश्य है, फारसी की कामुकता भी इसीलिए काफी आ गई है। फारसी का कवि प्रेयसी (माशूक) के अंग का कोई आभूषण या उसके नित्य व्यवहार की कोई वस्तु बनने की कामना करता रहता है, नूरमुहम्मद की भी यही अभिलाषा है परन्तु 'बाँसुरी' में उन्होंने इस कामना को भी उचित नहीं समझा, यदि अंजन बन जाऊँ तो मेरा तो जीवन सफल हो जावेगा परन्तु उसके नेत्रों को कष्ट होगा, जावक बनना भी ठीक नहीं उसके कोमल चरण मेरा भार सहते हुए परेशान हो जायेंगे—

(क) जावक होउँ, होइ दुःख मेटउ। तो वह कमल चरन कहँ भेंटउ।
कज्जल होंउ नयन लगि रहऊँ। होंउ पवन लट ऊपर बहऊँ॥ (इन्द्रावत)
(ख) अंजन होंउँ तवौ भल नाहीं। वह कजरारे नयन दुखाहीं।
जावक होउँ तवौ नहि नीकौ। भार सहै पद वा रमनी कौ॥ (अ० बाँसुरी)

कवि नारी-मात्र को 'प्यारी' शब्द से संबोधन करता है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। उसने नारी के कटाक्ष तथा उसके मधुर अधरों पर अपने को निछावर कर दिया है, 'अधरन के मिठाई' का जितना वर्णन इसने किया है उतना दूसरे ने नहीं। नेत्रों की तीक्ष्णता[1] वह एक सामान्य वाक्य द्वारा भी बतला सकता है और उत्प्रेक्षा[2] (हेतूत्प्रेक्षा) की सहायता से भी; परन्तु दोनों स्थलों पर उसकी कामुकता स्पष्ट है। अधरों के वर्णन में तो कवि आवश्यकता से अधिक आगे बढ़ जाता है, उसकी संभावना गंभीर न बनकर हास्यास्पद बन गई है—

ता अधरन कै पाइ मिठाई। रीझि रहा यह जग हलुआई।
सखी सग जब बात निसारै। मानहु मिसरी चीनी झारै।
पौना के उर वेधै, ता अनुराग।
ता बच आगे यह मधु, मधुर न लाग॥ (पृ० ५१)

शेष रचनाएँ

सूफियों की शेष रचनाएँ बहुत ही सामान्य स्तर की हैं, उनमें न तो कोई स्वस्थ विचार-धारा है न काव्य-सौन्दर्य ही। समस्त साहित्य में से केवल जायसी के काव्य का ही कुछ प्रचार हो सका, वह भी सामाजिक दृष्टि से नहीं केवल साहित्य के इतिहास की दृष्टि से ही। आलम ने 'माधवानल-कामकंदला' की 'प्रेमकथा' लिखी है, जिसमें 'जगतरस' ही मुख्य है, और उसके पाठक 'कामी पुरिष रसिक' ही सोचे गये हैं। निसार ने प्रेमकथा 'मसनवी' लिखी है, जिसमें झूँठी कथाओं से घृणा और 'यह साँच कथा' का आग्रह है; यद्यपि धार्मिक प्रचार का दृष्टिकोण मुख्य है, फिर भी 'जुलेखा-बरनन-खंड' में नायिका का संपटता से भरा हुआ नखशिख-वर्णन ही मिलता है।

---

१. जब कज्जल दै बान चलावै। लोना ऊपर लोना लावै। (अनु० बाँ० ५१)
२. सुब तोमर तें मिरग डेराने। फिर न रहैं, बन बीच छवाने।
सुब तोमर के डर लें खंजन। चंचल रहैं, थिरें नहिं ता तन (वही ७५-६)

४

निर्गुण काव्य

पृष्ठभूमि

नवम तथा दशम शताब्दियों में आत्मवाद का जयघोष संस्कृत के माध्यम से प्रतिध्वनित हो रहा था, क्योंकि उस समय तक अपभ्रंश वाणियाँ प्रवर्तित मतों के लिए ही व्यवहार्य समझी जाती थी। परंतु वीरकाव्य के लोक-साहित्य ने हिन्दी को लोक तथा वेद का सामर्थिक सेतु बना दिया, फलत वेदानुमत आध्यात्म चिन्तन की प्रतिध्वनि भी हिन्दी में श्रुतिगत होने लगी। प्रस्तुत स्थल पर यह विचार सम्भव नहीं कि पथभ्रष्ट लोक के सुधार का भावात्मक प्रयत्न अर्थात भक्ति प्रवाह परम्परा प्रसूत है अथवा नवजात। देववाणी में प्रवाहित यह स्रोतस्विनी लोक क्षेत्र की उर्वर भूमि को प्राप्त कर अधिक कृतकार्य हुई अत भक्ति के दिगन्तव्यापी आन्दोलन का मुख्य उत्तरदायित्व तत्कालीन परिस्थितियों को दे देना अनुचित भी प्रतीत नहीं होता परन्तु यह लोक-क्षेत्र उर्वर भूमि मात्र है उद्भव-स्थल नहीं। द्राविड़ लोक की सुरम्य प्रकृति में प्रस्फुटित भक्ति-तरंगिणी संस्कृत समाज के राजपथ से प्रवाहित होती हुई फिर लोक की रमणीय स्थली को कृतार्थ करती है और प्रस्तुत रूप में इस पर दोनों ही पूर्व संस्कारों की सन्तुलित छाप है। जन-जन को संस्पृष्ट करने का अभ्युत्थानात्मक श्रेय भक्ति आन्दोलन को है, लोक और वेद संस्कृत तथा प्राकृत, अभिजात तथा पतित, पंडित एवं निरक्षर के बीच की अस्वाभाविक परिखा को पाटने के लिए भक्ति का आन्दोलन एक सुन्दर सेतु बनकर आया जिससे दोनों किनारों की भाव वल्लरियाँ इतस्तत प्रसारित हो सकीं, परन्तु जिसने कलह-कीटाणुओं को गहनतर अतल में विसर्जित कर दिया। भक्ति एक ऐसा आडम्बरहीन, विधि निषेध-शून्य, सीधा-सच्चा[1] राजपथ[2] है जिस पर चलने का सबको समान अधिकार है आत्मसमर्पण की शान्ति से सन्नगति की सघन छाया में श्रवण कीर्तन आदि साधनों को अपनाता हुआ महापतित भी जिस पथ पर शान्ति एवं अनद्वेग के अनुभवपूर्वक आमोद्धार को सहज सुलभ कर लेता है। भक्ति ने लोक को वे दिव्य फल प्राप्य करा दिये जो मनीषियों का एकाधिकार समझे जाते थे, और बाह्य साधनों के अहंकार का एकपद एवं बाधक सिद्ध कर दिया।

हिन्दी आलोचक की दृष्टि में भक्ति-काव्य के लक्षण आस्तिकता, समर्पण तथा अनुराग है, जो भक्ति सूत्र के सा परानुरक्तिरीश्वरे के अनुकूल ही है, परन्तु जिनका रामानुजाचार्य द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों से सर्वथा मेल नहीं बैठता। रामकाव्य और कृष्णकाव्य को विशिष्टाद्वैत या शुद्धाद्वैत की काव्यात्मक भाषा छाया कह सकते है और सतकाव्य अपने को ज्ञानी बतलाता हुआ प्राय भक्त भी कहा जाता है—इस पर रामा

---

१ काहे को रोकत मारग सूधो। (सूर)

२ गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो। (तुलसी)

नुजानुप्राणित रामानन्द का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव माना जाता है; परन्तु सूफी कवि न तो परम्परा से भक्त है और न वह अपने को कहीं भक्त कहता है, उसमें ज्ञान और प्रेम है, फिर भी हिन्दी-आलोचकों ने उसको भक्ति के भवन में ही बसा दिया है, कदाचित् उसकी आस्तिकता, समर्पण तथा अनुराग को दृष्टि में रखते हुए ही। शास्त्र-परम्परा की दृष्टि से तो सूफियों को भक्त कहा ही नहीं जा सकता, काव्य-परम्परा, समसामयिक तथा उत्तरकालीन प्रमाण और प्रतिपाद्य विषय के आधार पर भी इनको भक्त मानना अनुचित है; सूफी-कवि भक्ति-काल के प्रेम-कहानीकार ही हैं, उस प्रवाह के उज्ज्वल रत्न या दृढ़ आधार नहीं। सूर और तुलसी से भेद करते हुए कबीर और जायसी का काव्य-माध्यम 'बोली' था 'भाषा' नहीं—तुलसी अपने माध्यम को 'भाषा'[1] कहते हैं, उनके सम्मुख संस्कृत तथा भाषा दो[2] ही समकालीन माध्यम थे, कबीर ने अपने माध्यम को 'बोली'[3] नाम दिया है; जायसी की परम्परा के नूरमुहम्मद भी अपने माध्यम को 'बोली'[4] कहते हैं, यद्यपि उत्तरकालीन सूफी भी बोली के स्थान पर 'भाषा' का प्रयोग करने लगे थे[5]। 'बोली' और 'भाषा' के भेद से यह निष्कर्ष तो अनुचित होगा कि कृष्णकाव्य तथा रामकाव्य साम्प्रदायिक-मात्र हैं, और सूफीकाव्य और सन्तकाव्य लोकप्रिय साहित्य है, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भाषाकवि और बोली-कवि के पाठक एक ही नहीं थे—केवल सामाजिक भेदभाव की स्थूल दृष्टि से ही नहीं, प्रत्युत पूर्व-संस्कार, शिक्षा-दीक्षा आदि सूक्ष्मता को ध्यान में रखकर भी। इसीलिए भाषा-काव्य का सौन्दर्य बोली-काव्य की रमणीयता से नितान्त भिन्न है, उसकी पृष्ठभूमि में युगों की परम्परा है, सूक्ष्मता तथा गम्भीरता है, इसका सम्पर्क केवल चलती-फिरती दुनिया से है, वर्ग-विशेष के दैनिक जीवन से है।

सामान्य विशेषताएँ

वीरकाव्य के अनन्तर हिन्दी-साहित्य में जो लहर उठी उसको 'भक्ति-काव्य' कहा जाता है। भक्ति-काव्य की कई शाखाएँ हैं और स्वकीय परम्पराओं के अनुसार उन शाखाओं के स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी इस काव्य की सामान्य भाव-धारा में उस युग की परिस्थितियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। हम उन्हीं के विश्लेषण का प्रयत्न करते हैं।

राजपूती तलवार के साथ कवि का हृदय भी भग्न हो गया और उत्साह एवं आशा के स्थान पर करुणा एवं नैराश्य के गीत सुनाई पड़ने लगे। राजपूती शासन ने प्रजा में आत्मवाद का जो स्वर भरा था वह अभी परमात्मा तक तो दृढ था परन्तु स्वात्मा पर लड़खड़ा रहा था।

---

१. भाषा-निबन्धमतिमञ्जुल मातनोति।
२. का भाषा, का संसकिरित प्रेम चाहिए साँचु।
३. मेरी बोली पूरबी।
४. यह मुहम्मदी जन की बोली।
५. भाषा बाँधि चौपही जोरी। (आलम)
   भाषा माँ काहू ना भाखा। (निसार)

विदेशी आक्रमणकारियों ने अपनी कूटनीति से जब वीर और उत्साही व्यक्तियों पर विजय प्राप्त कर ली तो जनता फिर एक बार बिखर गई, परन्तु वह नास्तिक न बन सकी। इसके दो कारण थे। प्रथम तो जनता में आत्मविश्वास न था। दूसरे समाज के नेताओं ने उसको यह सुझाया कि उसकी दुर्दशा का कारण दैव का पराक्रम नहीं प्रत्युत उसके स्वकीय (ज्ञात या अज्ञात) कुकर्म हैं। अस्तु उस अत्याचारी शासन में एक ओर ईश्वर भक्ति का प्रचार बढ़ा दूसरी ओर अपने दुःख का निदान न खोजकर उसको कर्मों का भोग समझ लिया गया, नेताओं ने प्रचार किया कि सुख तो मिथ्या है, दुःख ही वरेण्य है[1], क्योंकि दुःख से ही ईश्वर प्राप्ति हो सकती है। इस दुःखवाद का उद्गम परम्परा में था परन्तु इस युग में इसको विशेष प्रश्रय मिला—इस तथ्य की अवहेलना नहीं हो सकती।

भक्ति-काव्य का मुख्य स्वर आस्तिकता है परन्तु यह आस्तिकता उत्साहवर्द्धक न होकर करुणामूलक है, इससे निर्बाध गति की प्रेरणा नहीं मिलती प्रत्युत नीरव सहन का धैर्य प्राप्त होता है। जिस युग में स्वयं शासन ही अत्याचारों का केन्द्र हो उसमें उत्साह या आशा कहाँ रह सकती है जहाँ चाटुकारी करनेवाले गुलाम ही शासक बन जाते हों वहाँ व्यक्तित्व के विकास का क्या प्रसंग है, जहाँ राजकुल में सोदर ही परस्पर शोणित के प्यासे हों वहाँ सद्भावना के लिए स्थान कहाँ और जिस युग का प्रमुख शासक दूसरे की विवाहिता पत्नी को छीनने के लिए दल-बल-सहित चढ़ आता हो वहाँ न्याय का परिहास ही है। भक्ति-काव्य इसीलिए संसार से निराश, वैभव से विरक्त, अधिकारियों से उदासीन तथा समाज से असन्तुष्ट है। शासक को स्वामी तथा पिता मानने के स्थान पर इसीलिए भक्ति काव्य ने ईश्वर को जगदीश तथा परमपिता घोषित किया, राजा से न्याय न माँगकर उसने ईश्वर के न्याय में विश्वास रखा, प्रत्यक्ष को सुधारना सम्भव न जानकर भविष्य (परलोक) को बनाना अधिक उचित समझा और राजा तथा राजपुरुष के स्थान पर हरि तथा हरिजन के प्रति अनुराग दिखाया।

भक्ति-काव्य की माया देखने में तो अद्वैतवादी माया की अनुजा प्रतीत होती है, परन्तु वस्तुतः वह उसकी मिथ्या थी, उन दोनों का बाह्यरूप समान है, परन्तु जन्म-योग एक नहीं। अद्वैतवादी संन्यासी अज्ञानात्मजा माया के मिथ्यात्व को ग्रहण कर जब उसको छोड़ जाता है तो उसको असीम आनन्द की प्राप्ति होती है उसे आगे और पीछे आनन्द का ही उल्लसित पारावार दिखाई पड़ता है वह पूर्वकृत पर पश्चात्ताप करता हुआ आत्मग्लानि से अश्रु विमोचन नहीं करता प्रत्युत मिथ्या को सारहीन समझकर निस्संग भाव से मन्द मन्द मुसकाया करता है। भक्ति-काव्य में सर्वत्र पूर्वकृत पर पश्चात्ताप है दृश्यमान की निस्सारता नहीं प्रत्युत उसके प्रति घृणा है, आत्मोल्लास कम परन्तु आत्म ग्लानि अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी भक्त कवि युवावस्था में बिगड़कर जरा की ललकार से सुधरे थे, वे भोगों को निस्सार जानकर

---

१ सुन लो पलटू भेद यह, हँसि बोले भगवान।
दुख के भीतर मुक्ति है, सुख में नरक निदान॥

उनसे विरक्त नहीं हुए प्रत्युत अपनी असामर्थ्य के कारण उनको त्यागने लगे, उनकी ईश्वर-भक्ति किसी आत्म-लाभ का सात्विक परिणाम नहीं प्रत्युत अनतिदूर अनागत विभीषिका की तामसिक प्रसूति है। संभव है इस प्रकार की भावना भक्तकवियों की फैशन हो, परन्तु यह विद्यमान सब में है इसमें सन्देह नहीं। पूर्वकृत के फल, संसार की स्वार्थपरता, वृद्धावस्था की दुर्दशा और यम की विकराल मूर्त्ति का ध्यान आते ही कवि का हृदय काँपने लगता है और उसके नेत्रों से अश्रु तथा कण्ठ से वाणी स्वतः एवं प्रवाहित होने लगते हैं—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात भरि जैहैं।
या देही कौ गरब न करियै स्यार-काग-गिध खैहें।
× × ×
जिन लोगनि सौं नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं।
घर के कहत सवारे काढ़ौ, भूत होइ घरि खैहैं॥
× × ×
अबहू मूढ़ करौ सतसंगति, सतनि मैं कछु पैहैं।
नर-बपु धारि नाहिं जन हरि कौं, जम की मार सो खैहैं॥ (सूर-सागर)

भक्त-कवि को संसार से नितान्त विरक्त नहीं कहा जा सकता, कवि विरक्त हो भी कैसे सकता है—कवित्व (अनुरक्ति) तथा विरक्ति परस्पर विरोधी प्रकल्प हैं; उसने संसार से असन्तोष प्रकट करके एक नवीन आदर्श की कल्पना की है। यद्यपि राजक्षेत्र उस समय हिन्दू-जनता के लिए बन्द था फिर भी भक्त-कवि उसको भूले नहीं है, यदि एक कवि सीकरी के प्रति उदासीन है तो इसीलिए कि वहाँ उनको सलाम[1] करनी पड़ती है जिनका दर्शन भी अशुभ है। राजसभा ऐसी हो जिसके प्रत्येक व्यक्ति को जनता आदर देती हो—भगवान् राम की सभा ऐसी ही है जिसमें तुलसीदास स्वयं तो जाते ही हैं पाठक को भी बार-बार पहुँचाते हैं, उसका सुन्दर से सुन्दर चित्र खींचकर। सूर एक ओर तो गोपियों के शब्दों में राज्य को कृत्रिमता का केन्द्र ठहराते हैं दूसरी ओर स्वयं अपने को 'पतितन कौ राजा' तथा 'पतितन पतितेस' बतलाकर राज्य को 'हठ, अन्याय, अधर्म' का स्थल तथा 'पाप की गढ़' सिद्ध करते है। कबीर ने 'राजा, रंक और फकीर' को समभाव से नश्वर बताकर राजा की अवहेलना की है, और खजूर के पेड़ के समान बड़े बने हुओ, कुमार्गगामी अहंकारियों तथा धन-यौवन के गर्व में झूमनेवालों को घृणापूर्वक फटकारा है:—

नाम सुमरि, पछतायगा।
धरमराय जब लेखा माँगे क्या मुख लेके जायगा॥

---

१. संतन कौं कहा सीकरी सौं काम।
आवत जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयौ हरिनाम।
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम॥ (कुंभनदास)

राजा ही नहीं राजनीति के दूसरे कन्द्र नायक, योद्धा, मन्त्री आदि भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखे गये। जनता की पहुँच न राजनीतिक जीवन में थी और न सनिक जीवन में उसके हाथ केवल धम तथा घर ही आ सकता था, फलतः जिन कवियों ने विरक्ति का उपदेश नहीं दिया व धमभाव के प्रचार तथा घरेलू जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करते रहे। सूर ने अपना मन संसार के सभी क्षेत्रों से हटाकर घरेलू जीवन को सुखमय दिखाने में लगाया है और तुलसी ने मर्यादावादों से उदासीन गृहस्थ को आँगन में ही स्वर्ग-सुख प्राप्त करा दिया है। निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों ही मार्गों के भक्तकवि शासन से असन्तुष्ट अत उदासीन थे।

निर्गुनिए या सन्त

भक्ति-काव्य की चार धाराएँ मानी जाती हैं जिनमें से सूफी काव्य धारा को भक्ति काव्य मानना उचित नहीं—यह ऊपर कहा जा चुका है। शेष तीन धाराओं में से सगुण धाराओं का नाम तथा रूप निश्चित है। परन्तु निर्गुणिया या सन्तों के विषय में विद्वानों का एकमत होना कठिन है। इस प्रवाह के कवियों को 'सन्त' या 'निर्गुणी' कहा जाता है ये कोरी कवि व भाषा-कवि नहीं—यह हम कह चुके हैं। 'सन्त' नाम में अतिव्याप्ति दोष है समकालीन तुलसी में इसका बहुत[१] प्रयोग है फिर केवल कबीर-वर्ग के कवियों के लिए इसका व्यवहार किस प्रकार मानें, तुलसी के अतिरिक्त सगुणोपासक भी[२] इस शब्द के प्रति अनुरक्त हैं। तब इन कवियों को 'निर्गुणी' कहना अधिक उपयुक्त है? परन्तु स्वयं कबीर ही अपने को निरगुण सरगुन तें परे कहते हैं तो उन पर अविश्वास कैसे हो? फिर भी 'सन्त' से तो 'निर्गुणी' नाम ही अधिक ग्राह्य है क्योंकि सन्त किसी भी साधु को कह सकते हैं परन्तु निर्गुण भक्ति का शास्त्रीय अर्थ ईश्वर के गुणातीत (मूर्ति अवतार आदि से रहित) स्वरूप की उपासना है, जो इस वर्ग के सभी भक्तों में प्राप्त होता है।

हिन्दी आलोचना के प्रारंभिक दिनों में इस वर्ग के साहित्य को अधिक गंभीर दृष्टि से नहीं देखा जाता था, परन्तु फिर एक ऐसी लहर आई कि विद्वान जितने श्रद्धालु इस साहित्य के प्रति हैं उतने कदाचित् तुलसी के प्रति भी नहीं। हिन्दी में इस लहर का प्रमुख श्रेय स्व० डॉ० पीताम्बरदास बड़थ्वाल को है, जिनकी 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' नाम्नी शोधपूर्ण कृति यथावधि अद्वितीय है। परन्तु उधर अवदिक मतों का विस्तृत अध्ययन और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का व्यक्तिगत प्रभाव भी इस लहर के लिए उत्तरदायी है। फिर तो शोधकों ने नाथ योगी सिद्ध, सहजिया निरंजन धर्म

---

१ मुद मंगलमय संत समाजू।
बंदौं संत समान चित, हित अनहित नहिं कोउ।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।
तुलसी संत सुअम्ब तरु, फूलि फरहिं परहेत॥ आदि॥

२ संतन को कहा सीकरी सों काम। (कुम्भनदास)

ठाकुर आदि के सम्प्रदायों से इस निर्गुण काव्य का सीधा सम्बन्ध मिलाना प्रारंभ कर दिया। शोधक का काम पुरानी खोई हुई चीज को झाड़-पोछकर सजा-बजाकर प्रदर्शित करना तो है ही, कदाचित् मरम्मत करना और विलुप्त अंगों का कल्पना से निर्माण करना भी है। भवतु, हम यहाँ उन्हीं बातों को दुहराना ठीक नहीं समझते।

वैदिक विचार-धारा के साथ हमारे देश में कुछ इतर विचारबिन्दु भी अवश्य बिखरे रहे होंगे अन्यथा 'संस्कारों' द्वारा 'आर्य' बनने का कोई अर्थ ही नहीं होता, परन्तु इन बिन्दुओं का एकत्र होकर धारा-रूप ग्रहण उस समय तक संभव न हो सका जब तक कि स्वयं वैदिक विचारधारा में ही कुछ बाह्य विकार न आये। इतिहास में इन सुधारवादी अब्राह्मण विचारधाराओं के शिरोमणि जैन और बौद्ध आन्दोलन माने जाते हैं। इन दोनों का मुख्य लक्षण वेद और ब्राह्मण में अविश्वास है। जैन मत ब्राह्मणों की विकारजन्या हिंसा-प्रवृत्ति के उन्मूलन के निमित्त आया था, और उसको पर्याप्त सफलता भी मिली; कालान्तर में वैष्णव सम्प्रदाय ने उसके सारे विश्वास पचा लिये और जैन मत देश के कुछ कोनों मे सम्प्रदाय बनकर ही रह आया, उसको स्वतन्त्र जीवन-दर्शन न प्राप्त हो सका; जैन मत और ब्राह्मण धर्म साथ-साथ फूलते-फलते रहे हैं, उन्होंने परस्पर को प्रेरित किया है; उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण व्यवहार में अधिक भिन्न नहीं है। ब्राह्मणों के वेद में अविश्वास रखकर जैनों ने ब्राह्मण पुराणों के समानान्तर अपने पुराण बनाये, ब्राह्मण मन्दिरों के समान अपने मन्दिर तथा ब्राह्मण उत्सवों के समान अपने उत्सव चलाये। साथ ही जैन लोग ब्राह्मणों की समाज-व्यवस्था को भी स्वीकार करते रहे, उनमें गृहस्थ-जीवन वरेण्य माना जाता है, अध्ययन का महत्त्व है, त्याग और तप का सम्मान है, और किसी-न-किसी रूप में वर्ण-व्यवस्था भी है—उनमें 'पंडित' तथा 'सेठ' हैं, संस्कारहीनों का प्रवेश जैन मत में अवरुद्ध ही है। हिन्दी के विकास में जैनों का ब्राह्मणों से कुछ ही कम योग है, विशेषतः प्रारम्भिक दिनों में।

बौद्ध मत की प्रवृत्ति कुछ भिन्न बन गई। बौद्ध मत ब्राह्मण और जैन दोनों के अतिवाद में मध्यम मार्ग बनकर आया था, इसलिए उसने चिन्तन पर अधिक जोर दिया और चिन्तन की कसौटी थी बहु-जन-हित। राजनीतिक शब्दावली में यह लोकतन्त्रीय आन्दोलन था। बुद्ध भगवान् तक तो ठीक रहा वे प्रबुद्ध थे, उनकी गति सूक्ष्म थी; फिर भी उन्होंने औरों के कहने से अपने सिद्धान्तों में अत्यावान किया—आनन्द के आग्रह से संघ मे भिक्षुणियों को प्रवेश की आज्ञा मिल गई। वेद और ब्राह्मण में अविश्वास के साथ-साथ बौद्धमत की दो विशेषताएँ और थीं—शब्द-प्रमाण की अस्वीकृति तथा लोक को कसौटी मान लेना। वेद के विरोध में लोक को अनावश्यक महत्त्व प्रदान करने में ही बौद्ध मत का ह्रास निहित था; धर्म का निर्णय मतदान से नहीं हो सकता, मन की रुचि से भी नहीं; इसका तो एकमात्र संबल शास्त्र, महापुरुष तथा शुद्ध अन्तःकरण ही है। गौतम के निर्वाण-लाभ करते ही सभा बुलाई गई और 'सद्धर्म' के संचालन की व्यवस्था पर विचार हुआ, 'तीन संगीतियों' तक बौद्ध मत छिन्न-भिन्न हो गया, महायान तथा हीनयान शाखाओं के अतिरिक्त अनेक छोटे-मोटे सम्प्रदाय उठ खड़े हुए; जिसके जितने अधिक चेले वह उतना ही ऊँचा तथा पहुँचा हुआ; शिष्यों को आकृष्ट

करने के लिए एक ओर तो कर्मीसिन किये गये दूसरी ओर गुरु की महत्ता का एकान्त करके उनके चमत्कारी किस्से दिखाये गये, और क्योंकि मूल में वेद का विरोध निहित था इसलिए असंस्कृत समाज का ही इधर आगमन हुआ और इस समाज को निरादर की पूरी सुविधा देनी पड़ी। जब बौद्ध मत भारत से लुप्त हो गया तो लंका तथा पूर्व देशों में इसकी 'पीठ' बनी और भारत की मूढ़ जनता की श्रद्धा का दुरुपयोग गुरुमन्य मानियों ने खूब किया। अष्टम शती तक भारत की मूढ़ जनता इन्हीं बखेड़ों में पड़ी हुई थी। शंकर के प्रयत्न से अभिजात-वर्ग के नेत्र खुल गये परन्तु शताब्दियों से बिछुड़े हुए समाज का फिर वेद मार्ग पर चलना एकदम एक समय न था। प्रतिक्रियाएँ दो हुईं—एक तो वेद के नाम पर किसी को भी बहका देना, दूसरी वेद का नाम लिये बिना ही सदाचार आदि वैयक्तिक गुणों पर जोर देना। यद्यपि सगुण तथा निर्गुण के भेद वेद के महत्त्व की दृष्टि से रखकर नहीं किये गये फिर भी संयोगवश सगुण काव्य वेद के नाम पर ही सब कुछ कहता है और निर्गुण काव्य वैयक्तिक सदाचार का प्रचार करता हुआ भी वेद नाम के प्रति उदासीन है।

हिन्दी का निर्गुण सम्प्रदाय इन्हीं परिस्थितियों का मध्यकालीन परिणाम है। खोजने पर तो उसका कोई न कोई सम्बन्ध प्राचीनतम अवैदिक संस्कृति से भिड़ाया जा सकता है, और सिद्धनाथ, निरंजन धर्मठाकुर आदि के प्रभावों का तो विवेचन विद्वानों ने किया भी है परन्तु कबीर की जाति के लोग साम्प्रदायिक रूप में वेद विरोधी मात्र न रहे होंगे—वेद से उदासीन रहना तो स्वाभाविक है। शंकर के प्रभाव से एक झकझोर इनमें भी आगई थी और ये ब्राह्मणों की अवहेलना पर भी अपने को सुधारना चाहते थे, वेद और ब्राह्मण का विरोध इन्होंने स्वयं तो न किया परन्तु इनको चेले बनानेवालों ने इनकी हीनता से लाभ उठाकर अपनी गद्दी सुदृढ़ बनाने के लिए इनके मन में विष के बीज बो दिये। विदेशी इनको मुसलमान बनाना चाहते थे, ब्राह्मण इनका तिरस्कार कर रहे थे निर्गुणी ने कहा डटकर खड़े रहो, तुम क्या किसी से कम हो, मैं तो तुम्हारे ही उद्धार के लिए निरंजन निराकार द्वारा भेजा गया हूँ, और जब उसने ब्राह्मणों की खिल्ली उड़ाते हुए उनके दोष पर व्यंग्यात्मक आक्रमण करके भक्त को ऐसा मार्ग दिखा दिया जिसकी ब्राह्मणों को सूचना भी नहीं थी तो भक्त ने गद्गद् होकर उसके चरणों में मस्तक झुका दिया—गुरुदेव, आप धन्य हैं आप ईश्वर से महान् हैं, यदि आप न होते तो ईश्वर को कौन पूछता।

निर्गुणी का व्यक्तित्व

गतानुगतिक विश्वासों का विरोध करनेवाले सुधारकों का व्यक्तित्व बड़ा प्रखर होता है असीम आत्मविश्वास, प्रचण्ड विध्वंस तथा निस्संकोच प्रतिपादन उसके मुख्य लक्षण हैं, यदि सुधारक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने लगा तो वह समाप्त हो गया उसका काम समझाना है समझना नहीं, दिखाना है देखना नहीं और यदि इस सुधारक का किसी महान् संस्कृति का विरोध करना हो तो उसको सफलता तभी मिल सकती है जब वह अपने काम के व्यक्ति और उस पर चोट करनेवाले शब्दों की छाँट में सिद्ध-

हस्त हो। ऐसे सुधारक अधिक नही हुआ करते, परन्तु जो होते है वे ऊँचे उठ जाते है, अपने सामने अपने नाम से सम्प्रदाय चला जाते है, उनके बाद भले ही उस सम्प्रदाय में ठगविद्या का ही बोलवाला रहे। इन महापुरुषो की कथनी और करनी में भेद नही हुआ करता, इनमें व्यक्तिगत ग्रन्थियो का अस्तित्व अनिवार्य है, ये आचार के शुद्ध तथा मन के पवित्र होते हैं।

निर्गुण सम्प्रदायों के आदिगुरु इन्ही गुणों के भाण्डार थे। यद्यपि इनका उद्देश्य मन में भक्तिभाव को जगाकर सदाचारपूर्ण जीवन का प्रसार ज्ञात होता है, फिर भी ये खण्डन में अधिक लगे रहे और भूल से इन्होंने वेद और ब्राह्मण का विरोध अपना लक्ष्य बना लिया परन्तु भारत-भूमि से वेद और ब्राह्मण की महत्ता का उन्मूलन उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार कि दिन से दिवाकर का लोप—जब तक वेद की मान्यता तथा ब्राह्मणत्व का आदर है तभी तक आर्यावर्त्त के निवासी आर्य हैं और भारत में भारतीयता है, बर्बर से बर्बर शासकों ने इस उन्मूलन का प्रयत्न किया और अपनी अपकीर्ति की दुर्गन्ध छोड़कर स्वयं विलुप्त हो गये।

ये आदिगुरु अक्कड़ तथा फक्कड़ थे। जाति के प्रायः हीन[१], शिक्षा में शून्य, अनुभव के धनी, आत्मविश्वास से अहंकारी, आस्तिकता में पूर्ण। यदि ये शिक्षित, अभिजात या संस्कृत समाज के बीच जाते तो इनकी अटपटी बातों से कौन अपना समय नष्ट करता। अस्तु, इन्होने उस समाज को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया जो प्रत्येक दृष्टि से कोरा, नहीं, हीन था और उसकी जन्मजात हीनता[२] को उभारकर उनको भगवान् तक पहुँचने का मार्ग दिखाने लगे। इनका उपदेश था कि भगवान् तो दीन-हीन को ही अधिक प्यार करते हैं, क्योंकि उसका और कोई सबल नही होता। इनके उपदेशों में एक ओर मन की आग (व्यग्य) है दूसरी ओर हृदय का अनुराग (भक्ति-भाव); एक ओर ब्राह्मण से घृणा है और दूसरी ओर भगवान् से प्रेम! इनका जीवन ही इनके विचारो का प्रतिफलन है। मानव ही नही कुंजर से कीड़ी तक के जीवों को ये समभाव से देखते थे। इन्होने किसी पर विश्वास नही किया—सारा संसार झूठा तथा बनावटी है, वेद झूठे हैं, ऋषि, योगी, ब्राह्मण, पंडित सब झूठे तथा स्वार्थी है। इनका विचार था कि प्रेम की गली ही सच्ची है, क्योंकि उसमें बाहर कुछ और तथा भीतर कुछ और की आशंका नही। राजपथ पर मदमाती गति से चलनेवाले कुंजर के समान निर्भय अपने कार्य-क्षेत्र में बढते हुए इन्होंने स्वान[३] के समान भूकनेवाले विरोधियों की कभी परवाह नही की।

---

१. मध्ययुग के अधिकांश सन्त उसी श्रेणी से आये थे जिन्हें हिन्दू समाज में कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। (११३, दादू) (विचार और वितर्क)

२. नीचे नीचे सब तरे, जेते बहुत अधीन।
चढ़ बोहित अभिमान की, बूड़े कॅच कुलीन॥

३. हस्ती चढ़िए ज्ञान का, सहज दुलीचा डारि।
स्वान-रूप ससार है, भूखन दे झख मारि॥

निर्गुणिया की प्रतिभा में अविश्वास नहीं किया जा सकता। अशिक्षित तथा हीन होते हुए भी ये इतने शिष्य इकट्ठे कर सके, यही इनकी महत्ता का प्रमाण है। यह ज्ञान इतना साधारण काम नहीं कि इसकी पूछ एक विशेष वर्ग में ही हो सकती थी और उस वर्ग को एक विशेष दृष्टिकोण के द्वारा ही अनुयायी बनाया जा सकता था। विद्या हीन होकर भी सभी सम्प्रदायों का कामचलाऊ ज्ञान इनको था, और हर चीज़ में अपने मतलब की बात निकालना ये जानते थे। आधुनिक शब्दावली में इनमें नेतागिरी का स्वाभाविक गुण था। इनके साहित्य में दूसरों की बहुत सारी बातें मिलती हैं। कारण दो हैं। या तो इनको सत्य के प्रकाशन से मतलब था साहित्य के निर्माण से नहीं, इस लिए किसी भी साधु के पद को अपने नाम से गाकर अपने शिष्यों को प्रभावित किया करते थे। या अच्छी चीज़ दूसरों से लेकर अपने नाम से चलाना इनकी शिष्य बटोरने की कला का एक गुण है। जो भी हो, निर्गुणी साहित्य पर व्यक्तित्व की छाप कम है कौन-सा पद किसका है यह निर्णय आसान नहीं, और एक व्यक्ति के नाम से चलने वाला पद्य उसी का है या उसके शिष्यों का—इसका निर्णय तो असम्भव है। गुरु तो अशिक्षित थे इसलिए उनकी 'बानी' उस समय तक मौखिक रही जब तक कि किसी साक्षर शिष्य ने नमक मिर्च मिलाकर उसको लिपिबद्ध न कर दिया। इसलिए निर्गुण साहित्य प्रामाणिक नहीं है न भाषा की दृष्टि से और न विचारों के लिए। सारे निर्गुणी-साहित्य में एक ही प्रकार के विचार उनके स्पष्टीकरण के लिए एक ही दृष्टान्त तथा रूपक और उनको बाँधने के लिए प्रायः एक ही सी बोली पाई जाती है। यदि कबीर पर विचार कर लिया जाय तो फिर दादू पलटू आदि ही क्यों नानक तक पर विचार पुनरुक्त-सा ही लगता है।

एक दृष्टि से सूफ़ियों को जैनों का तथा निर्गुणियों को बौद्धों (बौद्धाभास सिद्धों तथा नाथों) का एकलव्यी शिष्य कहा जा सकता है परन्तु यह दृष्टि स्थूल है सूक्ष्म नहीं उसमें शरीर की गठन को ही ध्यान में रखा गया है मन, बुद्धि और हृदय को नहीं। क्योंकि जैनों की चरित-शैली को अपनाकर भी लोक-कहानीकार सूफ़ी मुसलमान करुणाभूत जैनों की अपेक्षा वेदद्वेषी नाथों का अधिक प्रशंसक है उसकी काव्यसर्वस्व नायिका को वामाचारियों की मुद्रादायिनी योगिनी का समयोचित रूप ही समझना चाहिए। इसी प्रकार निर्गुणिया ने सिद्ध नाथों से कुचले समाज को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया इनकी शिक्षा के ताने-बाने पूरे किये और उसी परम्परा के दृष्टान्त तथा अटपटेपन से अपने विचारों को स्पष्ट किया, फिर भी निर्गुणियों का आदर्श कुछ और ही था। शंकर के मायावाद के साथ साथ नाथ-सम्प्रदाय का उदय हुआ, ये इन्द्रियों के दास न रहकर मन के स्वामी या नाथ[1] बनना चाहते थे। इसलिए गोरखनाथ का प्रचार और प्रतिष्ठा बढ़ी परन्तु शीघ्र ही इन नाथों में अहंकार और दम्भ मुख्य हो गया मनो विजय गौण। भक्ति-सम्प्रदाय ने नाथ मत से भिन्न एक दास धर्म का प्रचार किया,

---

१ इंस्टेड आफ स्लेवज़ टु नायस वांटेड अस टु बिकम मास्टरस (५२)
(एन इन्ट्रोडक्शन टु पंजाबी लिटरेचर)

परन्तु यह दासत्व मन या इन्द्रियों का न होकर गुरु या हरि का था। निर्गुणियों तक यह भक्ति नाथ-धर्म को छोड़कर दास-धर्म की ओर अग्रसर हो रही थी, सगुण भक्तों ने नाथ-धर्म बिल्कुल फेंक दिया और अपूर्व दास-धर्म की सुदृढ़ नींव जमा दी, आगे चलकर सखा-धर्म, पत्नी-धर्म आदि भी विकसित हुए जो नाथ-धर्म के अहंकार से नितान्त निःशंक थे। अस्तु, वेष-भूषा में सिद्ध-नाथों का अनुकरण करते हुए भी निर्गुणी काव्य आचार-विचार में उनसे भिन्न है।

महात्मा कबीर

सन्त-मत नामक सम्प्रदाय के पूर्व प्रवर्त्तक महात्मा कबीर थे। उनके पश्चात् जो सन्त-महात्मा हुए उनमें गुरु नानक, दादूदयाल, जगजीवन साहब, पलटू साहब, हाथरस वाले तुलसीदास, गरीबदास, सुलभदास, चरणदास, नाभा जी, दरिया साहब रामदास, सूरदास आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।[1] सन्त-मत एक व्यापक नाम है, गुरु-विशेष का सम्प्रदाय उसके व्यक्तित्व तथा देशकाल की परिस्थितियों के कारण, सन्त-मत से अनुप्राणित होता हुआ भी, विशेष नाम से विख्यात हुआ; यहाँ तक कि राधास्वामी सम्प्रदाय का नाम तो उस परम्परा से बिल्कुल अलग है ही 'राधा' का संयोग भी निर्गुणियों को अजीब लगेगा; नानक का पंथ परिस्थितियों के कारण अध्यात्म की अपेक्षा संसार को अधिक प्रश्रय देने लगा। फिर भी कबीर की प्रत्यक्ष या परोक्ष मान्यता इन सभी सम्प्रदायों में है, उत्तर-पश्चिम में नानक, पश्चिम-दक्षिण में दादू, दक्षिण में नामदेव-तुकाराम[2], और पूर्व में अच्युतानन्द दास, (उड़ीसा) जैसे दिग्गजों पर कबीर का प्रभाव है; अपने क्षेत्र में तो उनके बहुत से शिष्य तथा अनेक उपसम्प्रदाय हैं।

कबीर की तुलना के लिए सर्वप्रथम हमारा ध्यान तमिल-वेद तिरुक्कुराल के रचयिता तिरुवल्लुवर[3] (ईसा से पूर्व शती) पर जाता है। दोनों के जन्म पर एक-सी जनश्रुतियाँ हैं, दोनों जाति के हीन थे, जुलाहे का व्यवसाय करके अपने गृहस्थ का निर्वाह करते थे, दोनों की शिक्षा-दीक्षा आदि के विषय में कोई प्रामाणिक वक्तव्य सम्भव नहीं। वल्लुवर का 'कुराल' तथा कबीर की 'साखी' आकार-प्रकार में समान हैं। वल्लुवर के युग में जिस श्रद्धा का साम्राज्य था उसका प्रभाव उनके गंभीर तथा व्यापक जीवन-दर्शन में है; परन्तु कबीर का युग खंडन से लाञ्छित है, इसलिए कबीर-साहित्य में अखंडता की रक्षा नहीं हो सकी है। जहाँ तक जाति का प्रश्न है आलवाड़ सन्त ही नहीं, दादू (धुनिया), रैदास (चमार), नामदेव (दर्जी), सभी शूद्र थे और नेताओं के अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेश में शूद्र-भक्तों की बाढ़-सी आ गई थी; श्री दिवेकर ने महाराष्ट्र के प्रमुख सन्तों में गोरा और राका कुम्हार, सांवता माली, नरहरि सुनार,

१. राधास्वामी सम्प्रदाय, (सरस्वती, जनवरी १९१७)।
२. कबीरदास के दोहे तो उन्होंने याद किये थे। इस बात का वर्णन महीपति जी ने किया है। इन दोहों की छाप इनके अभंगों पर कई स्थानों पर पड़ी हुई नजर आती है। (संत तुकाराम, ६६)
३. तमिल-वेद। (भावना और समीक्षा, पृ० १६२)

जोगा तेली, नामा छूडीवाला, बंका और चोखा महार, तथा कान्होपात्रा वेश्या के नाम गिनाये हैं[1], उडिया के अच्युतानन्द दास प्रभृति 'पंचसखा' शूद्र ही थे। शूद्रों के इस भक्ति आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने से दो स्पष्ट सम्भव लाभ हुए—एक अभिजात-वर्ग का अहंकार दमित हो गया, दूसरा पतित समाज में सांस्कृतिक उच्छ्वास फैल गया।[2] इन्हीं दोमुखे प्रयत्न से भक्ता ने मध्यकालीन समाज में सांस्कृतिक शान्ति स्थापित कर दी।

हिन्दी में कबीर ही प्रथम भक्त हैं, इसलिए भक्ति आन्दोलन की युगव्यापिनी विशेषताओं से कबीर के व्यक्तित्व का बहुत कुछ अनुमान लग जाता है। कुछ बड़े-बड़े सम्प्रदायों को छोड़कर शेष का कबीर मत से सम्पर्क रहा है—भले ही कबीर मत प्रगट रूप में कबीर की ही उद्भावना न हो। कबीर की बहुत सी बातें मानकर भी कुछ सम्प्रदाय जब संगठित रूप में चले तो उनको मन्दिर, तीर्थ व्रत, तथा 'ठाकुर की सेवा' में विश्वास करना पड़ा। उदाहरणार्थ महाराष्ट्र के 'वारकरी' सम्प्रदाय में 'पंढरपुर' तथा 'विट्ठल' का महत्त्व है और आषाढ़ तथा कार्तिक की एकादशियों को पंढरपुर में वारी करनेवाले विट्ठल-दर्शन से अपने को धन्य मानते हैं। इसी प्रकार उड़ीसा के 'महिम धर्म' ने अनेक सम्प्रदायों को पचाकर सगुण द्वारा निर्गुण की उपासना चलाई, इसके प्रवर्तक पंचसखा थे। इसमें पुरी प्रतिष्ठित देवाधिदेव जगन्नाथ की उपासना की जाती है और इन पंचसखाओं ने मूर्ति पूजा, तीर्थ-यात्रा तथा तान्त्रिक एवं यौगिक साधनाओं का तिरस्कार भी है। सिक्ख-सम्प्रदाय ग्रन्थविशेष की पूजा करता है और उसके कथनों को कट्टरतापूर्वक पवित्र मानता है, राधास्वामी सम्प्रदाय में मन्दिर तथा समाधियाँ पूजा के लिए ही हैं। स्वयं कबीरपंथ में अन्धानुसरण तथा अपने को ठीक और दूसरों को झूठा समझने की पर्याप्त प्रवृत्ति है। अस्तु, इन बाहरी आडम्बरों की विभिन्नता में भी निर्गुण उपासना कुछ आन्तरिक विशेषताओं के कारण अलग छाँटी जा सकती है। इन विशेषताओं में मुख्य हैं ब्राह्मण धर्म के पूज्य ग्रन्थ वेद उपनिषद आदि की अमान्यता और उनके स्थान पर सम्प्रदाय प्रवर्तक के भाषा निबद्ध वचनों का आदर प्रदान; शंकर आदि भी सन्त हैं परन्तु वे इस प्रवाह से बाहर हैं इसीलिए उनमें गीता का महत्त्व है वस्तुतः प्रस्थानत्रयी को निर्गुणिये आदर नहीं देते। इसी विशेषता के कारण आधुनिक पुनरुत्थान के दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द, अरविन्द, गांधी आदि न कोरे सन्त हैं और न सम्प्रदाय प्रवर्तक। दूसरी विशेषता है अपनी पद्धति को धर्म का रूप न देकर सम्प्रदाय का रूप देना अर्थात् इसमें सामाजिक जीवन की व्यापक व्यवस्था न करके केवल व्यक्तिगत उपासना आदि का मार्ग निकालना फलतः साम्प्रदायिक विश्वासों में समान होने हुए भी निर्गुणिये सन्त सामाजिक जीवन में एक दूसरे से बहुत दूर हैं। प्रारंभिक दिशा में निर्गुणियों ने शास्त्र और अध्ययन में अविश्वास दिखलाया,

---

१ सन्त तुकाराम (पृ० ७)।

२ आफ पुलिंग डाउन दि हेजेमनी आफ दि सोशल विगोट्स एण्ड आल्सो आफ अपलिफ्टिंग दि लोअर स्ट्रेटा ऑफ सोसाइटी विद दि मोस ऑफ कल्चरल इन्लो थेन्स। (स्टडीज इन मेडीवल रिलीजन एण्ड लिटरेचर आफ उड़ीसा, १९)

परन्तु सम्प्रदाय चल जाने पर प्रवर्त्तक के वचन ही शास्त्र बन गये और धीरे-धीरे अनुभव का स्थान साक्षरता ने ले लिया, फिर भी साधन तथा अनुभव से ही महत्ता की माप इस आन्दोलन की तीसरी विशेषता माननी चाहिए। चतुर्थ विशेषता बाह्य आडंबरों का त्याग तथा सदाचारी जीवन है, इस जीवन में गृहस्थ भी सम्मिलित है क्योंकि घर-बार त्यागकर उपासना में निर्गुणियों का अधिक विश्वास नहीं। रूप की अपेक्षा नाम को अधिक महत्त्व, जाति-पाँति का त्याग, अहिंसा तथा प्रेम, और सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता तो उस युग में सामान्यतः सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

कबीर की साखियाँ

रूप तथा गुण की दृष्टि से कबीर के काव्य को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—दोहा (साखी) तथा गीत (सबद, रमैनी, पद आदि)। इन दोनों वर्गों की आत्मा भले ही एक हो परन्तु मन और हृदय अर्थात् कल्पना तथा भावना में घना अन्तर है अतः इनके सौन्दर्य का पृथक् विवेचन ही अधिक उपयुक्त है।

साखीकार कबीर जनता के सूक्तिकार अनुभवी कवि हैं, साखी में लोक का अनुभव ही नहीं, शास्त्र की अच्छी-अच्छी बातें भी भरी हुई हैं; महात्मा जी ने स्वयं ही अपनी साखी को चारों वेदों का सार[1] बताया है; अनुमान से ज्ञात होता है उस समय बहुत से लोग साखी लिखते होंगे, परन्तु कुछ कच्चे थे इसलिए आगे न चल सके, कबीरदास ने ऐसे अनुभवहीन समसामयिक साखीकारों को जूठी पत्तल चाटनेवाला[2] कहा है। 'कुराल' के समान 'साखी' छन्द का नाम नहीं है और न इस शब्द से वर्ण्य-विषय का बोध होता है; 'साखी' 'साक्षी'[3] का देशीय रूप[4] है, अतः जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य, विधि-निषेध में प्रमाण-स्वरूप बनकर निर्णय कर सके वही साखी है, वस्तुतः यह धर्म-शास्त्र या उपदेशामृत का ही पर्यायवाची नाम है; यह आश्चर्य की बात है कि कबीर के अनन्तर सूक्तिकारों ने अपने नीति के दोहे-सोरठों को साखी नाम नहीं दिया, कदाचित् 'साखी' बनने के लिए साम्प्रदायिक दृष्टिकोण भी अनिवार्य है। हाँ, तो साखी दोहे में ही हो, यह आवश्यक नहीं, कुछ साखियाँ सोरठे में हैं, और कुछ छन्दोबन्धन-रहित पंक्तिबद्ध सूक्तिमात्र हैं, इनका अल्पाकार तथा सरल कथन ही इनको साखीत्व दिला सका है :—

---

१. बलिहारी वहि दूध की, जामें निकरै घीव।
आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव॥

२. साखी लाया जतन करि, इत-उत अच्छर काटि।
कहि कबीर कब लगि जिये, झूठी पत्तरि चाटि॥

३. तुलना कीजिए :—
सूरदास प्रभु की महिमा अति साखी वेद-पुरानौ। (सूरसागर, विनय, ११)
गर्भ परीच्छित रच्छा कीन्ही, वेद-उपनिषद् साखी। (वही, ११२)

४. जो हम कही, नहीं कोउ मानै, ना कोइ दूसर आया।
वेदन-साखी सब लिउ अरुझै, परम धाम ठहराया॥

(क) सुखिया सब ससार है, खाये अरु सोव ।
दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोव ।।
(ख) जो मोहिं जान, ताहि म जानौं ।
लोक वेद का, कहा न मानौं ।।

साखी के वर्ण्य विषय ३ हैं—विधि, निषेध तथा निरूपण । विधि और निषेध तो धर्म तथा नीति के अंग हैं निरूपण साम्प्रदायिक है । विधि और निषेध की तुलना में कबीर ने निरूपण की साखियाँ बहुत कम लिखी हैं, क्योंकि साम्प्रदायिक कार्यवाही के लिए वे तीनों को अधिक उपयुक्त समझते थे । कबीर का समस्त निरूपण प्रधानत हिन्दू-शास्त्र से आया है, अत निरूपण की साखियों में सौंदर्य की अखिल झलक कबीर ने दूसरों से ही ली है । उदाहरण के लिए कर्ता की पूर्णता निराकारत्व, सर्वव्यापकता आदि का निरूपण उसी पुरानी धार्मिक शब्दावली में देखिए —

(क) अछ पुरुष इक पेड़ है, निरंजन वाकी डार ।
तिरदेवा साखा भये, पात भया ससार ।।
(ख) जाके मुह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप ।
पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्त्व अनूप ।।
(ग) तेरा साँई तुझ में, ज्या पुहुपन में बास ।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूढ़ घास ।।

अक्षय वट तथा ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख अश्वत्थ वृक्ष की चर्चा हिन्दू शास्त्रों में प्रसिद्ध है, बृहदारण्यक उपनिषद में "यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा । तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहि ।" द्वारा पुरुष को वृक्ष ही माना गया है मुण्डकोपनिषद् ने "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।" आदि के प्रसग में 'क्षेत्रसज्ञक अश्वत्थ वृक्ष' की कल्पना की है । कबीर के वृक्ष-रूपक में इसी प्रकार की परम्पराओं का सुना-सुनाया परिचय है । इसी प्रकार अणु से भी अणु अग्नि में तेज, वायु में गति, तथा जल में शीत के समान ब्रह्म को अपने भीतर खोजने का आदेश हिन्दू परम्परा में चला आ रहा है । कबीर ने इस निरूपण में जहाँ भी आवश्यक समझा है हिन्दू परम्परा से सौन्दर्य का सम्पादन किया है । उपनिषद के कुछ अन्य दृष्टान्त भी कबीर में आ गये हैं —

(क) अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ।(मुण्डकोपनिषद्)
अन्धे को अन्धा मिला, राह बताव कौन ।।
अन्ध अन्धा ठेलिया, दून्यू कूप पडत ।।
(ख) तिलेषु तैल दधनीव सर्पि—
राप स्रोत स्वरणीषु चाग्नि (श्वेताश्वतरोपनिषद)
ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आगि ।
तेरा साँइ तुझ में, जागि सक तो जागि ।।
(ग) अपाणिपादो जवनो गृहीता
पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण (श्वेताश्वतर)

बिनु मुख खाइ, चरन बिनु चालै, बिन जिभ्या गुन गावै।
आछे रहै ठौर नहिं छांडै, दस दिसहूँ फिरि आवै॥

(घ) पुरमेकादशद्वारम् अजस्यावक्रचेतसः। (कठोपनिषद्)
दस द्वारे का पींजरा; तामें पंछी पौन॥

(ङ) प्रणवः धनुः, शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य, शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (मुण्डकोपनिषद्)
शब्द की चोट लगी मेरे मन में, बेध गया तन सारा॥
सोवत ही मैं अपने मंदिर में, सब्दन मारि जगाये रे फकिरवा॥

(च) यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे···। (मुण्डकोपनिषद्)
समुदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।

कबीर के काव्य से इन स्थलों को उद्धृत करके उपनिषद् से सादृश्य दिखाने का न तो यह अर्थ है कि कबीर ने उपनिषद् सुने थे या वे उनके उन स्थलों से परिचित थे, और न यह है कि एक दृष्टान्त का जो उपयोग उपनिषद् में है ठीक वही कबीर में भी है। हमारा अभीष्ट केवल यही दिखाना है कि उस युग की सुनी-सुनाई बातों में उपनिषद् का ज्ञात या अज्ञात रंग था, कबीर में अनायास ही उसके छींटे आ गये हैं।

अब विधि और निषेध की साखियों में से विधि की साखियाँ देखिए। कबीर ने अपने अशिक्षित शिष्यों के लिए जो नीति के दोहे कहे हैं, उनमें से बहुत सों के चरण आज लोकोक्ति रूप में प्रयुक्त मिलते हैं, इस लोकोक्तिपन का श्रेय कबीर को है या कबीरत्व का उत्तरदायित्व लोकोक्ति पर है—यह ठीक-ठीक बताया नहीं जा सकता; हमारा अनुमान है कि इनमें से अधिकतर लोकोक्तियाँ उस समय किसी न किसी वेष में प्रचलित थीं, कबीर ने उनको अपना साधन बनाकर अमर कर दिया है :—

(क) आपुहि खारी खाल है, बेचत फिरै कपूर॥
(ख) कहवे को चंदन भये, मलयागिर ना होय॥
(ग) बहुत रसिक के लागते, बेस्या रहि गई बाँझ॥
(घ) जाका घर है गैल में, क्या सोवै निचींत॥
(ङ) दुइ पट भीतर आय के, साबुत गया न कोय॥
(च) केते दिन लौं राखि हौ, काँचे बासन नीर॥
(छ) कोयला होय न ऊजरा, सौ मन साबुन लाय॥
(ज) प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समाय॥
(झ) दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम॥
(ञ) अब पछतावा क्या करै, चिड़िया चुग गई खेत॥
(ट) पाँव कुल्हाड़ी मारिया, मूरख अपने हाथ॥
(ठ) बोया पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते खाय॥
(ड) जाके आँगन है नदी, सो कस मरै पियास॥

इन लोकोक्तियों के उपरान्त नीति की इस वाणी मे दूसरा आकर्षण सहज गुण का है, शास्त्रीय दृष्टि से उसमें कोई सौन्दर्य न हो परन्तु अपने भोलेपन से वह हृदय को

मुग्ध कर लेती है, वाणी का यही रूप कबीर की लोकप्रियता का भी कारण है —

(क) जाको राखे साइयाँ, मारि न सकै कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥

(ख) दुख में सुमिरन सब करै सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, दुख काहे को होय॥

(ग) देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय॥

(घ) चाह गई, चिंता मिटी, मनुवाँ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, सोई साहसाह॥

(ङ) साँई इतना दीजिए, जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

(च) साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साच है, ताके हिरदे आप॥

(छ) बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय॥

इन साखियों की संख्या अपार है। इनमें काव्य का सौंदर्य उतना नहीं, जितना कि सत्य का, फिर भी ये साहित्यिक को उतना ही आकृष्ट करती हैं जितना कि शिष्य को, इसी प्रकार की साखियों के आधार पर कबीरदास को हिन्दी का श्रेष्ठ सहज कवि माना जाता है।

कबीर की साखियों का सबसे बड़ा आकर्षण तो मौलिक अप्रस्तुत-योजना है। कबीर का समाज कौनसा था उनके शिष्य किस वर्ग के थे उनकी कितनी योग्यता थी, उनका रहन-सहन रीति रिवाज क्या थे—इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमको कबीर की वह अप्रस्तुत-योजना देखनी पड़ेगी जो किसी दूसरे से नहीं आई प्रत्युत कबीर से जन्मकर कबीर तक ही सीमित रह गई। और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर का समाज धोबी और कुम्हार, रँगरेज और लुहार, संक्षेप में उस वर्ग का था जिसकी ब्राह्मण ने अवहेलना कर दी थी और जो साक्षर तो था ही नहीं मानसिक स्तर की दृष्टि से भी अत्यन्त हीन था। ब्राह्मण और कबीर में तो पानी और अग्नि का-सा वैर[1] है क्षत्री भी प्रत्यक्ष तो नहीं मिलते उनके शूर धर्म की निन्दा करते हुए कबीर ने एक नये[2] शूर धर्म की स्थापना की है, वैश्य[3] की साखियाँ

१ जो तोहरा को बामन कहिये, कावो कहिये कसाई।
जो बामन तुम बामनी जाय।
और मारग काहे नहिं आये॥ (आदि अनेक कथन)

२ खेत तुपक से जो लड़ै, सो तो सूर न होय।
माया तजि भक्ती करै सूर कहाय सोय॥

३ साँई मेरा बानिया सहज करै ब्योपार।
बिन डाँड़ी, बिन पालरे, तौलै सब ससार॥

एक-दो हैं वह भी संसारी लोगों के प्रसंग में नहीं; शूद्रों में भी दर्जी, सुनार, नाई आदि अपेक्षाकृत उच्च वर्ग के लोग भुला दिये गये है, उनके स्थान पर मगहर-निवासी रँगरेज, लुहार, कुम्हार, धोबी आदि का बहुशः स्मरण है :—

(क) जैसे खाल लोहार की, साँस लेत बिनु प्रान ।
बिना जीव की स्वाँस सों, लोह भसम ह्वै जाय ॥
(ख) गुरु कुम्हार, सिष कुंभ है, गढ़ गढ़ काढ़ै खोट ।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर वाहै चोट ॥
(ग) गुरु-धोबी, सिष-कापड़ा, साबुन-सिरजनहार ।
सुरति-सिला पर धोइए, निकसै जोति अपार ॥
(घ) धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय ।
माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय ॥
(ङ) कबिरा मन पर्वत हुता, अब मैं पाया जानि ।
टाँकी लागी शब्द की, निकसी कंचन खानि ॥
(च) पंडित और मसालची, दोनों सूझै नाहिं ।
औरन को कर चाँदना, आप अँधेरे माँहि ॥

इन स्थलों पर साहित्यिक सौन्दर्य तो है नहीं परन्तु अपने प्राकृत रूप में ही यह सामग्री पाठक के मन पर प्रभाव डालती है; नित्य-प्रति की वस्तुओं के प्रति हमारे मन में एक प्रच्छन्न मोह होता है; साथ ही जिस व्यापार से हम सुपरिचित होते हैं उसका रहस्य हमारे मन में बैठ भी जाता है। पंडित और मसालची की तुलना में एक तो 'मसालची' शब्द में ही व्यंग्य है 'ची' प्रत्यय 'बाज़' प्रत्यय की तरह (दे० अफीमची, तबलची, सुलफेबाज़, दगाबाज़ आदि) बुरे गुण के अधिकार में प्रयुक्त होता है, अतः 'मसालची' शब्द को सुनते ही हमारा ध्यान उन निरीह 'दीवटों' की ओर जाता है जो प्रकाश-स्तम्भ को अपने सिर पर धारण करके, उसके बोझ से दबते हुए, सजीव होकर भी निर्जीव के समान केवल उस स्तम्भ को टेकने के चलते-फिरते आधार-मात्र बनकर दूसरे की 'रोशनी' में योग देते हैं। 'मसालची' 'टॉर्च-बियरर' नहीं है जो प्रकाश दिखला सके, वह तो साधन बना हुआ स्तम्भ है—जितना लम्बा उतना ही अधिक लाभदायक, उससे आप 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' नहीं कहते बल्कि उसको अपने हुक्म पर नचाते हैं। कबीर ने उपनिषद् के उस वाक्य पर कैसा असांस्कृतिक व्यंग्य किया है, यह उनकी प्रतिभा और क्षोभ दोनों का ही द्योतक है, 'चिराग तले अँधेरा' वाली कहावत सत्य होते हुए भी संसार की सभी संस्कृतियाँ तो प्रकाश का उल्लासपूर्वक स्वागत करती हैं, फिर ज्ञानी पण्डितों की इस भर्त्सना का क्या अर्थ ! और उपनिषद् पर इस व्यंग्य में कौनसी उदारता !!

अब कबीर जी के समाज के गुणों को भी देख लीजिए। शिष्यों में जो विशेषताएँ उनको बार-बार दिखाई पड़ रही थी उनके एक बार ही निवारण का उपदेश इन शब्दों में है—

जुआ, चोरी, मुखबिरी, ब्याज घूस, पर-नार ।
जो चाहै दीदार को, एती वस्तु निवार ॥

कबीर के समय में वाममार्गी छाया में सोता हुआ यह समाज जिन दुर्गुणों को अपने जीवन का अंग बना चुका था उनके निवारण का उपदेश इस प्रकार की शब्दावली में अनेक स्थानों पर मिलता है, संभव है ये दुर्गुण किसी न किसी मात्रा में अभिजात-वर्ग में भी रहे हों परन्तु कबीर उस वर्ग के तो अहंकार और आडम्बर की ही चर्चा करते हैं। परकीया का उस युग में वामाचारियों ने बड़ा प्रचार कर रखा था कबीर इसी लिए सबसे अधिक जोर इसी अवैध सम्बन्ध के त्याग पर देते हैं और शिष्यों के मन में परकीया-त्याग की भावना को बढ़ाने के लिए उन्होंने हिन्दू इतिहास के सबसे प्रसिद्ध दृष्टान्त का उपयोग किया है—

पर नारी पनी छुरी, मति कोऊ लाओ अंग ।
रावन के दस सिर कटे, पर-नारी के संग ॥

परकीया के प्रति घृणा उत्पन्न करते-करते वे नारी मात्र का तिरस्कार करने लगते हैं (ध्यान रखना होगा कि परकीया गमन हिन्दू समाज में नितान्त त्याज्य घोषित किया गया है इसीलिए इतिहास के किसी भी काल में परकीया गमन अभिजात वर्ग ने स्वीकार नहीं किया, परन्तु धर्म के आवरण में हीन जनता इसको वाममार्ग के उपदेश से अपना चुकी थी, कबीर अपने शिष्यों की इसी दुर्वृत्ति से अत्यन्त दुखी थे उनकी दृष्टि में अभिजात-वर्ग तो कदापि[1] नहीं है)—

---

1 स्त्री पुरुष के जिस सम्बन्ध का कबीर में संकेत है वह अभिजात-वर्ग में कभी स्वीकार नहीं किया गया। प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

(क) तेरह दिन तक तिरिया रोवे, फेर करै घर बासा।
(द्विजों में न तो विधवा विवाह होता है, और न कोई स्त्री किसी दूसरे पुरुष का घर बसा सकती है इतर जातियों में आज भी 'घर बसाने' की प्रथा पाई जाती है।)

(ख) राम मोर बड़ा, मैं तन की लहुरिया।
(यह असम विवाह इतर जातियों में प्रचलित ही था।)

(ग) धन भई बारी, पुरुष भये भोला सुरत झकोरा खाय।
(यह भी अनमेल विवाह का परिणाम है।)

(घ) बिछुवा पहिरिन, औंठा पहिरिन, लात खसम के मारिन जाय।
('खसम' शब्द 'पति' का पर्यायवाची नहीं, उससे कुछ कम का द्योतक है, संस्कार के बिना किसी स्त्री के साथ घर बसानेवाले कामचलाऊ पुरुष को खसम कहते हैं। लात मारना भी पतिव्रता के लिए असंभव है।)

(ङ) औ नयन गयल मोर कजल देत।
औ वयस गयल पर पुरुष लेत॥
(यह व्यभिचार व्रत भी द्विज जाति में असंभव है।)

(क) छोटी-मोटी कामिनी, सब ही विष की बेलि ।
बैरी मारै दांव परि, यह मारै हँसि-खेलि ।।
(ख) साँप बीछि को मंत्र है, माहुर झारे जात ।
विकट नारि पाले परी, काटि कलेजा खात ।।

इतना ही नहीं कबीर ने नारी को भी उपदेश दिया कि तुमको एक पुरुष तक ही सीमित रहना चाहिए, तुम मैली रहती हो, या गरीब हो इससे कोई अन्तर नहीं आता, यदि तुम पतिव्रता हो तो गरीबी में भी तुम आदरणीय[1] हो, इसलिए अन्य की आशा[2] छोड़कर पति पर विश्वास[3] करती हुई तुम आठ-पहर चौसठ घड़ी[4] अपने पति का ही ध्यान करो, यदि तुम ऐसी बन गई तो पति से कह सकोगी कि मैं किसी अन्य को नहीं देखती तुमको भी दूसरी को न देखने दूँगी[5], और तब तुमको रडा[6] का-सा जीवन न बिताना पड़ेगा, तुम्हारा पति तुम्हारे लिए कमाकर तुमको देगा। इन उपदेशों के साथ-साथ कबीर ने दुर्गुणों के उदात्तीकरण का भी प्रयत्न किया है, लुटेरे से वे बोले—भाई लुटेरे, अगर तुम लूट सकते हो तो राम-नाम को क्यों नहीं लूटते[7], अगर तुम लापरवाही से दूसरी चीजों की ही लूट करते रहे तो पीछे पछिताना होगा। कबीर की नायिका अपने यार[8] से मिलने में इसलिए सकुचाती है कि वह मैली है, बुरा काम करते हुए उसके मन में भय नहीं उत्पन्न होता।

कबीर का समाज सामान्य से कुछ कम ही था; वे नगर, ऐश्वर्य, संस्कृति तथा सौन्दर्य का चित्र न खींच सके; राग-रंग को देखकर उनके मुख से आह[9] ही निकलती है। प्रकृति भी इस कवि को आकृष्ट न कर सकी, वृक्ष है तो खजूर[10], और उपवन में

---

१. पतिबरता मैली भली, गले काँच की पोत ।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि ससि की ज्योति ।।
२. सुन्दरि तो साँई भजै, तजै आन की आस ।।
३. पतिबरता पति को भजै, पति पर धर विश्वास ।।
४. आठ पहर चौंसठ घड़ी, मेरे और न कोय ।।
५. ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देउ ।।
६. सती न पीसै पीसना, जो पीसै सो राँड ।।
७. राम नाम की लूटि है, लूटि सकै तो लूटि ।
अन्त काल पछितायगा, जब प्रान जायगा छूटि ।।
८. यार बुलावै भाव सों, मो पै गया न जाय ।
धनि मैली पिउ ऊजला, लागि न सक्कौं पाय ।।
९. पाँचों नौबत बाजती, होत छतीसों राग ।
सो मंदिर खाली पड़ा, बैठन लागे काग ।।
१०. बड़ा हुआ, तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर ।।

सौरभ मदमाता पुष्पदल नहीं प्रस्तुत शंकाकुल[1] कली है, पायल[2] का दर्द कवि के मन में कोई भाव नहीं जगाता, न पावस की घनघोर घटा है न शरद का चन्द्रातप, सारा वन उनको जलता हुआ-सा[3] लगता है। परन्तु जीवन में कबीर का मन अवश्य लगा है और चक्की चूल्हे की बातें उनकी कविता में अप्रस्तुत बनकर आ गई हैं, कहीं चींटी चावल[4] ले जा रही है, तो कहीं किसी के उपवन में कुत्ते का भौंकना[5] सुनाई पड़ता है वर्षा में जलनेवाली गीली लकड़ी[6], अन्न पछोरने का सूप[7], सायंकाल खाने का चबेना[8] अनार की कली[9] खरबूजा[10] का दाग, पानी का बुलबुला[11], झरता हुआ पात[12] और मदिरा की दुकान[13] इन सामग्रियों में अप्रस्तुत बनकर आये हैं। इन अप्रस्तुतों के विषय में पहली बात तो यह है कि ये मौलिक हैं—कदाचित् प्रथम और अन्तिम बार ही प्रयुक्त। दूसरे इनका परिचय पाठक के मन में बड़ा प्रभावशाली चित्र खींच देता है और तीसरी तथा सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि इस अप्रस्तुत योजना के लिए जिन शब्दों का प्रयोग है वे इतने स्वाभाविक और सधे हुए हैं कि अभीष्ट अर्थ में पूर्ण सफल हैं। चबेना खानेवाला कुछ गोद में रख लेता है, कुछ हाथ में और कुछ मुँह में—गोद और हाथ, हाथ और मुँह में अन्तर ही कितना है, इसी प्रकार जो मर रहे हैं उनसे बचे हुओं को अधिक दूर नहीं समझना चाहिए। गोरस फिरै में गोरस मारा मारा फिर रहा है, पेड़ से अलग होकर गिरता हुआ पत्ता जिस प्रकार वायु के बवंडर में पड़कर अपने मूल से अति दूर न जाने किस अज्ञात देश में पहुँच जाता है अपनी मंद मंद से कुछ कहता हुआ, गिरता-पड़ता बेसुध-सा अभागा उसी प्रकार उस अभय-वृक्ष से अलग होकर दुनिया की हवा में भूला हुआ मायामुग्ध

---

१ माली आवत देखि कै, कलियाँ करें पुकार।
फूली फूली चुनि लिए, काल्हि हमारी बार॥
२ आम की डार कोइलिया बोलै, सुवना बोलै बन में॥
३ बन की दाही लाकड़ी, ठाढ़ी करै पुकार॥
४ चींटी चावल ले चली, बिच में मिलि गइ दार॥
५ कूकर ज्यों भूकत फिरै, सुनी सुनाई बात॥
६ बिरहिन ओदी लाकड़ी सपचे औ धुँधुआय॥
७ साधु ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाइ॥
८ जगत चबेना काल का, कछु मुख में, कछु गोद॥
९ जानो कली अनार का, तन राता, मन श्वेत॥
१० खेत बिगारी खरतुआ सभा बिगारी कूर॥
११ पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥
१२ पात झरता यों कहै, सुनु तरवर बनराय।
अबके बिछुरे ना मिलें, दूर परेंगे जाय॥
१३ गली गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय॥

जीव न जाने कितना भूलकर कहाँ-का-कहाँ पहुँच जाता है। कबीर ने 'साकतजन अरु स्वान'[1] को एक साथ रखकर शाक्तों के प्रति कितनी घृणा दिखलाई है—यह किसी को 'कुत्ता' कहकर देखिए, आपको पता लग जायगा; अगर कुत्ता भूँकेगा तो क्या आप अपना रास्ता बन्द कर देंगे, उस नीच का तो काम यही है—टुकड़ेखोर, खुशामदी, इन्द्रियों का दास, नीचानुनीच !!

निषेध की साखियों में उपदेश कम है, व्यंग्य अधिक। व्यंग्य की रचना दृष्टान्त की सामग्री को विपरीत रूप देकर ही होती है, फिर भी दृष्टान्त की अपेक्षा व्यंग्य में अधिक शक्ति है, वह जिस बात को रोकना चाहता है उसके विरोध का बीज श्रोता के मन में चुपचाप बो जाता है। कबीर का उद्देश्य था मूर्ति-पूजा का विरोध; वे इसके लिए यही साधन अपनाते हैं, अगर उपदेश देने लगें कि भाइयो पत्थर मत पूजो तो उनकी बात कौन सुनेगा, अत. वे कुछ जिज्ञासुपन की भावना से बोले—'सुना है, भाई, कि पत्थर की मूर्ति पूजने से ईश्वर मिल जाता है। यदि यह ठीक है तो आज से मैं भी पत्थर पूजा करूँगा—मैं एक बड़े से पहाड़[2] को पूजूँगा जिससे कि ईश्वर और भी शीघ्र प्राप्त हो जाय'। यह पत्थर पूजने पर एक व्यंग्य था, पत्थर के गुण (बड़ा-छोटा, अच्छा-बुरा) से उपासक सोचने लग गया, उसके मन की श्रद्धा कपूर बन गई, यही कबीर का उद्देश्य था, उन्होंने भक्त को सोचने का कुछ अवसर दिया, स्वयं भी मानो कुछ सोचने लगे मन्द-मन्द मुसकान के साथ, और फिर बोले—'संसार कितना भोला है, बाहर पत्थर पूजने जाता है, घर की उस चक्की[3] को क्यों नहीं पूजता जो खाने को अन्न देती है—वह भी पत्थर है और बड़ा उपकारी'। व्यंग्य की यह शैली सिद्धों और नाथों में तो प्रचलित थी ही, कर्मकाण्ड का विरोध उनसे पूर्व भी होता था, सम्भव है कबीर को ये चुटकियाँ परम्परा से ही प्राप्त हुई हों—

(क) नाम न रटा तो क्या हुआ, जो अन्तर है हेत।
पतिवरता पति को भजै, मुख से नाम न लेत॥

(ख) मूँड मुड़ाए हरि मिलें, सब कोइ लेहि मुँड़ाय।
बार-बार के मूँडने, भेड़ न बैकुंठ जाय॥

(ग) न्हाए धोए क्या भया, जो मन मैल न जाय।
मीन सदा जल में रहै, धोए बास न जाय॥

(घ) पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय॥

(ङ) आसन मारे क्या भया, मुई न मन की आस।

यद्यपि कबीर को शब्दों की खिलवाड़ से प्रेम न था फिर भी जब वे देखते कि थोड़ा-सा खेल उनके प्रचार में समर्थ हो सकेगा तो अवसर को हाथ से जाने न देते थे;

---

१. साकत-जन अरु स्वान को, फिरि जवाब मति देय।

२. पाहन पूजत हरि मिलें, तो मैं पूजूँ पहाड़।

३. दुनिया ऐसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजे, जेहि का पीसा खाय॥

सानिया में इस प्रकार के कतिपय सुन्दर उदाहरण हैं—

(क) माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुआँ तो दस दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाँहि।

(ख) करका मनका छोड़ के, मन का मनका फेरि॥

(ग) तिन का तिन का तो मिला, तिन का तिन के पास॥

(घ) घर की नारी को कहै, तन की नारी नाँहि॥

(ङ) कबिरा सोई पीर है, जो जाने पर-पीर॥

स्वाभाविक एवं सजीव अभिव्यक्ति के लिए कबीर ने जिस अप्रस्तुत सामग्री का चयन किया है वह शास्त्रीय दृष्टि से अधिक उपयुक्त न भी हो परन्तु उससे यह सिद्ध अवश्य होता है कि रूप रंग तथा गुण के सादृश्य के बिना भी प्रभाव-साम्य तुलना की मनोहर सामग्री प्रदान कर सकता है। निम्नलिखित उदाहरण हमारे अभिप्राय को स्पष्ट कर सकेंगे—

(क) तबोली के पान ज्यूं, दिन दिन पीला होय।

(ख) फाटा फटिक पषाण ज्यूं, मिला न दूजी बार॥

(ग) *काल खड़ा सिर ऊपर, ज्यों तोरण आया बींद॥*

(घ) काल अच्यता झड़पसी, ज्यों तीतर को बाज॥

(ङ) यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाता है॥

(च) रचक पवन के लागते, उठें नाग ने जागि॥

तम्बोली के पान और राम वियोगी में रूप रंग तथा गुण का तो कोई साम्य नहीं, परन्तु परिपाक दोनों का एक ही होता है—पीला पड़कर नष्ट हो जाना। स्फटिक पाषाण तथा मन, काल तथा वर, काल तथा बाज, संसार तथा कागज की पुड़िया और नाग तथा बनावटी साधु में रूप रंग का साम्य नहीं परन्तु गुण-साम्य तथा परिपाक-साम्य है कवि का उद्देश्य उस गुण की ओर ध्यान आकृष्ट करना भी है जिसके लिए अप्रस्तुत वस्तु जगत् में प्रसिद्ध है काल को एक स्थान पर बाज के समान भयानक तथा हिंसक बनाया गया है दूसरे स्थान पर वर के समान पूर्णता प्राप्त कराने वाला अनन्य आधार, कवि का उद्देश्य एक स्थान पर बाज के समान त्वरित तथा प्रबल कहकर साथ ही काल को दुलहा के समान प्यार करने वाला अनन्य आधार भी बतलाना है। कबीर एक स्थान पर पर नारी प्रेम को लहसुन के समान कहते हैं, उसके आरोग्यप्रद गुणों को दृष्टि में रखकर नहीं प्रत्युत उसकी अवश्य फलने वाली गंध की ओर संकेत करके—*आप भरसक बचाइए वह संसार को प्रगट हो जायगा—*

पर-नारी को राचणौ, जिसी ल्हसण की खानि॥
खूणै बसि रखाइए, परगट होइ दिवानि॥

कबीर के गीत

'रमनी', 'सब्द', 'चौंतीसा', 'विप्रमतीसी', 'कहरा' 'बसंत', 'चाँचर', 'बेलि', 'बिरहुली', 'हिंडोला' आदि गीतों के लेखक कबीर धर्मोपदेशक की अपेक्षा सम्प्रदाय

प्रवर्तक अधिक थे। इनके गीतों में कहीं-कहीं वे भाव भी मिलते हैं जो साखियों में हैं, और साखियों के सौन्दर्य की यत्किंचित् आवृत्ति इन गीतों में हो गई है। परन्तु इन गीतों में काव्य-सौन्दर्य बहुत कम है, कबीर के नाम से प्रसिद्ध ये गीत कबीर को साहित्य में कोई भी स्थान न दिला पाते; पुराणों में कथित सृष्टि की नीरस सविकार लम्बी-चौड़ी कहानी, कर्त्ता की काल्पनिक महत्ता; नासूत, मलकूत, जबरूत, लाहूत या फिर ऋषि, मुनि, देव, गन्धर्व आदि नामों की सूची आदि से पाठक का मन उचट जाता है, न कोई भाव-कण है न कोई सौन्दर्य-बिन्दु।

परन्तु ये गीत ही कबीर को कबीर बनाते हैं। इनकी कुछ विचित्रताएँ हैं जिनको सौन्दर्य नाम से अभिहित किया जाता है; ये मुख्यतः दो हैं—रूपक तथा उलटबाँसी। रूपक तथा रूपक-बन्ध की चर्चा हमने वीर काव्य के सम्बन्ध में की थी, भक्ति-काव्य (निर्गुण तथा सगुण दोनों) में रूपक का विशेष स्थान रहा है; मुग्धा की सामग्री से निर्मित साखियों के इन रूपकों को देखिए—

(क) नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय॥
(ख) बिरह-कमंडलु कर लिये बैरागी दो नैन।
माँगें दरस-मधूकरी, छके रहैं दिन-रैन॥
(ग) येहि तन का दिवला करौं, बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब देखौं मुख पीव॥

प्रथम उदाहरण में नेत्रों पर कोठरी, पुतली पर पलँग तथा पलकों पर चिक का आरोप करने से एक पूरा रूपक बन जाता है, शृंगार की सामग्री से भक्ति का काम भी निकल गया, 'प्रिय' शब्द उभय-प्रयुक्त है—जिस प्रकार पत्नी अपने हाव-भाव से प्रिय को अन्तःपुर में बद्ध कर लेती है, उसी प्रकार भक्त भगवान को अपने नेत्रों में बिठाकर उसका ध्यान करता है—(यदि भगवान् निर्गुण है तो आँखों में किस प्रकार बसेगा—यह सोचने की बात है, यह भाव तो तुलसी के "भरि लोचन, बिलोकि अवधेसा। तव सुनिहौं निरगुन-उपदेसा॥" के समान सगुण का ही प्रतिपादन करता हुआ दिखाई पड़ता है)। दूसरे उदाहरण में नेत्रों को 'बैरागी' माना है, विरह को कमंडलु, दर्शन को मधूकरी; यहाँ रूप, रंग या गुण का कोई सादृश्य नहीं। तीसरे उदाहरण में तन को दीपक, जीव को बत्ती तथा रक्त को तेल बनाने से दुर्गन्ध ही उठती है प्रिय-दर्शन की सूचक सुरभि नहीं।

साखियों में ये रूपक अधिक नहीं, और जो है भी उनमें बेढंगापन नहीं मिलता, परन्तु गीतों में इनकी भरमार है। गीतों के रूपक वस्तुतः समाज के दैनिक जीवन से अति निकट हैं, और कबीर के समन्तात् जीवन का एक हल्का-सा चित्र भी इनसे बन जाता है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि कबीर का समाज उस समय के उपेक्षित वर्गों से बना था, इन रूपकों से उसी निष्कर्ष का समर्थन मिलेगा। कबीर जुलाहे थे, इसलिए घूम-फिरकर वे अपनी जाति पर आ जाते हैं, उनके गीतों में जितने रूपक जुलाहे से सम्बन्धित हैं उतने किसी और से नहीं—

(क) महिं प्रकास दुइ गाड़ सँवारा । चाँद सुरज दुइ नरी बनाया ॥
सहस तार लै पूरनि पूरी । अजहूँ बिन कठिन है दूरी ॥
कहहिं कबीर करम सों जोरी । सूत कुसूत बिन भल कोरी ॥

(ख) गज नव, गज दस, गज उनइस की, पुरिया एक तनाई ॥
सातसूत, नौ गड बहत्तर, पाट लागु अधिकाई ॥

(ग) लम्बी पुरिया पाई छीन । सूत पुराना, खूटा तीन ॥
सर लागे तेहि तीन सौ साठि । कसनि बहत्तरि लागु गाँठि ॥
खुर खुर खुर खुर चलै नारि । बैठि जुलाहिन पालथि मारि ॥

इस प्रकार के गीतों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कबीर ने जुलाहे का जीवन निकट से देखा था, आगामी शताब्दी में इन गीतों से भारतीय बुनकरों के सुन्दर चित्र लिये जाया करेंगे, वस्तुतः अनभिज्ञात समाज का जितना सुन्दर चित्र कबीर में मिलता है उतना हिन्दी के किसी और कवि में नहीं। इन गीतों का कोई अर्थ है या नहीं, और जो है वह कितनी खींचतान से आया है—यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है। जुलाहे के बाद कबीर का दूसरा दृश्य 'रहटा है काल भी एक चक्र' है, और दैनिक जीवन भी एक चरखा है—वही पुरानी चीजों का फिर से आना-जाना, इसलिए रहँटा का चित्र देख कर कबीर 'रहँटा न होय मुक्तिकर दाता' लिखकर पाठक को कुछ सोचने की सामग्री देते हैं। 'औढ़न मेरा राम-नाम मैं रामहि का बनजारा हो', 'खसम बिनु तेली के बैल भयो', 'अब हम जाना हो हरि बाजी को खेल', 'अरे मन समझ के लादु लदनियाँ', साधो यह तन ठाठ तँबूरे का, 'गगन घटा घहरानी, साधो गगन घटा घहरानी', 'मोरी चुनरी में पड़ गयो दाग पिया', 'नइहर में दाग लगाय आई चुनरी', 'कौन रँगरेजवा रँग मोर चुनरी' आदि गीतों में भिन्न भिन्न पेशों के सुन्दर सुन्दर चित्र हैं। इनमें रूपक अलंकार नहीं है परन्तु मुद्रा रूपक जैसा एक काव्येतर सौन्दर्य अवश्य है, अलंकार भाव के अतिशय तथा स्पष्टीकरण के निमित्त प्रयुक्त होता है परन्तु यह सौन्दर्य, वातावरण तथा विस्मय का ही सहायक है। इन व्यवसायों के अतिरिक्त घरेलू जीवन, विशेषतः दाम्पत्य जीवन, की सामग्री से भी कुछ साम्प्रदायिक भावनाओं को सातिरेक बनाने का प्रयत्न है। दाम्पत्य जीवन का एक चित्र देखिए—

माई मोर मानुस अति सुजान, धंधा कुटि कुटि करै बिहान।
उठि बड़े भोर आँगन बुहार, लै बड़ी खाँच गोबरहिं डार।
बासी भात मनुस लै खाय, बड़ घैला लै पानी जाय।
अपनें सयाँ बाँधी पाट, लै रे बेचौं हाट हाट।

यह प्रौढावस्था के जुलाहे दम्पत्ति का चित्र है। अब सौभाग्य रात्रि को सखी प्रेरित सकोच शीला नवोढ़ा के मन का द्वन्द्व देखिए—

पिया मिलन की आस रहौं कब लौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय, मनै लज्जा भरी॥

पांव नहीं ठहराय, चढ़ूँ गिर-गिर पड़ूँ।
फिर-फिर चढ़हुँ सम्हारि, चरन आगे धरूँ॥
अंग-अंग थहराय तो बहुबिधि डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरितो भ्रम में परि रहूँ॥
बारी निपट अनारि तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइहै॥

अस्तु, ये मुद्रा-रूपक काव्य की दृष्टि से अधिक सुन्दर न भी हों, परन्तु समाज का मनोहर चित्र उपस्थित करने में सफल हैं और कबीर के वातावरण का एक निश्चित परिचय भी इससे मिलता है।

मुद्रा-रूपक और उलटवाँसी के बीच का एक सौन्दर्य और भी है जिसको अतिशयोक्ति की सामग्री से निर्मित कह सकते हैं, मुद्रा-रूपक में वर्ण्य तथा अवर्ण्य दानों साथ-साथ रहते हैं; परन्तु प्रस्तुत सौन्दर्य में अवर्ण्य का अस्तित्व तो प्रत्यक्ष है, वर्ण्य को व्यंग्य समझा जाता है। इस सौन्दर्य की सामग्री भी कबीर के उसी समाज से आकर पाठक को उनके विषय की उपर्युक्त धारणा के लिए ही बाध्य करती है। सबसे अधिक चित्र विवाह के हैं। कहीं स्वामी के संग श्वसुरालय आते-आते चौक[1] पर ही विधवा होनेवाली नायिका है; कहीं नगर की कोतवाली से परेशानी है; तो एक नायिका अपनी ननद को दोष दे रही है कि तू मेरे पति के साथ सौभाग्यवती बन गई, परन्तु उसे सन्तोष इसी बात का है कि वह स्वयं भी तो अपने पिता की एक पत्नी है :—

नगदी गे लै विषम सोहागिनि, तै निंदले ससारा गे।
आवत देखि एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे।
मोरे बाप के दुइ मेहरुआ, मैं औ मोर जेठानी गे।
जब हम अइलीं रसिक के जग में, तर्बाहि बात जग जानी गे।

अवैध योनि-सम्बन्ध की यह अप्रस्तुत सामग्री कबीर में बहुशः उपलब्ध होती है, कहा जाता है कि यह परम्परा का प्रभाव है, जिसमें 'गोमांस[2]', 'अमर-वारुणी', 'बालरंडा' के साथ 'बलात्कार'[3] तथा माता, बहिन, पुत्री, भागिनेयिका आदि के साथ भोग[4] की बार-बार चर्चा आई है और इन प्रसंगों के बड़े ज्ञान-ध्यान[5] के अर्थ किये गये हैं। यदि यह सत्य भी हो कि कबीर तथा उनके गुरुओं का इन अश्लील बातों से कोई गहरा

---

१. साँई के संग सासुर आई।
× × ×
अर्घ दै लै चली सुवासिनि, चौके रांड़ भई संग साँई।

२. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमर-वारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥ (हठयोग प्रदीपिका)

३. गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्॥ (वही)

४. जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्वयोगेन लघु सिध्येद्धि साधकः॥ (प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि)

५. दे० डॉ० ह० प्र० द्विवेदी : कबीर, पृ० ४६ तथा ८० से ८४ तक।

अभिप्राय है तो भी इस विषय में मतभेद का कोई कारण नहीं कि अप्रस्तुत रूप में आगत इस सामग्री से कबीर आदि के समाज तथा वातावरण का वास्तविक चित्र उपलब्ध होता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शिष्य बटोरने के लिए ये लोग किस सीमा तक झुक सकते थे। अस्तु इन अटपटी बानी का मुख्य स्वर यहीं वामाचारी प्रत्यय योनि-सम्बन्ध है 'पुत्र बियाहल माता', 'बिटिया ब्याहल बाप', 'माय घर पुत्र', 'मादरिया गह बेटी जाई', आदि प्रशस्तियाँ तो कबीर का मत अपनाती ही नहीं।

इसी प्रसंग में वे उलटबाँसियाँ हैं जिनका अटपटापन शिष्यों को चमत्कृत कर देता था और "अवधू सो जोगी गुर मेरा, जो यहि पद का कर निबेरा" कहनेवाले कबीर की सभा में धाक जम जाती थी। इस सौंदर्य के लिए पशु-पक्षी तथा वनस्पति ही अधिक बुलाये गये हैं, और प्राकृतिक वस्तुओं में अप्राकृतिक व्यापारों का गहरा वर्णन है। कहीं 'मूस बिलाई एक संग' है कहीं 'हस्ती सिंघहि खाय', कहीं 'बाँझ के कोख पुत्र औतरिया' कहीं 'तरवर एक मूल बिन ठाढ़ा' है, चींटी के पद में हस्ती बँधा है बिल्ली श्वान से बियाही गई है, सिंह सियार से डरता है—यह 'अदभुत ज्ञान' इतना अधिक है कि बकरी और बाघ में विवाह होते देखकर मांसी बरात में जाने के लिए गिर मुड़ा रही है। कवि के शब्दों से ही हमको सहमत होना पड़ता है कि 'देखि देखि जिय अचरज होय, यह पद बूझ बिरला कोय'। इन संकेतों में कितना सार है और इनको साहित्य में कौनसा स्थान मिलना चाहिए, यह विवादास्पद नहीं, साम्प्रदायिक दृष्टि से भले ही इन अटपटी बातों का कुछ मूल्य हो आश्चर्य भावना को जगाने मात्र के लिए प्रयुक्त होकर साहित्य में इनको आदर नहीं मिल सकता।

जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है इन उलटबाँसियों में दो प्रकार का अटपटापन है—प्रकृति विरोध तथा विधि विरोध, प्रकृति विरोध से हमारा अभिप्राय पशु पक्षी तथा वनस्पति में उन व्यापारों के दर्शन से है जो उनके स्वभाव के प्रतिकूल हैं जैसे बन्ध्या के पुत्र जन्म, समुद्र में आग लगना कुत्ते बिल्ली का विवाह आदि, हमारा अनुमान है कि जो दृष्टान्त ब्राह्मण शास्त्र में असम्भव प्रमाण के लिए प्रयुक्त होते रहे होंगे उन्हीं को सम्भव दिखाने की कला, परम्परा से प्रभावित होकर कबीर में आई है—श्रोता को आश्चर्य मग्न करने मात्र के लिए। विधि विरोध से यहाँ अवैध योनि-सम्बन्ध मात्र समझना चाहिए, इसका एकमात्र आधार नारी है जो इतनी उच्छृंखल बन गई है कि योनि-सम्बन्ध में वह कुतिया या भस के समान ही स्वतन्त्र है विवाह से पूर्व ही अनेक पुरुषों से उसका यह सम्बन्ध प्रारम्भ होता है—भाई तथा पिता आदि भी उसके लपेट से नहीं बच पाते। यह आश्चर्य की ही बात है कि कबीर ने गोमांस, वारुणी आदि को अटपटे अर्थ के लिए ही सही, नहीं लिया—पंच मकार में से केवल मैथुन ही अप्रस्तुत बनकर आया है। कारण कदाचित यह हो कि मांस मदिरा आदि का यदि अप्रस्तुत संकेत भी रहता तो कबीर का पंथ बदनाम हो जाता क्योंकि उस समय जनता इन मकारों का संकेतार्थ ग्रहण न करके प्रचलितार्थ ही लिया करती थी, और वामाचार के विरोध में सदाचार की दुन्दुभी उस युग का एक उच्च स्वर था स्त्री और पुरुष के विभिन्न सम्बन्ध कबीर के शिष्य-समाज में उस समय हेय न समझे जाते थे,

योनि-सम्बन्ध पर जो नियन्त्रण अभिजात वर्ग में है वह इतर वर्ग मे आज भी दिखाई नही देता।

अस्तु कबीर की उलटबाँसियाँ प्रायः पहेली भी बन गई हैं, अमीर खुसरो की पहेलियों के समान ही कठिन परन्तु उतनी रोचक नहीं—

चली जात देखी एक नारी। तर गागरि ऊपर पनिहारी॥
चली जात वह बाटहि बाटा। सोवनहार के ऊपर खाटा॥
जाड़न मरै सपेदी सौरी। खसम न चीन्है धरनि भौ बौरी॥
साँझ सकार दिया लै बारै। खसम छाँड़ि, सँवरै लगवारै॥
वाही के रस निसुदिन राची। पिय से बात कहै नहिं साँची॥

और उनका शस्त्र वही अवैध सम्बन्ध ज्ञात होता है। कबीर के गीतो की यह विशेषता है कि वे जनता को चमत्कृत तथा आकृष्ट करने के लिए शुद्ध साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से रचे गये हैं, नीति तथा उपदेश उनमें अपवाद रूप से ही मिलेंगे।

अन्य निर्गुणी कवि

कबीर के अनन्तर हिन्दी में जो दूसरे निर्गुणी कवि दिखलाई पड़ते हैं वे कबीर से कम प्रतिभाशाली थे इसलिए उन्होंने कबीर के अनुकरण का ही कुछ प्रयत्न किया है; नानक, दादू, सहजो, धरनी आदि कबीर के उपजीवी ही हैं। इन कवियो की दो विशेषताएँ हैं। प्रथम, ये गीतों से ही अपने शिष्यों को समझाया करते थे, द्वितीय इनमें साहित्य के वे पेच नही है जिनसे कबीर की धाक जमी थी। इनके गीतों का सामान्य स्तर एक उदाहरण से जाना जा सकता है —

जीवन है दिन चार, भजन करि लीजिए।
तन मन धन सब वार सन्त पर दीजिए।
सन्तहि तें सब होइ जो चाहै सो करें।
अरे हाँ, पलटू संग लगे भगवान् सन्त से वे डरें॥

इन कवियों के अधिकतर विचार और भाव कबीर से ही आये है:—

(१) दुनिया ऐसी बावरी, पत्थर पूजन जाइ।
घर की चक्की कोइ न पूजै, जेहि का पीसा खाइ॥ (कबीर)
साधो दुनिया बावरी, पत्थर पूजन जाइ।
मलूक पूजै आत्मा कछु माँगै, कछु खाइ॥ (मलूकदास)

(२) साकत बामन ना भला, बैस्नो भला चंडाल।
अंकमाल दै भेटियै, मानो मिले गोपाल॥ (कबीर)
करनी पार उतारि है, धरनी कियो पुकार।
साकत बामन ना भला, भक्ता भला चमार॥ (धरनी)

(३) पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जात।
देखत ही छिपि जायँगे, ज्यों तारा परभात॥ (कबीर)
जगत तरैया भोर की, सहजो ठहरत नाहिं।
जैसे मोती ओस की, पानी अँजुल माँहि॥ (सहजोबाई)

(४) गुरु धोबी, सिष कापड़ा, साबुन सिरजनहार ।
सुरति सिला पर धोइये, निकस जोति अपार ॥ (कबीर)
सतगुरु धोबी जो मिलै, दिल दाग छुड़ाय । (दादू)

(५) कौन रँगरेजवा रँग मोर चुदरी ।
पांच तत्त कै बनी चुदरिया चुंदरी पहरि के लग बड़ी सुबरी । (कबीर)
साहेब मोरे दीन्हीं चोलिया नई ।
तीन पांच मोरि चोलिया के चुड़ी, लागी कुमति सुमतिया की पती ।
(धरमदास)

(६) एक हाड़ त्वचा मल मूत्रा, रुधिर गुदा एक गूदा ।
एक बिन्दु ते सृष्टि रच्यो है, को ब्राह्मण को सूद्रा ॥ (कबीर)
एक बाम्हन एक सूद्र । एक हाड़ चाम तन गूद ॥ (गरीबदास)

इस प्रकार के प्रसंगों की कोई इति नहीं हो सकती, क्योंकि निर्गुणियों में दूसरे से सुनकर स्वयं कह सुनाने की कला विनिष्टता को प्राप्त हुई थी।

लम्बे-लम्बे रूपकों की छटा भक्तिकाल की एक मुख्य प्रवृत्ति है, सगुण कवियों के समान कबीर के रूपक तो किसी साम्य पर आधारित है, परन्तु पलटू आदि के रूपकों को देखकर हँसी आती है, सौन्दर्य का तो प्रश्न ही नहीं कोरी दिमागी कसरत ही दिखाई पड़ती है, पलटू अपने एक रूपक में रामायण की कथा की सहायता से यह बतला रहे हैं कि साधक किन किन गुणों के द्वारा अपना आचरण अच्छा बनाता हुआ दशम द्वार पर ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है —

सील का अवध, सनेह का जनकपुर,
सत्त की जानकी ब्याह कीता ।
मनहिं दुल्हा बने आपु रघुनाथ जी,
ज्ञान के मौर सिर बाँधि लीता ।
प्रेम बरात जब चलि है उमगि के,
छिमा विश्राम जनवास दीता ।
भूप हंकार के मान को भंजि के,
धीरता धनुष को जाय जीता ।
सुरति और सबद मिलि पांच भांवरी फिरै,
मांग सिन्दूर दिया राग बीना ।
सन्तोष के दायजो, तत्त पुष्पांजली,
जनक जी बुद्धि विनवन्त कीना ।
विहा है विदा यह विहा असीस है,
लोभ और मोह से रहो रीता ।
दसएं महल पर अवधपुर कोहबरे,
दास पलटू सुन राम सीता ॥

इस रूपक में मुद्रा का चमत्कार अवश्य है परन्तु साहित्यिक औचित्य का ध्यान नहीं

रखा गया; 'सत्त' को 'जानकी' तथा 'बुद्धि' को 'जनक जी' कहने मे भारी लिंग-दोष है; 'धीरता' को 'धनुष', 'छिमा' को 'जनवांस', तथा 'सन्तोष' को 'दायजो' कहने का कोई सादृश्य या आधार नहीं है; 'स्नेह का जनकपुर', 'जनक जी बुद्धि' तथा 'सत्त की जानकी' कहने का अभिप्राय यह होगा कि स्नेह पर बुद्धि का शासन है और स्नेह से सत्य की उत्पत्ति होती है, परन्तु ये दोनों ही निष्कर्ष गलत हैं। यह सौन्दर्य शिष्यों को चमत्कृत भले ही कर सके साधक की दृष्टि से भी निर्दोष नहीं।

निर्गुणी सन्तों में दैनिक जीवन की ही सामग्री प्राय. उपलब्ध होती है; कबीर तक में शासन की शब्दावली से रूपक बनाने की रुचि नहीं; फिर भी इस 'अप्रतीत्व' दोष की कुछ सामग्री मिल जाती है—

संत-दरबार, तहसील-सन्तोष की,
कचहरी-ज्ञान, हरिनाम-डंका।
रिद्धि और सिद्धि दोउ हाथ बांधे खड़ी,
विवेक ने मारिके दिहा धक्का।
मुक्ति सिर खोलि के करै फरियाद को,
दिहा दुदकार यह अदल बंका।
मारि माया कहै अमल ऐसा किहा,
दास पलटू कहै हरीफ पक्का।।

अध्यात्मिक रहस्यों के स्पष्टीकरण के लिए ये रूपक कहाँ तक सफल हैं, यह कहना आसान नहीं। कठोपनिषद् में 'रथ-रूपक' द्वारा शरीर-रहस्य की व्याख्या की गई है—

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।

यूनानी दार्शनिक भी 'रथ-रूपक' की सहायता से अपने विचार स्पष्ट किया करते थे; प्लेटो का 'रथ-रूपक' प्रसिद्ध ही है।

कबीरेतर निर्गुणियों से साहित्यिकता की अधिक आशा भी नहीं की जा सकती, उनमें न वाणी का माधुर्य है और न राग और तुक का ही ध्यान है, है केवल भाव या सच्चा प्रेम, जिसके सहारे ही वे प्रिय को रिझाने का विश्वास रखते हैं—

कहाँ से लाऊँ मधुरा वानी,
रीझै ऐसी लोक बिरानी।
गिरधरलाल भावै का भूका,
राग कला ना जानत तुका।।

५

कृष्ण काव्य

दाक्षिण सन्तों द्वारा प्रादुर्भूत भक्ति-तरंगिणी जब रामानुजाचार्य की छाप से पवित्र घोषित हो गई तो आगे चलकर अद्वैतवाद में अस्थापन करने वाले सभी आचार्यों द्वारा इसकी स्वीकृति अनिवार्य थी। निम्बार्क तथा कृष्णस्वामी ने इस धारा को राधा कृष्ण के गौरव से विभूषित किया। दक्षिण से इसका प्रवेश उत्तर में भी हुआ और देववाणी के साथ साथ लोकभाषा को इसने पुनः मण्डित किया। हिन्दी में अद्यावधि अनुसन्धान के आधार पर कृष्ण काव्य के प्रथम रचयिता भक्त सूरदास हैं परन्तु उनके काव्य में इतनी प्रौढ़ता है कि उसको प्रथम रचना स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः कृष्ण काव्य की तरंग ने सर्वप्रथम पूर्वी लोक भाषाओं को आर्द्र बनाया था सूर से पूर्व मैथिली में विद्यापति और बंगाली में चण्डीदास शिरोमणि कवि हो चुके थे इनसे भी पूर्व जयदेव कवि देववाणी के माध्यम से राधा कृष्ण की सरस लीलाओं का रसास्वादन करा चुके थे। अतः कृष्ण लीला के सरस प्रचार का श्रेय पूर्व देश को है। परन्तु कृष्ण लीला का क्षेत्र ब्रज है अतः लीला कवि ब्रज में प्रायः आया करते थे और तद्देशीय संस्कृति को अनुकरणीय समझा करते थे फलतः उनकी प्रारंभिक कविता में भी ब्रज की अमिट छाप है—भाषा तथा संस्कृति दोनों की दृष्टि से। बंग देश में ब्रज बोली का जो नवीन साहित्य अनुसन्धान के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है उसे हिन्दी कृष्ण काव्य से विच्छिन्न न मानकर सूरकाव्य की पूर्वपीठिका के रूप में स्वीकार करना चाहिए। उत्तर भारत के समस्त कृष्ण काव्य पर ब्रज की भाषा तथा संस्कृति की स्पष्ट छाप है कोई आश्चर्य नहीं कि दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी तथैव प्रवृत्ति दृग्गत हो।

निर्गुणी माया-काव्य के प्रतिकूल सगुण साहित्य लीला-काव्य है अतः इसमें नैराश्य तथा निरसन के स्थान पर आशा-उत्साह तथा स्वीकृति का साम्राज्य लक्षित होता है। कृष्ण काव्य ने तो जीवन की सामान्य-से-सामान्य घटना को नारायण की लीला समझकर उसका सोल्लास गान किया है। कृष्ण काव्य जिन परिस्थितियों में विकसित हुआ वे विस्तार के अनुकूल न थीं अतः उसमें वस्तु और दृष्टिकोण दोनों की संकीर्णता आती गई—यदि कवि घर से बाहर जाता है तो केवल सुखभोग के लिए ही विषमता का सामना करने के लिए नहीं—फिर भी उसमें इतना उल्लास है कि पाठक एकरसता का अनुभव नहीं करता। प्रस्तुत की सीमा तथा अप्रस्तुत के वैविध्य ने ही कृष्णकाव्य को मुक्तक मधुर तथा हृद्य बना दिया है। सौन्दर्य विधान के लिए कृष्ण काव्यकार प्रत्यक्ष तथा शास्त्र दोनों का आश्रय ग्रहण करते हैं और अपेक्षाकृत शास्त्र अथवा परम्परा में निहित सौन्दर्य इस क्षेत्र में अधिक कृतकार्य हुआ है। परन्तु कृष्ण काव्य का सौन्दर्य अप्रस्तुत योजना तक ही सीमित नहीं संगीत की माधुर्यध्वनि तथा उक्तियों के निरक्ष चमत्कार उसको मनोरम और बहुश्रव्य बनाते हैं। यदि कृष्ण काव्य

के रचयिता लीला में इतने तन्मय न रहते तो उनकी कृति इतनी हृद्य तथा संवेद्य न बन पाती।

जयदेव

जयदेव कवि का 'गीतगोविन्द' अभिधेय 'प्रबन्ध' संस्कृत भाषा में लिखा हुआ है, परन्तु इस काव्य में संस्कृत काव्यशास्त्र के नियमों का आग्रह नहीं है। द्वादश सर्गों के इस 'उज्ज्वल गीत' में रचना का मुख्य कलेवर संस्कृत वृत्तों के स्थान पर राग-ताल-समन्वित लोकगीतों का है। कवि का उद्देश्य है यमुनाकूल पर राधा-माधव की रहः-केलियों का वर्णन; आगे चलकर 'वासुदेव-रति-केलि-कथा' कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि 'रहःकेलि' का अभिप्राय 'विलास-कला' ही है। दशावतार वन्दना में जयदेव ने 'हलं कलयते' द्वारा बलरामावतार के गीत गाये हैं, कृष्णावतार के नहीं। अनुमान से ज्ञात होता है कि उस युग में 'आभीर-वामभ्रुवाओं' के सम्मुख ही प्रेमान्धा राधा का निर्भर आलिंगन करनेवाले, 'अनेक नारी परिरम्भण' लालची हरि की कामीजनोचित क्रीड़ाओं के 'केलि-रहस्य' की व्याख्या का प्रयत्न ही हो रहा था; इनको 'अद्भुत' बताकर इनके मंगलपरक अर्थ किये जाते थे; भक्ति-भाव का प्रवाह कुछ पीछे आया और लोककृष्ण तथा धर्मकृष्ण का समन्वय शनैःशनैः ही पूरा हो सका। जयदेव ने 'दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्य नमः' लिखकर कृष्ण को 'जगदीश' माना है, परन्तु कृष्ण को स्पष्टतः कृष्ण वे उस समय न कह सके। उनके हरि 'मुग्ध' हैं, वे चुम्बन से लेकर 'शिथिलीकृत जघनदुकूल' तक की क्रियाओं में 'साधारण प्रणय' का निर्वाह करते हुए 'अनङ्गबाणव्रणखिन्नमानस' होकर 'संसार-वासना-बद्ध शृङ्खला' राधा को हृदय पर धारण करते रहते हैं; 'गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन चञ्चल-करयुगशाली' विरह-विह्वल होकर धरिणी पर लोटते हुए वनमाली कामदेव के साथ प्रलाप-विस्मृत हैं। समस्त काव्य में 'वासकसज्जा', 'कलहान्तरिता', 'अभिसारिका', 'मुग्धा', रतिप्रीता, 'व्रीडावती' आदि नायिकाओं के भेद एवं संयोग के नग्न तथा वियोग के प्राकृत चित्र देखकर इस काव्य को शृंगार का लोककाव्य कहने की ही इच्छा होती है। 'गीतगोविन्द' का मुख्य आकर्षण है 'मधुर कोमलकान्त पदावली' एवं राग-ताल-समन्वित गीत; इन विशेषताओं ने इसकी 'मनसिजप्रेङ्खत् कटाक्षानल ज्वाला' को भी कुछ सह्य बना दिया है। वर्णन रति-केलि तथा उसकी आधार एवं सहायक सामग्री का ही है; अतः नायिका के अंगों का कल्पनापूर्वक मण्डन यहाँ उपलब्ध है, 'रतिविपरीत' में नायक के हृदय पर नायिका ऐसी लगती है जैसे घन पर चपला[1], राधा के अनुकूल[2]—वचन अमृत हैं क्योंकि वे वदनसुधानिधि से निकले हैं; नायक एक ही साथ नायिका के पयोधररोधक[3] दुकूल और उसके विरह को दूर कर देता है। कवि का निष्कर्ष है 'कामस्य वामा गतिः', और यह

१. उरसि मुरारे रुपहितहारे घन इव तरलबलाके।
तडदिव पीते रतिविपरीते राजसि सुकृतिविपाके॥

२. वदन-सुधानिधि-गलितममृतमिव रचय वचनमनुकूलम्॥

३. विरहमिवापनयामि पयोधर-रोधक-मुरसि दुकूलम्॥

कि रात्रि के अन्धकार में रतिविमुग्ध दम्पति को अपूर्व रस की उपलब्धि होती है। अतएव उसने दम्पति रस के ही गीत गाये हैं भले ही वे 'रहस्यमय' हों, क्योंकि यह हरि की केलि क्रीडा है शृंगार द्वारा भक्ति का यह प्रयत्न वस्तुतः 'रहस्यमय' ही है। इस प्रकार जयदेव कवि के प्रयत्न से 'मूर्तिमान शृङ्गार' अर्थात् हरि की 'रह केलि' अन्ततोगत्वा 'केलि रहस्य' में परिणत हो गई।

विद्यापति

मैथिल-कोकिल विद्यापति ने जयदेव कवि से आगे एक कदम रखा और लोक रस के गीतों की रचना लोक भाषा में ही की। उनकी पदावली जयदेव के समान मधुर और कोमल-कान्त है अथवा नहीं, यह एकपद एवं नहीं कहा जा सकता परन्तु यह निश्चय है कि उसका प्रचार अनुवाद से अधिक है और इस प्रचाराधिक्य का रहस्य भाषा है। कवि इस रहस्य से अपरिचित न था, 'कीर्तिलता' में उसने अपनी भाषा पर सोल्लास गर्व प्रकट किया है—बालचन्द विज्जावई भाषा। दुहु नहिं लग्गई दुज्जन हासा॥ जयदेव की सरस्वती राधा-माधव की 'रह केलि' तक ही सीमित रही, उसमें 'सहचरी' का स्थान है और 'कुंजकुटीर' की भी चर्चा मात्र आ गई है। वस्तुतः गीतगोविन्द में अलौकिक लोकरस है अर्थात् लोकरस का वर्णन तो है परन्तु उसकी भौतिक परिस्थितियाँ किसी काल्पनिक जगत की हैं—मानस के निभृत निकुञ्ज में रूप और वासना के चिरविलास से ही नित्यवृन्दावन की कल्पना हुई है। इसके विपरीत विद्यापति में पार्थिवता का समावेश होता गया है 'रतिलम्पट कान्ह' और 'अपूर्व बाला' के 'सुरति-विहार', 'केलि-कलावती' के अभिसार 'गुप्त स्नेह', तथा 'प्रेम के मन्द परिणाम' के द्योतक गीत हैं। कुछ पद तत्कालीन मैथिल समाज की दुर्दशा के चित्र उपस्थित करते हैं, 'कुल गुन-गौरव' तथा 'पंच प्रपंच' की तृण के समान अवहेलना करने वाले नायक नायिका यहाँ राधा-माधव का स्वाँग करते हैं यमुना-तट वृन्दावन वंशी ध्वनि, नवल रास आदि का वर्णन अधिक नहीं इनके स्थान पर वयःसन्धि, सद्यःस्नाता, नखशिख, आदि की बहुधा चर्चा है। उनका नायक वस्तुतः 'रसिया' है, वह चोरी चोरी नायिका के पलँग पर पहुँच गया परन्तु उसकी आशा[१] पूरी न हो सकी क्योंकि वधू के पास सोने वाली सास जग गई थी कभी वह 'देवदेयासिन'[३] का वेष बनाकर जटिला सास को ठग लाया, कभी नवीना विदेशिनी[४] बनकर राधा के द्वार पर पुकारने लगा। अनमेल विवाह का आभास अनेक पदों में मिलता है कोई आश्चर्य नहीं कि परकीया प्रेम का

१ दम्पत्योर्निशि को न को न तमसि व्रीडाविमिश्रो रसः॥
२ जागल सास चलल तब कान।
न पूरल आस विद्यापति भान॥
३ गोकुल देवदेयासिनि आओल नगरहि ऐसे पुकारि।
अगन बसत यहि, जटिल बस धरि, कान्ह द्वार मा कठार॥
४ राइक निकट बजाओल सुन्दरि, सुनइत भइ गेल राधा।
ए नव यौवनि नविन विदेसिनि, आओ पुकारइ राधा॥

अधिकांश उत्तरदायित्व अनमेल विवाह पर ही हो; 'अलपवयस' की नायिका और 'तरुण-कान्ह' की केलि का तो सोल्लास अंकन है, परन्तु प्रियतम को गोद में लेकर बाजार जाने वाली नायिका से जब हाट के लोग पूछते हैं कि यह तुम्हारा देवर है या छोटा भाई, और नायिका 'पुरुब लिखल छल बालमु हमार' कहती हुई ठंडी साँसें लेने लगती है, तो पाठक उल्लसित नहीं होता, सहानुभूतिवश वह 'धीरज धरहु त मिलत मुरारि' कह कर उसको पर-पुरुष से मिलने का आश्वासन देने लगता है। अस्तु, सामयिक परिस्थितियों ने विद्यापति के काव्य में जीवन के विविध चित्र बना दिये हैं, फलत: उनके पद जयदेव के गीतों के समान शुद्ध या देशकालातीत नहीं रह सके और तद्‌गत वासना अखण्ड रूप में ग्राह्य नहीं बन पाई।

लोक-जीवन के समन्वय से इन पदों में अनेक उत्तेजक चित्र तथा मार्मिक स्थल समाविष्ट हो गये हैं। जयदेव ने 'रहःकेलि' का चित्रण किया है, यह ऊपर कहा जा चुका है; उनका पाठक नायक-नायिका को 'निभृत-निकुञ्ज-गृह' में ही चुम्बन, नृत्य, विलास, परिरम्भण या सम्भोग में तत्पर देखता है। उनमें जीवन की विविधता नहीं है, अत: अभिव्यक्ति उल्लास या खेद से उत्पन्न केवल उन भावों की है जो 'मदनमनोरथ' या 'कन्दर्पज्वरजनित' है। परन्तु विद्यापति में पश्चात्ताप भी है तथा नीति भी, यदि यह नीति प्रेम की भावना से असम्पृक्त न मानी जाय तो भी इसमें मनोदशा की चित्रता तो अंगीकार करनी ही पड़ेगी—

१. समय न बूझय अचतुर चोर।

२. ततहिं धाओल दुहु लोचन रे, जतहिं गेलि बर नारि।
आसा लुबुधल न तेजए रे, कृपनक पाछु भिखारि॥

३. कुलवति धरम काँच समतूल।

४. भल मन्द जानि करिअ परिनाम।
जस अपजस दुइ रहत ए ठाम॥

५. हठ तज माधव जाएवा देह।
राखए चाहिए गुपुत सनेह॥
भमर कुसुम रमि न रह अगोरि।
केओ नहि बेकत करए निअ चोरि॥

६. जनिक एहन धनि काम-कला सनि
से किअ करु व्यभिचार॥

७. अधिक-चोरी पर सयँ करिअ
एहे सिनेह क सोत॥

८. पर-नारी पिरित क ऐसन रीति।
चलल निभृत-पथ, न मानय भीति॥

९. काम प्रेम दुहु, एकमत भए रहु,
कखने की न करावे॥

१० एहि संसार सार वधु एइ।
निला एक सगम, आब जिव नेह ॥

विद्यापति में पश्चाताप दो प्रकार का है—कवि का तथा पात्र का। कवि ने —

(क) तातल सकत वारि बिन्दु सम
सुत मित रमनि-समाज।
तोहे बिसारि मन ताहे समरपिनु,
अब मझु हब कोन काज ॥
माधव, हम परिनाम निरासा ॥

(ख) जावत जनम नहि तुअ पद सेविनु,
जुवती मति मयँ मेलि।
अमत तजि हलाहल किए पीतल,
सम्पद अपदहि भेलि ॥

आदि पदों द्वारा अपनी शृंगारपरक जीवन चर्या पर अन्त में खेद प्रकट किया है जो इस बात का सूचक है कि उसकी पदावली में भक्ति-लेश नहीं प्रत्युत शृंगार प्रवाह ही है। कुछ पद नायिका के मुख से निकले हैं दूती के बहकावे में आकर[1] निज सर्वस्व लुटा देने के उपरान्त—जब कुलटा सहचरी के फुसलाने पर मुग्धा नायिका ने किसी पिशुन[2] के हाथ अपना कुल स्त्री धर्म बेच दिया प्रेमाभिनय काम के बदले। इन गीतों में मौन रोदन है पश्चाताप है प्रायश्चित्त मात्र नहीं क्योंकि कर्म प्रधान हिन्दू संस्कृति में प्रायश्चित्त मात्र से ही पूर्वकृत का शमन नहीं हो सकता उसका दारुण फल भोगना ही पड़ता है—विशेषतः कुलकामिनी तो पहली ही भूल में कुलटा[3] बन जाती है और तब न तो वह किसी का दोष दे सकती है और न किसी को अपना मुख ही दिखा सकती है। समस्त पदावली का पार्थिव सार केवल एक पद में ही सङ्कलित मिल जाता है—

कबहु रसिक सयँ दरसन होए जनु
दरसन होए, जनु नेह।
नेह विछोह जनु काहुक उपजए,
विछोह धरए जनु देह ॥

---

१ तोहर वचन सखि, कएल आँखि देखि,
अमिअ भरम विष-पाने।

२ मधु सम वचन, कुलिस सम मानस,
प्रथमहि जनि न भेला।
अपन चतुरपन पिसुन हाथ देल,
गरुअ गरव दुर गेला।
सखि हे मन्द प्रेम-परिनामा ॥

३ कुल कामिनी छलों, कुलटा भए गेलों, तिनकर वचन लोभाई।
अपन कर हम मूड मुड़ाएल, कानु से प्रेम बढ़ाई ॥

सजनी दूर कए श्रो परसंग।
पहिलहि उपजइत प्रेमक श्रकुर
दारुन बिधि देल भंग॥
दैवक दोष प्रेम जदि उपजए
रसिक सयं जनु होय।
कान्ह से गुपुत नेह करि श्रब एक
सबहु सिलाश्रोल मोय॥

गुप्त स्नेह का यह पश्चात्ताप विप्रलम्भ शृंगार कहकर नहीं टाला जा सकता, इसमें सचारी निर्वेद ही नहीं है प्रत्युत सामयिक समाज का एक अशोभन दृश्य भी दिखाई पड़ता है।

शृंगार के संभोग पक्ष में विद्यापति का मन अधिक रमता है, मिलन और मिलन से पूर्व की साधन-सामग्री जितनी आकर्षक है उतना विरह या पश्चात्ताप नहीं। मिलन या संभोग के चित्र जयदेव के 'गीतगोविन्दम्', लीलाशुक के 'श्रीकृष्णकर्णामृतम्' तथा रामानन्द के 'श्री जगन्नाथवल्लभ नाटकम्' में भी अपूर्व हैं, 'वल्लभीकुच-कुम्भ-कुङ्कुम-पंकिल' 'मदनजवधूवसनापहारी' प्रभु तथा 'प्रतिपद समुदित मनसिज बाधा', 'केलिविपिन' में प्रवेश करती हुई राधा की लीला के मधुर गीत उन सभी कृतियों में उपलब्ध हैं। परन्तु विद्यापति-पूर्व रचनाओं में राधा और कृष्ण के पारस्परिक परिचय की आवश्यकता नहीं हुई अतः एक-दूसरे को आकृष्ट करने के लिए उनके रूप का वर्णन नहीं किया गया। इसके विपरीत विद्यापति के राधा और कृष्ण तो एक दूसरे को बिलकुल नहीं जानते, कृष्ण परपुरुष हैं और राधा परकीया नारी (भले ही राधा अनूढ़ा हो, क्योंकि परकीया का अर्थ 'परकीय पत्नी' नहीं, प्रत्युत 'अ-स्वकीय' नारी है), उनकी लीलाओं का समस्त श्रेय (सहचरी नहीं) दूती को है, यदि वह न होती तो 'नवरति' की सारी कहानी असम्भव थी। दूती ने कृष्ण से राधा के रूप की भरसक प्रशंसा की, उद्दीप्त करके उसके मन को राधा के प्रति लुब्ध कर दिया, और दूती ने ही राधा के सामने कृष्ण के संभाव्य प्रेम का अत्युक्तिपूर्ण चित्र उपस्थित किया। अतः विद्यापति में उद्दीपन सामग्री का ही प्राचुर्य है; रति-पूर्व, रत्यारम्भ, रति तथा रत्यन्त के चित्रों में से पूर्व-पूर्व के चित्र विद्यापति को पसन्द आये उत्तरोत्तर के नहीं। 'कुरु यदुनन्दन चन्दन-शिशिरतरेण करेण पयोधरे' जैसा रत्यन्त का एक भी गीत विद्यापति ने नहीं लिखा। रत्यारम्भ में मन की साध[1] के विरल चित्र हैं, राधा का कमल-पत्र[2] के समान थर-थर काँपना और वसनापहरण करते ही राधा की साश्रु नहीं-नहीं[3] वस्तुतः रमणीय है;

१. सुखद सेजोपरि नागरि-नागर, बइसल नवरति साधे।
प्रति अंग चुम्बन, रस अनुमोदन, थर-थर काँपय राधे॥
२. जइसे डगमग नलिनिक नीर। तइसे डगमग धनिक सरीर॥
३. नहिं नहिं कहइ नयन भर नीर। सुति रहलि राहि सयनक श्रोर॥

प्राय तो राधा अपनी लज्जा[1] को दाब देती हुई अपना मन मारकर रह जाती है। अभिसार के वर्णन में कवि ने नायिका के साहस का वर्णन किया है उसके मन को साथ साथ को उद्दीप्त करने के लिए पर्याप्त है मन के मदन महोदधि-वेग ने कुल मर्यादा को डुबा लिया और 'कुल गुन-गौरव' तथा 'सति जस-अपजस' की तरावत् अवहेलना करके नवयौवना कामभागिनी राधा ने ग्रीष्म के असह्य ताप में अभिसार किया,[2] गुप्त प्रेम की ऐसी ही विचित्र गति है।

रूप पूर्व के चित्रों में विद्यापति अद्वितीय हैं, नायक और नायिका के रूप और यौवन के जितने उद्दीपक चित्र इन्होंने प्रस्तुत किये हैं उतने इनके पूर्व या समकालीन किसी कवि ने नहीं, सस्कृत के कवि विशिष्ट लोक के विलासी चित्रण में सिद्धहस्त थे, परन्तु इन पदों में लोक-सामान्य का कामोल्लास दर्शनीय है यदि सामाजिक पक्ष पर विचार न किया जाय तो लोकरस के ये चित्र कोमल कल्पना तथा मधुर अनुभूति में अपूर्व स्वीकार करने पड़ेंगे। नायिका के नखशिख का समस्त वर्णन नायक की मन्मथ भावना को उद्दीप्त करने के हो लिए है और इस कार्य में उसको पर्याप्त सफलता मिली है। उद्दीपन के उद्देश्य से विद्यापति ने नायिका के उन्हीं अंगों का मुख्यत वर्णन किया जो कामोद्दीपक है, उन अंगों का सुन्दर-से-सुन्दर चित्र खींचकर। सकृद्दृष्टि से तो समस्त नखशिख इन पदों में उपलब्ध है परन्तु ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि यौवन के मुख्य प्रतीक—काम को अनन्य उद्दीपक—कुचोज युगल के अपूर्व चित्रों में विद्यापति की लेखनी कृतकार्य हुई है—

(१) एके तनु गोरा, कनक-कटोरा।
(२) कनक-कमल हेरि काहिन लोभ।
(३) कनक-सभु-सम अनुपम सुन्दर।
(४) बकत कएल सुमेरु।
(५) असम भरल जनि सक्कर रे।
(६) नाल कमल दुइ आधा।
(७) बाल पयोधर, सिरिफ सहोदर।

---

१ पहिलुक परिचय, प्रेमक सचय, रजनी आध समाजे।
सकल कला रस सँभरि न भेले, धरिनि भेलि मोरि लाजे॥

२ तपनक ताप तपत भेलि महितल, तातल बालू दहन समान।
चढ़ल मनोरथ भामिनि चलु पथ ताप तपन नहि जान।
प्रेमक गति दुरबार।
नविन जौवनि धनि, चरन कमल जिनि, तइयो कएल अभिसार।
कुल-गुन-गौरव सति-जस-अपजस, तुनकरि न मानए राधे।
मन मधि मदन महोदधि उछल, बूड़ल कुल-मरजादे॥

(८) केहरि जनि गज-कुंभ विदार।
(९) ते थिर थम्भ पयोधर भार।
(१०) धराधर उलटल।
(११) फल उपहार पयोधर देई।
(१२) कनक-बेलु जनि पड़ि गेल हीमा।
(१३) कुचमय कमल कोरक जल मुदि रहु,
घट परवेस हुतासे।
दाड़िम सिरिफल गगन वास करु,
सम्भु गरल करु ग्रासे॥

इन १६ अप्रस्तुतों को निम्नलिखित ५ वर्गों में रखा जा सकता है—
(क) गौरवर्ण के लिए—कनक
(ख) विशालता „ „ —गिरि, गजकुम्भ
(ग) उभार „ „ —घट
(घ) आकार „ „ —श्रीफल, कटोरा, शम्भु
(ङ) कोमलता „ „ —कमल

यद्यपि 'बाल-पयोधर, गिरिक सहोदर' में अत्युक्ति ही मुख्य है, और 'पहिल बदरि-सम पुन नवरंग' कहकर कवि ने स्वागत से प्रतिष्ठा तक यौवन का चित्रण मात्र किया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि नायिका के अंग-प्रत्यंग के वर्णन में उसकी दृष्टि रूप, रंग, आकार तथा स्पर्श सभी गुणों पर है—रस तथा गन्ध का प्रश्न नहीं आता। पयोधर के उभार को यौवन की माप मानकर विद्यापति ने सबसे अधिक रुचि इसी गुण के वर्णन में दिखाई है। अप्रस्तुत के लिए पुराण से जो सामग्री आई है उसमें,पाठक का ध्यान 'कनक-सम्भु' पर अवश्य जायगा। ऐसा प्रतीत होता है मानो 'कनक-सम्भु सम अनुपम सुन्दर' तथा 'संभु गरल करु ग्रासे' आदि चरणों द्वारा पयोधर-द्वय को शम्भु से अधिक बताकर इस कवि ने शैवों पर एक चलता हुआ व्यंग्य भी किया है—यहाँ दो-दो शम्भु हैं तुम्हारे शम्भु अधिक सुन्दर (कनक), अधिक सुडौल, सजीव तथा रसप्रद!!

नखशिख में सर्वाधिक वर्णन तो 'पीन पयोधर' का है; रुचि की दृष्टि से दूसरा स्थान 'हरिनहीन हिमधामा' (=मुख) को मिला है क्योंकि विद्यापति रूप के कवि हैं और नारी का रूप उसका 'आनन पुनिम ससी' है और युवती का रूप 'कनक गिरि'को लजानेवाला 'कुच-मंडल'। यदि रूप के साथ-साथ रस में भी कवि का अनुराग होता तो 'सारंग-नयन' बहुश. चित्रण के विषय बनते, परन्तु विद्यापति का शृंगार प्राकृत है बिहारी के समान नागर नहीं, अतः कुच-कुम्भ के चित्रण में वे जितने विशिष्ट हैं उतने ही 'नयन-पंकज' के निरूपण में मन्द। हिन्दी के कवियों में विद्यापति की प्रतिष्ठा 'कुच-युगल' के चित्रण के लिए है।

विद्यापति का अप्रस्तुत-विधान बहुत उपयुक्त है, इसमें मन को उद्दीप्त करने

प्राय तो राधा अपनी लज्जा[1] को दाव देती हुई अपना मन मारकर रह जाती है। अभिसार के वर्णन में कवि ने नायिका के साहस का अकन किया है, उसके मन का साथ नायक को उद्दीप्त करने के लिए पर्याप्त है, मन के मदन महोदधि वेग ने कुल-मर्यादा को डुबा दिया और 'कुल-गुन-गौरव'[2] तथा 'सति-जस-अपजस' को तृणवत् अवहेलना करके नवयौवना कामलागिनी राधा ने ग्रीष्म के अगहा ताप में अभिसार किया, गुप्त प्रेम की ऐसी ही विचित्र गति है।

रति-पूर्व के चित्रों में विद्यापति अद्वितीय है, नायक और नायिका के रूप और यौवन के जितने उद्दीपक चित्र इन्होंने प्रस्तुत किये हैं उतने इनके पूर्व या समकालीन किसी कवि ने नहीं संस्कृत के कवि विशिष्ट लोक के विलासी चित्रण में सिद्धहस्त थे, परन्तु इन पदों में लोक-सामान्य का कामोल्लास दर्शनीय है, यदि सामाजिक पक्ष पर विचार न किया जाय तो लोकरस के ये चित्र कोमल कल्पना तथा मधुर अनुभूति में अपूर्व स्वीकार करने पड़ेंगे। नायिका के नखशिख का समस्त वर्णन नायक की सरस भावना को उद्दीप्त करने के ही लिए है और इस कार्य में उसको पर्याप्त सफलता मिली है। उद्दीपन के उद्देश्य से विद्यापति ने नायिका के उन्हीं अगों का मुख्यत वर्णन किया जो कामोद्दीपक है, उन अगों का सुन्दर-से-सुन्दर चित्र खींचकर। सहृदयदृष्टि से तो समस्त नखशिख इन पदों में उपलब्ध है परन्तु ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि यौवन के मुख्य प्रतीक—काम को अनन्य उद्दीपक—कुच युगल के अपूर्व चित्रों में विद्यापति की लेखनी कृतकार्य हुई है—

(१) एके तनु गोरा, कनक-कटोरा।

(२) कनक-कमल हेरि काहिन लोभ।

(३) कनक-सभु-सम अनुपम सुन्दर।

(४) बेकत कएल सुमेरु।

(५) भसम भरल जनि सकर रे।

(६) नाल कमल दुइ आधा।

(७) बाल पयोधर, गिरिक सहोदर।

---

१ पहिलुक परिचय, प्रेमक सचय, रजनी आध समाजे।
सकल कला रस सँभरि न भेले धरिनि भेलि मोरि लाजे॥

२ तपनक ताप तपत भेनि महितल, तातल बालु दहन समान।
चकुल मनोरथ भामिनि चलु पथ ताप तपत नहि जान।
प्रेमक गति दुरवार।
नबिन जौबनि धनि चरन कमल जिनि तइओ कएल अभिसार।
कुल-गुन गौरव सति-जस-अपजस, तृनकरि न मानए राधे।
मन मथि मदन महोदधि उछल, बूडल कुल मरजादे॥

(८) केहरि जनि गज-कुंभ विदार।

(९) ते थिर थम्भ पयोधर भार।

(१०) धराधर उलटल।

(११) फल उपहार पयोधर देई।

(१२) कनक-बेलु जनि पड़ि गेल हीमा।

(१३) कुचमय कमल कोरक जल मुदि रहु,
घट परवेस हुताशे।
दाड़िम सिरिफल गगन बास करु,
सम्भु गरल करु ग्रासे॥

इन १६ अप्रस्तुतों को निम्नलिखित ५ वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) गौरवर्ण के लिए—कनक
(ख) विशालता „ „ —गिरि, गजकुम्भ
(ग) उभार „ „ —घट
(घ) आकार „ „ —श्रीफल, कटोरा, शम्भु
(ङ) कोमलता „ „ —कमल

यद्यपि 'बाल-पयोधर, गिरिक सहोदर' में अत्युक्ति ही मुख्य है, और 'पहिल बदरि-सम पुन नवरंग' कहकर कवि ने स्वागत से प्रतिष्ठा तक यौवन का चित्रण मात्र किया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि नायिका के अंग-प्रत्यंग के वर्णन में उसकी दृष्टि रूप, रंग, आकार तथा स्पर्श सभी गुणों पर है—रस तथा गन्ध का प्रश्न नहीं आता। पयोधर के उभार को यौवन की माप मानकर विद्यापति ने सबसे अधिक रुचि इसी गुण के वर्णन में दिखाई है। अप्रस्तुत के लिए पुराण से जो सामग्री आई है उसमें,पाठक का ध्यान 'कनक-सम्भु' पर अवश्य जायगा। ऐसा प्रतीत होता है मानो 'कनक-सम्भु सम अनुपम सुन्दर' तथा 'संभु गरल करु ग्रासे' आदि चरणों द्वारा पयोधर-द्वय को शम्भु से अधिक बताकर इस कवि ने शैवों पर एक चलता हुआ व्यंग्य भी किया है—यहाँ दो-दो शम्भु हैं तुम्हारे शम्भु अधिक सुन्दर (कनक), अधिक सुडौल, सजीव तथा रसप्रद !!

नखशिख में सर्वाधिक वर्णन तो 'पीन पयोधर' का है; रुचि की दृष्टि से दूसरा स्थान 'हरिनहीन हिमधामा' (=मुख) को मिला है क्योंकि विद्यापति रूप के कवि हैं और नारी का रूप उसका 'आनन पुनिम ससी' है और युवती का रूप 'कनक गिरि'को लजानेवाला 'कुच-मंडल'। यदि रूप के साथ-साथ रस में भी कवि का अनुराग होता तो 'सारंग-नयन' बहुश. चित्रण के विषय बनते, परन्तु विद्यापति का शृंगार प्राकृत है बिहारी के समान नागर नहीं, अतः कुच-कुम्भ के चित्रण में वे जितने विशिष्ट हैं उतने ही 'नयन-पंकज' के निरूपण में मन्द। हिन्दी के कवियों में विद्यापति की प्रतिष्ठा 'कुच-युगल' के चित्रण के लिए है।

विद्यापति का अप्रस्तुत-विधान बहुत उपयुक्त है, इसमें मन को उद्दीप्त करने

की पूरी मान्यता है पुरानी सामग्री को नवीन रूप से सजाकर मन लुभाने की कला में विद्यापति दक्ष थे—

(क) यौवन का प्रकाशन नेत्रों की मादकता से होता है। कवियों ने नेत्रों को मधुप बतलाया है और मादक लोचन को मदछिक्त मधुप भी कहा जाता है, विद्यापति ने उस रूप का चित्र ही खींच दिया उसकी मादकता को सक्रिय बनाकर—

मधुप मातल उड़ए न पारए,

तइग्रग्रो पसारए पाँखि ॥

वे उड़ने के लिए पंख फैलाते हैं परन्तु उड़ नहीं पाते, मादकता से छके हुए।

(ख) नायिका ने विपरीत रति में नायक का मुख चूम लिया। नारी का मुख चन्द्र होता है और पुरुष का सरोज, चन्द्र आकाश में स्थित है अधोमुख, और सरोज पृथ्वी पर निवास करता है ऊर्ध्वमुख, प्रतिदिन ही तो सुधानिधि उल्लसित होकर सरसिज के चुम्बन को लालायित रहता है—उसका अधरामृत पान करने के लिए। एक दिन उसकी आशा पूरी होगई, नायिका ने अपने उपरिस्थ अधोमुख चन्द्रानन से नायक के अधस्थ ऊर्ध्वमुख सरसिज-वदन का चिर चुम्बन किया—

पिय-मुख सुमुखि चूमि तजि ओज।

चाँद अधोमुख पिबए सरोज ॥

रूप और यौवन के वर्णन की समस्त सामग्री पुरानी है, प्रायः साहित्यिक परम्परा से सम्प्राप्त, उसमें न तो लौकिक प्रभाव है और न मौलिकता क्योंकि विद्यापति किसी विशेष परम्परा के कवि हैं अपना ही मार्ग निकालकर उस पर चलनेवाले नहीं। परन्तु वे पुरानी सामग्री को नवीन ढंग से सजाना जानते हैं, यही कवि की सफलता का रहस्य है। विद्यापति ने एक अंग की समानता एक प्रसिद्ध अप्रस्तुत से कम बताई है, कई अंगों का सश्लिष्ट चित्र पाठक के मन को मोहने के लिए प्रायः उपस्थित किया है। यह उनके सफल वर्णन की एक शैली है —

(क) मुग्धा नायिका ने अचल से अपने स्तनों को ढक लिया, फिर भी वे अध खुले रह गये—कामी-जन के मन को कचोटने के लिए। कवि की कल्पना है कि सुमेरु पर्वत पर शारदीय घन राजि को पवन ने अस्त-व्यस्त कर दिया—

उरहिं अचल झाँपि चचल, आध पयोधर हेरु।

पौन पराभव सरद घन जनि, बेकत कएल सुमेरु ॥

(ख) लज्जावती नायिका ने बाहुलता से अपना चन्द्रानन छिपा लिया, परन्तु उस गोरी गोरी भुजाओं से न तो उसका मुख छिप ही सका और न उघरा ही रहा—हाँ, लज्जा की लालिमा तथा सहज सौन्दर्य अवश्य दर्शक को लुभाने लगे—

आध बदन-ससि बिहँसि दिखाओलि,

आध पीहलि निम्र बाहू।

किछुएक भाग बलाहक झाँपल,

किछुक गरासल राहू ॥

(ग) मुग्धा नायिका शरीर पर केवल एक वस्त्र धारण किये हुए खड़ी थी।

अकस्मात् उसकी चार आँखे नायक से हो गईं, लज्जा आई और उसके मन को अस्त-व्यस्त करने लगी, कमनीय कलेवर से उसका रेशमी वस्त्र खिसक गया। अब क्या करे, उसकी छाती खुली हुई है; नेत्र मूँदकर झटपट संकोचशीला ने दोनों हथेलियों से अपनी छाती को ढकने का प्रयत्न किया। उस समय ऐसी शोभा हुई जैसे स्वर्ण के शम्भु पर किसी भक्त ने दो कमल और दस चन्द्र, समर्पण में, चढा दिये हों :—

अम्बर विघटु अकामिक कामिनि,
कर कुच झाँपु सुछन्दा।
कनक-संभु सम अनुपम सुन्दर,
दुइ पकज, दस चन्दा॥

विद्यापति में इस प्रकार के चित्रों की लड़ी लगी हुई है, इनको उत्प्रेक्षा अलंकार कहकर टाला नही जा सकता, ये इस कवि की सफलता के रहस्य तथा उसकी कल्पना की रमणीयता एवं सम्पन्नता के मापक हैं।

यौवन के प्रति विद्यापति में भोग की लालसा चित्रित है, इसलिए उसका वर्णन उद्दीपक है; परन्तु रूप से कवि के मन में वासना भी जगती है तथा वह प्रभाव-मुग्ध भी हो जाता है। वासना के जगने से उन वर्णनों का आवर्भाव समझना चाहिए जिनमें अंगों का सादृश्य दिखाकर उनके दर्शन से मन की व्याकुलता का उल्लेख किया गया है—

(क) तनसुक सुबसन हिरदय लागि।
जे पुरुष देखब तेकर भाग॥
(ख) तिन बान मदन तेजल तिन भुवने
अवधि रहल दओ बाने।
विधि बड़ दारुन बधए रसिकजन,
सोंपल तोहर नयाने॥
(ग) जिनकर एहनि सोहागिनि सजनि गे,
पाओल पदारथ चारि॥
(घ) एहनि सुन्दरि गुनक आगरि पुनें पुनमत पाव।
(ङ) हेरितहि हृदय हनए पंचबाने।
(च) मेघ माल सयँ तडित-लता जनि,
हिरदय सेल दई गेल॥

जो मन युवती-मात्र के आलोक से व्याकुल हो जाता है वह कभी निरुद्विग्न नही रह सकता, क्योंकि ससार में रूप की कोई इयत्ता नही, अतः रूप और यौवन के अंकुश में रहने वाला मन सदा प्रजागर से व्याकुल रहेगा। इसीलिए विद्यापति ने, कदाचित् अभ्यास द्वारा मन में सौन्दर्य-मुग्ध होने की प्रवृत्ति जगाई और वे नायिका को देखकर उसके प्रति वासना-निर्मुक्त आश्चर्य तथा उल्लास के भाव रखने लगे—

(क) कतेक जतन विहि आनि समारल, देखल नयन सरूपे।
(ख) आज देखल जति, के पतिआएत, अपुरब विहि निरमान रे।
(ग) कामिनि कोनें गढ़ली।

(घ) ए सखि पेखल एक अपरूप ।
सुनइत मानबि सपन-सरूप ॥

(ङ) सपन कि परतेख, कहिए न पारिए, किए नियरे किए दूर ॥

ऐसे स्थलों पर प्राय यह सौन्दर्य है जिसको रूपकातिशयोक्ति कहते हैं । परन्तु विद्यापति आलंकारिक चमत्कार से ही सन्तुष्ट नहीं रहे, अप्रस्तुतों के प्रयोग से भी वे एक अपूर्व भाव-व्यञ्जना कर सके हैं, 'पल्लवराज चरण युग सोभित गति गजराज क भाने' का तो पीछे अनुकरण हुआ परन्तु विपरीत रति के 'कुतूहल' पूर्ण निम्नांकित चित्र की सरसता आज तक अतुलनीय बनी हुई है—

तड़ित-लता तल जलद समारल, आन्तरि सुरसरि धारा ।
तरल तिमिर ससि-सूर गरासल, चौदसि खसि पड़ु तारा ॥
अम्बर खसल, धराधर उलटल, धरनी डगमग डोले ।
खरतर वेग समीरन सचरु, चंचरिगन कर रोले ॥

मानो एक तूफान आ गया । बिजली (नायिका) के नीचे जलधर (नायक) और बीच में आकाश गंगा (मुक्ताहार) सूर्य (नायक का मुख) और चन्द्र (नायिका का आनन) को अन्धकार (नायिका के केशपाश) ने ग्रस लिया, चारों दिशाओं से तारे (शृंगार के मोती तथा कुसुम) टूट-टूटकर गिरने लगे, अम्बर (वस्त्र) लुप्त हो गया, पर्वत (स्तन युग्म) उलट गये, पृथ्वी (नायिका के नितम्ब) डगमगाने लगी वेगवती झंझावात (दीर्घ श्वास) चल रही है, और चंचरीक गण (करधनी) कोलाहल कर रहे हैं ।

रूप-वर्णन की विद्यापति ने यही एक शैली नहीं अपनायी । चमत्कारी कवि यह तो कहा करते हैं कि उपमान नायिका के अंगों से सौन्दर्य में लज्जित हो गये और यदि संभव हो सका तो कहीं छिप भी गये परन्तु विद्यापति का रूप मुग्ध नायक स्वयमेव नायिका के प्रति इस प्रकार का प्रलाप करने लगता है तो उसकी भावना में अनुभूति की सचाई कुछ अधिक जान पड़ती है—

कबरी भय चामरि गिरि-कन्दर, मुख भय चाँद अकासे ।
हरिन नयन भय, सर भय कोकिल, गति भय गज बनवासे ।
सुन्दरि, किए मोहि सँभासि न जासि ।
तुअ डर इह सब दूरहि पलायल, तुहुँ पुन काहि डरासि ॥

यद्यपि अप्रस्तुत सामग्री परम्परा प्राप्त ही है, फिर भी प्रलापानुभूति के कारण उसकी योजना अधिक निखर आई है । इसी प्रकार विरहिणी नायिका का सारा रंग फीका पड़ गया, उसकी कान्ति मन्द है, उसका अंग प्रत्यंग मुरझाया हुआ है सखी मुख से इस विरह का अपूर्व वर्णन सुनिए, विरह में भी उद्दीपन का सज्जा छिपी हुई है—

सरदक ससधर मुखरुचि सौंपलक, हरिनक लोचन-लीला ।
केसपास लए चमरि के सौंपलक, पाए मनोभव-पीला ।
माधव जानल न जीवति राही ।
जतबा जकर लेले छलि सुन्दरि से सब सौंपलक ताही ।

यदि अप्रस्तुतों की मौलिकता पर विचार किया जाय तो विद्यापति की रचना में उनकी अधिकता नहीं है, लोक-जीवन से उन्होंने प्रस्तुत सामग्री ली है अप्रस्तुत नहीं, अप्रस्तुत के लिए तो वे परम्परा के ऋणी हैं—यद्यपि इस सामग्री का उपयोग कवि ने मौलिक शैली पर किया है। लोक-जीवन के कुछ ही अप्रस्तुत देखे जा सकते हैं—

(क) साओन-घन सम झर दु नयान।
(ख) कुलवति-धरम काँच सम तूल।
(ग) नलिनी-दल निर, चित न रहत थिर।
(घ) सुजनक प्रेम हेम सम तूल।
(ङ) जइसे डगमग नलिनिक नीर।
तइसे डगमग धनिक सरीर॥
(च) अमिअ-सागर तुहु से राहि।
(छ) चोर-रमनि धनि मन-मन रोअई अंबर वदन छिपाई।

विद्यापति की रचना में कुछ चमत्कारी सांग रूपक भी हैं। अनुभूति-प्रवाह में कल्पना का केवल चित्रोपमता के लिए स्थान मिला है, परन्तु संकल्पों की सृष्टि अप्रस्तुत-योजना में अधिक तत्पर रही है। यथा प्रेमोदधि में हिलोरें खानेवाली नायिका अनुभूतिमयी होने के कारण यह समझती है कि अद्यावधि उसने प्रेमरस का आस्वादन ही नहीं किया—

सखि, कि पूछसि अनुभव मोय।
से हो पिरित अनुराग बखानिए, तिल-तिल नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारल, नयन न तिरपित भेल।
से हो मधुबोल स्रवनहि सूनल, स्रुति-पथ परस न भेल।

ऐसा समझना भूल है कि वह अतृप्ता है, परन्तु यह अनुमान लगाना होगा कि वह प्रेमलीना है; तृप्ति के साथ उसकी अनुभूति का भी विस्तार होता जाता है। इसके विपरीत दूसरी नायिका प्रिय की प्रतीक्षा में कामना करती है कि उसके आगमन पर अपने शरीर से ही वह उसका मंगल-स्वागत करेगी, यहाँ संकल्पों की सघनता ही सांग रूपक का कारण बन गई है—

पिआ जब आओब ई मझु गेहे।
मंगल जतहु करब निज देहे॥
कनक कुंभ करि कुच जुग राखि।
दरपन धरब काजर देइ आँखि॥
बेदि बनाओब हम अपने अंकमे।
झाड़ करब ताहे चिकुर बिछौने॥
कदलि रोपब हम गरुअ नितम्ब।
आम-पल्लव ताहे किंकन-सुझम्प॥

'त्रिवलि-तरंगिनि पुर दुगम जानि, मनमथ पत्र पठाऊ', 'कमल कन्हाई लोचन आधे', 'कंचन गढल हृदय-हरिसार', 'लोचन-नीर तटिनि निरमाने' आदि में रूपकों का

कारण मनोरथ-मर्दन या सकल्प नपनता नहीं प्रत्युत कवि की चामत्कारिक प्रवृत्ति है, यहाँ नायक या नायिका के मुख से ये पद निःसृत नहीं हुए प्रत्युत किसी अन्य (कवि या दूती) के द्वारा इसका प्रकटीकरण हुआ है। नायक-नायिका की सकल्प-सफलता में रूपक वस्तुत रमणीय बन जाते हैं, और यदि अनुभूति का सम्पर्क भी हो तब वो हृदयग्राह्य निस्संदिग्ध है क्योंकि अनुभूति ही हृदय को स्पर्श करती है और हृदय-स्पर्श का ही नाम रमणीयता हुआ या सौन्दर्य है। युवावस्था एक अमरबलि है और इसका आस्वाद्य फल' उरोज-युग्म है नायिका ने इसी भावना को लेकर कितनी मार्मिक शिकायत की है—

आसक लता लगाओल सजनी, नयनक नीर पटाय।
से फल अब तरुनत भेल सजनी, आँचर तर न समाय॥
सबकर पहु परदेस बसि सजनी, आयल सुमिरि सिनेह।
हमर एहन पति निरदय सजनी, नहि मन बाढ़य नेह॥

एक बार खिन्न होकर उसको अपने यौवन पर ग्लानि हुई, उस पद में रूपक तो नहीं परन्तु अप्रस्तुत सामग्री प्रस्तुत का अनुभूति को तीव्रतर करने में समर्थ है—

(क) सरसिज बिनु सर, सर बिनु सरसिज, की सरसिज बिनु सूरे।
जौवन बिनु तन, तन बिनु जौवन, की जौवन पिय दूरे॥
सखि हे, मोर बड़ दैव विरोधी।
मदन-वेदन बड़, पिया मोर बोलछड़, अबहु देहे परबोधी।

(ख) अंकुर तपन-ताप यदि जारब, कि करब बारिद मेहे।
ई नव जौवन विरह गमाओब, कि करब से पिया गेहे।
हरि हरि के इह दैव दुरासा।
सिन्धु निकट यदि कंठ सुखाएब, के दुर करब पियासा॥

विद्यापति का एक पद 'कत न वेदन मोहि देसि मदना' निश्चय ही जयदेव के निम्नलिखित छन्द का छायानुवाद है—

हृदि बिसलता हारो नाय भुजङ्गमनायकः
कुवलय दल-श्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः।
मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग क्रुधा किमु धावसि॥

अनुकाय कृति में नायक की उक्ति द्वारा यह कल्पना की गई है कि कामदेव नायक पर इसलिए प्रहार करता है कि उसमें उसको 'हर' की भ्रान्ति होती है—नायक का हार कुवलय-दल-श्रेणी, मलयजरज से रमणी सपटार, विपञ्चिव तथा भस्म का सादृश्यजनित अनुमान होता है। अनुकरण रचना में विद्यापति ने अनेक परिवर्तन कर

१ वक्षोज-युगल को विद्यापति ने अन्यत्र भी यौवन का फल बतलाया है—
(क) प्रथम सिरिफल गरब गमओलहु जौं गुन गाहक आये।
गेल जौवन पुनि पलटि न आवए, केवल रह पछतावे॥
(ख) फल उपहार पयोधर देमई॥

दिये। यह विरह नायिका का है नायक का नहीं—काम कामिनी को अधिक सताता है कामुक को कुछ कम। सतानेवाला देव 'अनंग' नहीं प्रत्युत 'मदन' है, विरह का संताप उद्दीपन से ही तो बढ़ता है। नायिका का चन्दन, चुनरी, वेनी, फूलमाला, माँग का टीका, सिन्दूर-विन्दु, कस्तूरी-लेप, मुक्ताहार इन सबमें भस्म, बघछाल, जटाभार, सुर-सरि, इन्दु, ललाट-पावक, कालकूट तथा फणपति की भ्रान्ति मदन को हो सकती है, और दोनों का नाम एक है—वामा तथा वामदेव। नाम और रूप के सादृश्य से यदि मदन बहक गया और शक्तिभर सताने लगा तो आश्चर्य ही क्या है? विद्यापति के इस गीत में स्वाभाविकता है, पात्र-परिवर्तन से भ्रान्ति अधिक संभव लगती है, नाम की भ्रान्ति रूप की भ्रान्ति में अधिक सहायक है। वस्तुतः चित्र के समान उक्ति में भी विद्यापति अपूर्व हैं। उनकी लेखनी में अनुकरण को भी मौलिक बना देने की शक्ति है। अनु-भूति की संजीवनी ने उनकी रचना को अमर बना दिया है, इनके वर्णनों में पूर्वापर संगति की सफल कला है, व्यंग्यार्थ ने अभिधेयार्थ को चमका दिया है। नायिका ने अपांग से नायक को देखा—वाम अपांग से; काम का संचार हुआ और मन्मथ ने उसके मन को व्याकुल कर दिया; कुसुम शर भी प्राणों को पीड़ा पहुँचाने लगे; कान्ह को सभी तो देखते हैं परन्तु कामदेव अपने एक बाण का भी उन पर प्रयोग नहीं करता, फिर मुझ पर एक साथ पाँच-पाँच बाणों का यह निर्मम प्रहार क्यों? क्या मुझको अबला समझकर—

> मनमथ तोहे कि कहब अनेक।
> दिठि अपराध परान पए पीड़सि, ते तुअ कौन विवेक।
> दाहिनि नयन पिसुन गन बारल, परिजन वामहि आव।
> आध नयन-कोने जब हरि पेखल, तैं भेल अत परमाद।
> पुर-बाहिर पथ करत गतागत, के नहि हेरत कान्ह।
> तोहर कुसुम-सर कतहु न संचर, हमर हृदय पँचबान॥

विद्यापति की पदावली स्वकीय संगीत, माधुर्य तथा चित्रांकन से पाठक को वशीभूत करने के साथ-साथ तत्कालीन समाज के झीने चित्र भी उपस्थित करती है; अनमेल विवाह के फलस्वरूप बालक-पति को झींकनेवाली तरुणी भार्या पर-पुरुष गामिनी बनी और कुरूपा तथा अल्पवयस्का पत्नी से असन्तुष्ट तरुण पनघट, राजवीथि एवं झुरमुट में मन मसोसकर रह गया—"जिनकर एहनि सोहागिनि सजनि गे, पाओल पदारथ चारि", "पुनमति घनि पुनमत जन पावे", "काहिक सुन्दरि के ताहि जाम, आकुल कए गेल हमर परान" "ततहि धाओल दुहु लोचन रे, जतहि गेलि वर नारि।" रीति-काल में पति की अनुपस्थिति (परदेश-गमन या अन्यत्र कार्य-व्यस्त रहने) में नारी पर-पुरुष की इच्छा करके विपथगामिनी बनती थी। परन्तु मिथिला के इस समाज में वय, रूप या गुण के कारण अनमेल विवाह को इस दुराचार का उत्तरदायी समझना चाहिए। बालक पति से असन्तुष्ट रमणी को कोई भी दूती 'धीरज धरहु त मिलत मुरारि' कहकर फुसला सकती थी। और पुरुष के व्यभिचारी स्वभाव का कारण पत्नी की असुन्दरता है; यदि घर में सुन्दरी युवती को छोड़कर भी कोई पुरुष परनारी-गमन

करता है तो वह निन्दनीय माना गया है—'अनिर्वृत्ति, धर्महानि, से प्रिय यद व्यभिचार।' सम्प्रदाय के रूप में परकीया प्रेम का प्रादुर्भाव अन्य परिस्थितियों में हुआ होगा परन्तु सामाजिक मान्यता के रूप में इसका उत्तरदायित्व असम विवाह पर है। आयु रूप अथवा गुण के वैषम्य में जाया-पति परस्पर में दाम्पत्य धर्म का पालन नहीं करते अतः मन्मथ का वेग उनको विपथगामी बना देता है। पूर्व देश में परकीया का इसीलिए इतना महत्त्व रहा पदावली-साहित्य का तो प्राण ही परकीया है, पीछे उसको बचाने के लिए इस पर साम्प्रदायिक रंग चढ़ाया गया। जयदेव में सामाजिकता नहीं है इसलिए स्वकीया परकीया का विचार व्यर्थ है, परन्तु चण्डीदास में विद्यापति की परम्परा की ही गहराई है। चण्डीदास ने वासना को सूक्ष्मतर बनाया है और पर कीया प्रेम में भी एकनिष्ठता पर जोर दिया है, कुछ कारणों से यदि परकीया (अनूढ़ा) प्रेय बन जाय तो एकनिष्ठा से उसका प्रेम ही स्निग्ध बन सकता है क्योंकि स्वकीया का भी तो अभिप्राय अनन्यता ही है नन्ददास ने इसी अनन्यता को स्निग्ध प्रेम का साधन माना है—परकीया प्रेम का तिरस्कार करके वे प्रायश्चित नहीं करते प्रत्युत अनन्यता से शोधकर उसको पवित्र करने के पक्षपाती हैं। चण्डीदास का प्रीति-पथ इसीलिए एक साधना-पथ बन गया है, इसमें वासना नहीं रही, भौतिकता का अन्त हो गया, और पाप-पुण्य की भावना लुप्त हो गई उनकी प्रेयसी उनकी गायिनी है वह माता के समान पवित्र, उनका प्रेम आत्मसमर्पण है—सभी संकल्प विकल्पों से परे, स्थिर, अनन्य तथा तादात्म्यपूर्ण। सुखमूलक दुःखावसायी पिरीति को 'धरम-करम, लोक-चर्चा' से चण्डीदास ने इसीलिए उच्चतर माना है कि इसमें निःशेष आत्मसमर्पण है—

> कलंकी बलिया डाके सब लोके, ताहाते नाहिक दुख।
> तोमार लागिया कलंकेर हार, गलाय परिते सुख॥
> सती बा असती तोमाते विदित भाल मन्द नाहि जानि।
> कहे चण्डीदास पाप पुण्य मम, तोमार चरण खानि॥

कविवर रवीन्द्र ने इसी प्रेम को आदर्श मानकर 'देवता रे प्रिय करि, प्रियेरे देवता' कहकर इसकी प्रशंसा की है। जयदेव में जो राधा 'संसार-वासना बद्ध शृङ्खला' की ही मूर्ति थी वह विद्यापति में 'कुलकामिनी' होकर भी 'कुलटा' बनी, चण्डीदास ने उसको हृत्पत्र ज्वाला की मूर्तिमती प्रतिमा बना दिया सूर ने इसी चण्डीदासीय आदर्श को अपनाया है, क्योंकि उनके समय तक प्रेम का यह निराला पथ साम्प्रदायिक रूप धारण कर चुका था इसलिए वासना तथा कलुष अपने प्रकृत रूप में अब स्थान न पा सकते थे।

सूरदास

अष्टछाप शिरोमणि सूरदास का व्यक्तित्व अनेक सम्भावनाओं का विषय है, अत्यन्त समीप प्रियता तथा सम्प्रदाय-परिवर्तन उनके जीवन को कल्पनोर्वर बनाये हुए हैं, उनकी अनेक कृतियाँ मानी जाती हैं परन्तु प्रसिद्धि सूर-सागर के ही कारण है, समस्त जीवन ब्रज प्रदेश में बिताने के कारण वे तत्कालीन ब्रज-संस्कृति के अनन्य प्रतीक कहे जा सकते हैं।

सूरदास के जन्म-संवत् तथा जन्म-स्थान के विषय में अधिक वाद-विवाद को स्थान नहीं, वे १६वीं शती के प्रथम चरण में अवतरित हुए थे और अपने जीवन से उन्होंने पश्चिमोत्तर व्रज प्रदेश को मण्डित किया था। यद्यपि विद्वान उनका जन्म ब्राह्मण या कभी-कभी भट्ट कुल में मानते है, परन्तु एक स्थल पर कवि ने अपने को जाट कहा है—संभव है किसी प्रति में 'जाट' के स्थान पर 'भाट'[1] पाठ हो, यह निश्चय है कि उनको उच्च-शिक्षा का सौभाग्य न मिला था। अंधे वे जन्म से थे या नहीं, इस विषय में भी एक निष्कर्ष नहीं है, परन्तु सूरसागर की रचना के समय वे नेत्र-हीन[2] थे।

विनय-खण्ड—यह प्रसिद्ध है कि आचार्य वल्लभ का शिष्यत्व ग्रहण करने से पूर्व सूरदास भक्त के रूप में विख्यात हो चुके थे, उनका नाम सुनकर ही आचार्य ने उनको बुलाया था और मुग्ध होकर सम्प्रदाय में दीक्षित किया था। यह दीक्षा सूर का पुनर्जन्म है, आलंकारिक भाषा में सूर को पुनः दृष्टिलाभ हुआ। दीक्षा-पूर्व की जीवनी बड़ी रोचक है, इसके दो रूप हैं; दीक्षा से पूर्व भक्त जीवन, तथा भक्त-जीवन से पूर्व संसारी[3] जीवन।

ससारी जीवन के अनेक सकेत सूर-सागर के विनय-खण्ड में उपलब्ध है—

(क) अब कैसे पैयत सुख माँगे ?
जैसोइ बोइये तैसोइ लुनिऐ, कर्मन भोग अभागे ॥६१॥

(ख) श्री भागवत सुनी नहिं स्रवननि, गुरु गोविंद नहिं चीन्हौ।
भाव-भक्ति कछु हृदय न उपजी, मन विषया मैं दीनौ ॥६५॥

(ग) जनम सिरानौई सौ लाग्यौ।
रोम-रोम, नख-सिख लौं मेरे, महा अघनि वपु लाग्यौ ॥७३॥

(घ) जग में जनमि पाप बहु कीन्हे, आदि-अन्त लौं सब बिगरी।
सूर पतित, तुम पतित-उधारन, अपनें बिरद की लाज धरी ॥११६॥

(ङ) बालापन खेलत ही खोयौ, जुवा विषय-रस मातें।
वृद्ध भए सुधि प्रगटी मोकौं दुखित पुकारत तातें।
सुतनि तज्यौ, तिय तज्यौ, भ्रात तज्यौ, तन तैं त्वच भई न्यारी।
स्रवन न सुनत, चरन-गति थाकी, नैन भए जलधारी ॥११८॥

(च) इन्द्री-रस-बस भयौ, भ्रमत रह्यौ, जोइ कह्यौ सो कीनौ।
नेम-धर्म-व्रत, जप-तप-संयम, साधु-संग नहिं चीनौ ॥१२९॥

---

१. ऐसे कुमति जाट सूरज कौं प्रभु बिनु कोउ न धात्र। (२१६ सूर सागर)

२. कुछ पदों में इस बात का संकेत है:—
यहै जिय जानि कै, अंध, भवत्रास तैं, सूर कामी-कुटिल सरन आयौ। (५)
सूरदास सौं कहा निहोरौ नैननि हूँ की हानि। (१३५)
सूरजदास अंध अपराधी, सो काहैं बिसरायौ। (१९०)

३ भजनरहित बूड़त संसारी। (२१२)

(छ) जनम तो वादिहि गयौ सिराइ।
    हरि सुमिरन नहिं गुरु की सेवा, मधुवन बस्यौ न जाइ ॥१५५॥
(ज) तीनौ पन मैं भक्ति न कीन्हीं, काजर हूँ तैं कारौ।
    अब आयौ हौं सरन तिहारी, ज्यौं जानौं त्यौं तारौ ॥१७८॥
(झ) ऐसौ अध, अधम, अविवेकी, खोटनि करत खरे।
    विषयी भजे, विरक्त न सेए, मन धन धाम धरे ॥१८८॥
(ञ) म कछू करिबे न छाँड्यौ, या सरीरहिं पाइ।
    तऊ मेरौ मन न मानत, रह्यौ अध पर छाइ ॥१९६॥

इन उद्धरणों से ऐसी भी शंका हो सकती है कि ये सूर ने जीवन के आवेग में लिखे गए हैं इनमें पद-संख्या[1] १८६ में गिनाये गये अवगुणों की पूर्णगाथा ही है वास्तविकता नहीं, अन्यथा सब दोषों को अपने में बताकर भी कवि अंत में "औगुन और बहुत है मो मे, कह्यौ सूर में थोरौ" न कहता, अपने वास्तविक और समान्य दोषों की विस्तार तथा प्रसार मे गणना दम्य या मूल बनकर भक्ति का प्रथम सोपान कह लाती है क्योंकि इससे अहंकार[2] का शमन होता है। किन्तु उक्त शंका आवश्यक नहीं। सूर की ये पंक्तियाँ आत्मकथात्मक ही हैं भले ही इनमें ऐतिहासिक सत्य न हो। सूर जीवन के चौथेपन में ही भक्ति की ओर अग्रसर हुए थे, पिछले तीन[3] पनों के कर्मों से असन्तुष्ट होकर और अपने को चारों ओर से असहाय समझकर, उनकी स्त्री और पुत्र थे सम्भवतः उनकी मृत्यु हो गई होगी— तथ्यों से ऐसी ध्वनि भी निकलती है, भाई बन्धु भी अपने अपने राग में मस्त थे तब पतित सूरदास पतित-पावन को शरण शरण में गये। यदि इन पदों में आत्मचरित न होकर माया के सामान्य कुप्रभाव का ही वर्णन होता तो इनमें कबीर के पदों जैसी क्षणभंगुरता या तुलसी के विनयपत्रिकान्तर्भूत पदों जैसा पारमार्थिक चित्र ही रहता, जीवनी की अनुभूत्यात्मक छवि न मिलती। यह उसी विषयान्ध जीवन से वितृष्णा थी जिसने सूर के मन को मथ डाला और दीक्षा से पूर्व ही वे इतने प्रसिद्ध हो गये कि महाप्रभु वल्लभ को उनसे मिलने की आवश्यकता हुई।

• सूर का भक्त-जीवन भी विनय के पदों में प्रतिफलित मिलता है। पतित पावन की शरण में आते समय सूर वृद्ध थे संसार को भोग चुके थे और फीका जानकर छोड़ चुके थे। सागर' के अतिरिक्त कृतियाँ यदि सूर की हैं तो इससे पूर्व के जीवन में रची गई होंगी, 'साहित्य-लहरी' का यौवन में निर्माण हुआ होगा—उस प्रवृत्ति का प्रच्छन्न प्रभाव अन्त तक चलता रहा। भक्त सूर ने शब्द या अर्थ के खिलवाड़ में मन लगाया हो, यह सम्भव नहीं। सूरदास विरक्त होकर भक्त बने और उनको निर्गुण भक्ति की अपेक्षा सगुण पथ अधिक पसन्द आया। विनय के पदों में भक्त-वत्सल भग

---

(१) प्रभु जू हौं तो महा अधर्मी। (१८६)
(२) हमता जहाँ तहाँ प्रभु नाहीं, सो हमता क्यों मानौं। (११)
(३) तीनौ पन मैं भक्ति न कीन्हीं। (१७८)

वान् के निर्गुण रूप को 'निरालम्ब'[1] बताकर सुगम सगुण रूप का ही गान है, इसलिए ये पद कबीर के पदों से स्पष्टतः अलग हो जाते हैं, यद्यपि संसार की क्षणभंगुरता, लोक का स्वार्थ तथा माया का प्राबल्य कबीर की-सी शब्दावली में ही वर्णित है—

(क) वेश्या केरा पूतरा, कहै कौन सों बाप। (कबीर)
गनिका-सुत सोभा नहिं पावत, जाके कुल कोऊ न पिता री (सूर, ३४)

(ख) सब कोइ कहै तुम्हारी नारी, मोको यहु सन्देह रे। (कबीर)
इहि लाजनि मरिए सदा, सब कोउ कहत तुम्हारी हो। (सूर, ४४)

(ग) एक कनक अरु कामिनी दुर्गम घाटी दोय। (कबीर)
अंतर गहत कनक-कामिनि कौ, हाथ रहैगो पचिबौ। (सूर, ५६)

(घ) गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागू पाँय। (कबीर)
·· गुरु गोविंद नाहिं चीन्हौ। (सूर, ६५)

(ङ) कस्तूरी हिरदय बसै, मृग ढूँढै बन माँहि। (कबीर)
ज्यों मृगा कस्तूरि भूलै, सु तौ ताके पास। (सूर ७०)

(च) माता, पिता, बन्धु, सुत, तिरिया संग न कोई जाइ सका रे। (कबीर)
माता, पिता, बन्धु, सुत तौ लगि, जौ लगि जिहिकौं काम। (सूर ७६)

(छ) कागद सब धरती करौं, लेखनि सब बनराइ। (कबीर)
कागद धरनि, करै द्रुम लेखनि, जल-सायर मसि घोरै। (सूर, १२५)

तुलसी के पदों से इन पदों का बहु मात्रा में साम्य है, क्योंकि सूर और तुलसी दोनों ही सगुण उपासक थे, दोनों को ही वेद-शास्त्र की परम्परा सुलभ हो गई थी। इस समय तक सूर ने दशावतार के गीत गाये है, कृष्ण-मात्र का ही आग्रह उनमें नहीं; भक्ति मुख्यतः तो दास्य भाव की है परन्तु यत्र-तत्र दूसरे प्रकार भी सांकेतित है—

(क) ज्यौं दूती पर-बधू भोरि कै, लै पर-पुरुष दिखावै। (४२)

(ख) ज्यौं बालक अपराध कोटि करै, मातु न मानै तेइ। (२००)

(ग) अनुभवी जानही, बिना अनुभव कहा प्रिया जाको नहीं चित्त चोरै। (२२२)

कृष्ण के गोपाल नाम का बहुशः प्रयोग सूर ने इस खण्ड में किया है, परन्तु दूसरे अवतारों की भी प्रासंगिक चर्चा है, भगवान् का पुराणोक्त पतित-पावन रूप उनको बार-बार याद आता है, कुछ मुख्य पद तो रामनाम[2] को लेकर ही हैं और भगवान्

---

१. रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहि तातैं सूर सगुन पद गावै ॥ (२)

२ राम भक्तवत्सल निज बानौं। (११)
कहा कमी जाके राम धनी। (३६)
कहत है आगे जपिहैं राम। (५७)
राम न सुमरियौ एक घरी। (७१)
अद्भुत राम नाम के अंक। (६०)
हमारे निर्धन के धन राम। (६२)

का 'माधव'[१] नाम तुलसी के समान सूर में भी मिलता है विशेषत 'माया' के प्रसंग में—शायद इसलिए कि 'माधव' 'मा' (लक्ष्मी अर्थात् माया) के 'धव' (स्वामी) हैं 'माया पति' और 'माधव' समानार्थी नाम हैं।

भक्त सूरदास की विचार धारा का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार होगा। भगवान् निर्गुण भी है, जैसा कि वेद शास्त्रों[२] में कहा गया है, परन्तु उसका सगुण रूप अधिक ग्राह्य है वह माया या लक्ष्मी का स्वामी है, वह अवतार लेता है भक्तों के उद्धार के लिए उन अवतारों में सबसे मनोहर कृष्ण अवतार है, दूसरे नम्बर पर राम नाम है। यह कहना सम्भव नहीं कि यह क्या विधान[३] जाता है, परन्तु उसकी कृपा के बिना कुछ नहीं होता वह अपने भक्तों की ढिठाई सहता है और स्वार्थ बिना मित्रता करता है जाति, गोत्र कुल, नाम[४] आदि का उसके सम्मुख कोई मूल्य नहीं, परन्तु जहाँ अहंभाव है वहाँ भगवान् नहीं है। वेद शास्त्र[५] में भगवान के दीनदयालु तथा करुणानिधि रूप का वर्णन है। वह भगवान् भक्ति से प्रसन्न होता है, कर्म या ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता। यदि कनक और कामिनी का मोह छूट जाय तो मन की तृष्णा भगवान् में लग सकती है, अन्यथा प्रतिक्षण आयु बीत रही है—अवसर हाथ से चला जा रहा है। जीवन का यही फल है कि स्वकीय अहं को त्यागकर उसी अनन्त[६] राशि में मिल जाय। इन पदों में वेद को प्रमाण भी माना गया है भगवान् के विषय में, परन्तु वेद की उपेक्षा भी है कर्मकाण्ड और ज्ञान को तुल्य समझकर। इस समय तक सूर-काव्य सामान्य भक्त—सामान्य सगुणोपासक कृष्ण भक्त है, उसमें भगवान् की भक्त वत्सलता, करुणा तथा दया है भक्ति का सर्वोच्च स्थान है स्वकीय दैन्य है और मोक्ष की कामना है।

यदि विनय के पदों को कला की दृष्टि से देखें तो हमारा ध्यान कुछ खास

१ माधौ जू यह मेरी इक गाइ। (५१)
माधौ नकु हटकौ गाइ। (५६)
माधौ जू हौं पतित सिरोमनि। (१६२)

२ वेद उपनिषद जासु कौं निरगुनहि बतावै।
सोइ सगुन ह्वै नंद की दाँवरी बँधावै ॥(४)

३ यह गति-मति जानै नहिं कोऊ, किहिं रस रसिक ढरै। (३५)
अविगत गति करुनामय तेरी, सूर कहा कहि गावै। (१०४)
कौन भाँति हरि कृपा तुम्हारी, सो स्वामी, समुझी न परी। (११५)

४ जगत पिता, जगदीस, जगत-गुरु, निज भक्तनि की सहत ढिठाई।
बिनु बदले उपकार करत हैं, स्वारथ बिना करत मित्राई ॥ (३)
जाति, गोत कुल नाम गनत नहिं रंक होइ कै रानौ। (११)

५ दीन-बन्धु हरि, भक्त-कृपानिधि, वेद-पुराननि गाए (हो)। (७)

६ मौन उसत, सुख-दुख नहि मान, हर्ष-सोक नहिं खाँच।
जाइ समाइ सूर वा निधि में, बहुरि जगत नहिं नाच ॥ (८१)

रूपकों पर अवश्य जाता है, कबीर के निर्जीव रूपकों के समान भक्त सूरदास ने भी ऐसे रूपक लिखे जो उनके सांसारिक ज्ञान को तो अवश्य बताते हैं परन्तु महनीय व्यक्तित्व की झलक नहीं देते। इन रूपकों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग तो लोक-शास्त्र के शब्दों से बनाये गये रूपकों का है जो तत्काल ही कबीर का स्मरण करा देते हैं; "हरि के जन की अति ठकुराई" (४०), "तुम्हरी माया महाप्रबल, जिहिं सब जग बस कीन्हों हो" (४४), "चौपरि जगत मड़े जुग बीते" (६०), "जनम साहिबी करत गयौ" (६४), "हरि, हौं सब पतितन पतितेश" (१४१), "साँचो सो लिखहार कहावै" (१४२), "हरि, हौं ऐसौ अमल कमायौ" (१४३), "हरि, हौं सब पतितनि कौ राजा" (१४४), "हरि, हौं महा अधम संसारी" (१७३), "प्रभु जू यौं कीन्ही हम खेती" (१८५) आदि पद इसी वर्ग के हैं। इनका उद्देश्य तो भक्ति ही है, परन्तु साधन लोक-ज्ञान है—लोक-शास्त्र का परिचय है, वेद-शास्त्र का अध्ययन नहीं, यही कबीर के रूपकों से समानता है। इनके विपरीत तुलसी के सांग रूपकों में वेद-शास्त्र की आधार-शिला सर्वत्र उपलब्ध है, विनय-खण्ड में कम-से-कम चार रूपक तुलसीय वर्ग के भी हैं; "माधौ जू, यह मेरी इक गाइ" (५१), "माधौ, नेंकु हटकौ गाइ" (५६), "अद्भुत राम-नाम के अंक" (६०), "अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल" (१५३), अपनी धार्मिक परम्परा से सुपरिचय प्राप्त किये बिना इस कला की रुचि सम्भव नहीं।

विनय-खण्ड में कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनका भाव-साम्य उत्तररचित पक्तियों से है, परन्तु कला का रूप दोनों स्थलों पर एक ही नहीं है। यह वैषम्यनिष्ठ साम्य सूर के विकासमान व्यक्तित्व का ही सूचक है, विनय-खण्ड की रचना के सूरदास में और पुष्टिमार्गी सूरदास में अन्तर स्पष्ट है—यद्यपि दोनों व्यक्तित्वों में भक्ति उभयनिष्ठ है फिर भी भक्ति का मार्ग उभयत्र एक ही नहीं। उदाहरणों से अधिक स्पष्ट हो सकेगा—

(क) माया देखत ही जु गई।
ना हरि-हित, ना तू-हित, इनमें एकौ तौं न भई ॥ (५०) (विनय-खण्ड)
ह्वै मैं एकौ तौ न भई।
ना हरि मिले, न गृह सुख पाये, वृथा बिहाइ गई ॥ (विनयोत्तर खण्ड)

(ख) सूरदास भगवंत-भजन बिनु ज्यौं अंजलि-जल छीजौं। (६५) (विनयखण्ड)
अंजलि के जल ज्यौं तन छीजत, खोटे कपट तिलक अरु मालहिं। (७४) (तथा)
सिर पर मीच, नीच नहिं चितवत, आयु घटति ज्यौं अंजुल-पानी ॥
(१४६) (तथा)

रहिरी माननि, मान न कीजै।
यह जोवन अँजुरी कौ जल है, ज्यौं गोपाल माँगं त्यौं दीजै। (विनयोत्तर खण्ड)

(ग) गीध्यौ दुष्ट हेम तस्कर ज्यौं, अति आतुर मति-मंद।
लुबध्यौ स्वाद मीन-आमिष ज्यौं, अवलोक्यौं नहिं फंद ॥
ज्वाला-प्रीति प्रगट सन्मुख हठ, ज्यौं पतंग तन जारयौ।
विषय-असक्त, अमित-अघ-व्याकुल, तबहूँ कछु न सँभारयौ ॥
(विनय, १०२)

मोह्यौ जाइ कनक-कामिनि रस, ममता मोह बढ़ाई।
जिह्वा-स्वाद मान ज्यों उरझ्यौ, सूझी नहीं फँदाई ॥ (विनय, १४७)

(घ) ऊधौ मनमाने की बात।
जरत पतंग दीप में जैसे, औ फिरि फिरि लपटात।
बरषा बरसत निसदिन ऊधौ पुहुमी पूरि अघात।
स्वाति-बूंद के काज पपीहा छनछन रटत रहात ॥ (विनयोत्तर खण्ड)

विनय के पदों में माया से विरक्ति है, परन्तु उत्तरपदों में माया को लीला समझकर उसका स्वागत है। तीसरे उदाहरण में जिह्वा-स्वाद से आमिष का और आकृष्ट मीन का फंदे में पड़ जाना, प्रणयासक्त पतंगे का दीपक पर जल मरना आदि विषयासक्त अथवा जीवों की माया मुग्धवृत्ति को बताकर विरति का प्रयास करते हैं, विनयोत्तर काल में इस आसक्ति को वरदान मानकर इसकी सराहना है—जिसका मन जिससे लगा हुआ है वही उसके लिए परम प्रेय तथा अपूर्व श्रेय है दूसरे की रुचि से उसके मन की आलोचना नहीं हो सकती। प्रथम उदाहरण में विनय तथा विनयोत्तर पदावली का अन्तर तो नहीं है परन्तु विनयखण्ड के अनुसार माया न तो परमात्मा में लगन देती है और न जीवात्मा को शान्ति देती है इसके विपरीत विनयोत्तर काल में कवि की दृष्टि जीवन में दो ही उद्देश्य समझती थी—या तो भगवान की लीला समझकर संसार में विचरण करना या सामान्य जीवों के समान संसार में वास करना—माया को यहाँ कोई भी स्थान नहीं मिला। दूसरा उदाहरण दृष्टिकोण को बिल्कुल स्पष्ट कर देता है, जीवन अञ्जलिगत जल के समान प्रतिक्षण छीजता चला जा रहा है इसका सदुपयोग कैसे हो। पहिले कवि समझता था कि 'भगवत्भजन' ही सर्वश्रेष्ठ उपयोग है परन्तु अब उसका विचार बदल गया है जीवन या यौवन गोपाल ने हमको दिया है तब जिस प्रकार वे इसका उपयोग चाहें करें हमको क्या आपत्ति है, सम्भव है राधा के समान हमसे भी वे इस यौवन को विरह में बिलखाना चाहते हों ठीक है शायद यही उनकी इच्छा है यही उनकी कृपा है जिसे हम दुःख समझते हैं वह भी उनका विशेष दान है। 'त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' की यह आस्तिक भावना लीला काव्य का मुख्य स्वर है जो सूर की विनयोत्तर रचना में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है परन्तु विनय के पदों में उसका अभाव है।

विनय के पदों में सूर की रुचि कुछ खिलवाड़ की भी रही है। सारंग राग में सारंगपाणि भगवान की स्तुति में 'सारंग' शब्द का १२ बार प्रयोग है। भिन्न भिन्न अर्थों में (पद संख्या ३३)। साङ्ग रूपकों में राज्य सम्बन्धी (पद संख्या ४० १४१ तथा १४४) नारोजन के दस्त्र सम्बन्धी (पद संख्या ४४) पशु जीवन सम्बन्धी (पद संख्या ५१ तथा ५६) चौपड़ सम्बन्धी (पद संख्या ६०), 'साहिबी'-सम्बन्धी (पद संख्या ६४), 'निम्बहार' सम्बन्धी (पद संख्या १४२), 'अमल' सम्बन्धी (पद संख्या १४३) तथा सती सम्बन्धी (पद संख्या १८५), पारिभाषिक शब्दों पर कवि का अच्छा अधिकार लक्षित होता है, १४१ से १४४ तक के शब्द तो आलोचकों को इस निष्कर्ष के लिए भी प्रेरित करते हैं कि सूरदास का मुगल अमलदारी से अवश्य ही कुछ सम्पर्क

रहा होगा—भले ही यह सम्पर्क सामान्य नैकट्य-मात्र ही हो। यह ऊपर कहा जा चुका है कि ये रूपक तुलसीयता की अपेक्षा कबीरत्व के अधिक समीप हैं। तुलसी का व्यक्तित्व वेद-शास्त्र के मनन से निर्मित हुआ था इसलिए उनकी आज्ञा पर दार्शनिक या धार्मिक शब्द नाचते थे; कबीर की इस प्रकार की कोई साधना न थी इसलिए उन्होंने लोक-जीवन के शब्दों से काम चलाया; सूर का सम्पर्क शासन से भी था, राज-कर्मचारी उनके पास आते-जाते रहते होंगे या 'संसारी' जीवन में उनका शासन से किसी रूप में निकट सम्पर्क रहा होगा, इसलिए कभी-कभी उनके सम्मुख शासन का पूरा चित्र आ जाता है। मुगलकालीन पारिभाषिक फारसी शब्दावली के वसनाभरण मे—पदसंख्या ६४, १४२ तथा १४३ में—आये हुए फारसी शब्दों से मुगल-शासन के कानून पर भी कुछ विचार करने का अवसर मिलता है। जायसी में फारसी के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अवश्य है परन्तु केवल चौपड़ आदि के सम्बन्ध में 'अदल' के प्रसंग में नहीं, उनके समय तक राज्य-भाषा फारसी न हुई थी।

जिस आशा को कबीर ने समस्त दुःखों का मूल कारण माना है वही आशा सूर की हृदयेश्वरी बन गई थी, वह तरुणी उस वृद्ध को 'वृद्धस्य तरुणी विषम्' के रूप में रात-दिन संतप्त किया करती है; एक पद में यही भाव बड़े रोचक ढंग से वर्णित है—

> हरि, हौं महा अधम संसारी।
> आन समुझ में बरिया ब्याही, आसा कुमति कुनारी।
> धर्म-सत्त मेरे पितु-मात, ते दोउ दिये बिडारी।
> ज्ञान-विवेक विरोधे दोऊ, हते बन्धु हितकारी।
> बाँध्यौ बैर दया भगिनी सौं, भागि दुरी सु बिचारी।
> सील-संतोष सखा दोउ मेरे, तिन्हें बिगोवति भारी।
> कपट-लोभ वाके दोउ भैया, ते घर के अधिकारी।
> तृष्ना बहिनि, दीनता सहचरि, अधिक प्रीति बिस्तारी।
> अति निसंक, निरलज्ज, अभागिनि, घर-घर फिरत न हारी।
> मैं तो वृद्ध भयौ वह तरुनी, सदा बयस इकसारी ॥१७३॥

विनय के पदों में कुछ पंक्तियाँ ऐसी अवश्य है जिनमें भगवान् के प्रति सूर का कथन साधिकार प्रतीत होता है, उसको सख्य-भाव तो नहीं कह सकते परन्तु दास्य की दीनता वहाँ नहीं मिलती, ऐसा जान पड़ता है मानो सूर का स्वभाव ही कुछ, प्रेमावेश में, खरी-खरी सुना देने का था—

> (क) नाहिं काँचौ कृपानिधि हौं, करौ कहा रिसाइ।
> सूर तबहुँ न द्वार छाँड़ै, डारिहौ कढ़िराइ ॥१०६॥
> (ख) सूरदास प्रभु हँसत कहा हौ, मेटौ बिपति हमारी ॥१७३॥
> (ग) जहाँ तहाँ तैं सब आवैंगे, सुनि सुनि सस्तौ नाम।
> अब तौ परयौ रहैगो दिन-दिन तुमकौं ऐसौ काम ॥१६१॥

(घ) नाहक म लाजनि मरियत है, इहाँ आइ सब नासो।
यह तो क्या चलगी आग, सब पतितन म हाँसी ॥१६२॥

श्री भागवत प्रसग

विनय-खण्ड का हमने वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व की रचना माना है कुछ प्रवृत्तियो के आधार पर हो परन्तु विनय के पद न तो भाषा की दृष्टि से शेष पदो से नितान्त भिन्न हैं और न इतने उत्कृष्ट हैं कि अदीक्षित सूर को विख्यात कर देते, सूर सागर' पुस्तकाकार लिखा भी नही गया अत दीक्षा पूर्व तथा दीक्षोत्तर का प्रामाणिक वर्ग है भी या नही—यह किस प्रकार कहा जा सकता है ? फिर भी प्रस्तुत रूप में सूर-सागर' के आदि २२३ पद अलग सगृहीत माने जा सकते हैं, उनका मगलाचरण अलग है उनकी प्रणाली स्वतन्त्र है। २२४ वें पद से 'श्री भागवत प्रसग' का प्रारभ होता है। यहाँ निश्चय ही कवि के सामने एक आदर्श है' भागवत का, जिसकी छाया में उसने अपने दोष सारे पद लिखे हैं। प्रत्येक प्रसग में 'हरि हरि, हरि हरि" का स्मरण करके कवि उस कथा को सुनाने लगता है जो व्यास ने 'शुकदेव'[२] को सुनाई थी। यद्यपि सूरसागर में कथा को साथ ले चलने की प्रवृत्ति दृगन होती है फिर भी इसमें प्रबन्ध का निर्वाह नही है पदो में भावावृत्ति के साथ साथ क्रम नर्थिक्य भी है, प्रथम स्कन्ध में भी एक पद ऊधो' को सम्बोधित किया गया है—पूर्वापर क्रम की उपेक्षा तथा सम्बन्धरहित भावावर्ति प्रबन्ध काव्य के पीन दोष हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के समक्ष भागवत का स्थूल आदर्श है, उसकी मुख्य प्रेरणा यही भक्ति महोदधि है परन्तु उसके सप्तम व्यक्तित्व ने इस भाषा छाया को भी मौलिक रूप दे दिया है सूरदास भाषान्तर नही कर रहे भागवत को स्वय पचाकर उसकी आत्मा का भाषा में अवतरण कर रहे हैं। वस्तुत श्रीमद्भागवत सगुण भक्त मात्र का आदर्श रहा है विशेषत कृष्ण भक्त तो इसके बिना चल ही नही सकते फिर भी प्रति सम्प्रदाय ने स्वकीय रुचि के अनुसार इससे प्राण ग्रहण किया है, वल्लभ सम्प्रदाय ने भागवत् को जिस रूप में स्वीकार किया उसका भाषा निदर्शन सूर के पदो में उपलब्ध है।

सूरसागर की यह एक विशेषता है कि आगे-आगे इसमें सौन्दर्य का समावेश अधिक होता गया है, कदाचित् इसका कारण कवि के व्यक्तित्व का तथा-विकास हो, प्रारम्भिक स्तर पर कवि से सामान्य भक्त का दैन्य लिपटा हुआ था, शनै शनै उसने माया को लीला के रूप में देखना प्रारम्भ कर दिया, परिपक्व-काल में उसे सवत्र गोपाल की क्रीडा ही आकृष्ट करने लगी—जीवन में रस मिल गया, अभिव्यक्ति में भी विनोद आ गया, वह स्वय प्रमुदित रहने लगा और अपनी रचना से समाज को भी मुग्ध करने लगा, एक गायी के शब्दों में—

"ये बातें कहि-कहि या दु ख में ब्रज के लोग हँसाये।"

---

१ व्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ॥

२ व्यास कह्यो जो सुक सौं गाइ। कहौं सो सुनो सत चित लाइ॥

अस्तु, नवम स्कन्ध अर्थात् रामावतार तक के पदों मे काव्य की अपेक्षा कथा का सौन्दर्य अधिक है, कवि का मन कहीं रमता हुआ नहीं मिलता, वह कलियुग के अमोघ अस्त्र 'भगवंत-भजन' की प्रतिष्ठा के लिए ही इन अवतारों का चलता हुआ वर्णन करता जाता है। सूरसागर का वास्तविक प्रारम्भ तो दशम स्कन्ध से ही मानना चाहिए, सूरदास के सन्गुण दर्शन तो पाठक का यहीं से होते हैं।

दशम स्कन्ध का प्रारम्भ होते ही मानो दशम द्वार खुल गया और परम ज्योति की अपूर्व छवि दिखाई देने लगी। कवि ने कृष्ण का भी वर्णन किया है और कृष्ण की लीलाओं का भी, लीलाओं का वर्णन व्यक्ति के वर्णन से अधिक वाचाल है; उस 'शोभा-सिन्धु' को देखकर ही आनन्दमग्न हुआ जा सकता है, वर्णन नहीं हो सकता क्योंकि उसकी पृथ्वी पर कोई उपमा[1] ही नहीं मिलती—आलोक में कोटि चन्द्र-रवि लज्जित[2] हो जाते हैं, मोहकता में कोटि मन्मथ[3] निछावर कर दीजिए, फिर भी अनुभव बिना उस रूप का आनन्द नहीं मिल सकता। जिस प्रकार जहाज का पक्षी[4] समुद्र में फँसकर किनारा खो बैठता है उसी प्रकार दर्शक का मन अंग-अंग की शोभा में डूबकर स्वयं अपने को भूल बैठा। जिस प्रकार जन्म का दरिद्र चोर[5] किसी भरे घर में घुसकर अनन्त वैभव को देखकर ही आश्चर्यचकित रह जाय, चोरी का उसको ध्यान ही न रहे, उसी प्रकार कवि का मन रूप की चोरी के स्वभाव से जब उस रूपराशि के निकट जाता है तो सुधि-बुधि भूल जाता है, वर्णन का उसको अवधान नहीं रहता। सांसारिक रूप के पीछे चोर के समान अतृप्त अकिञ्चन मन से भागने वाले कामुकों को वैष्णव भक्तों ने इसीलिए मन्मथ-मथन अनन्त रूपराशि का दर्शन कराया है कि वे उस अनन्त में अवर्णनीय तृप्ति का अनुभव कर सकें और अल्प के रूप को भूमा के रूप में भूल जायँ। सूर उस रूप में इतने मग्न हुए कि आकण्ठ तृप्ति के सातत्य में भी श्याम के रूप को वाणी द्वारा अधिक अभिव्यक्त न कर सके।

बालकृष्ण के रूप का कवि ने ऐसा ही अनिर्वचनीय वर्णन किया है, कृष्ण का स्थिर रूप (छवि) दर्शक को भी गतिहीन बना देता है—इन्द्रियों से उस आनन्द को ग्रहण करते हुए मन विभोर हो जाता है और शरीर स्तब्ध समाधिस्थ। परन्तु बालकृष्ण का गतिमय या क्रियाशील (लीला) रूप वर्णन का विषय बना है। यहाँ दर्शक

---

१. यह सोभा नैननि भरि देखें, नहिं उपमा तिहुँ भू पर री। ७१६॥
२. जाकौं रूप जगत के लोचन कोटि चन्द्र-रवि लाजत भै री॥
३. लटकन सीस, कंठ मनि भ्राजत, मनमथ कोटि वारने गे री।
४. जलधि थकित जनु काग पोत को कूल न कबहूँ आयौ री।
   ना जानौं किहि अंग मगन मन, चाहि रही नहिं पायौ री॥ (७२५)
५. सोभा-सिंधु अंग अंगनि प्रति, बरनत नाहिन ओर री।
   जित देखौं मन भयौ तितहिं कौं, मनौ भरे कौ चोर री।
   बरनौं कहाँ अंग अंग सोभा, भरी भाव जल-रास री।
   लाल गोपाल बाल-छबि बरनत, कवि-कुल करिहैं हास री॥ (७५७)

गोकुलवासी हैं स्वयं कवि ही नहीं। बालकृष्ण की लीला छवि को देखकर गोपी भाव विभोर हो गई और जब उनको फिर चेतना उपलब्ध हुई तो वह सखी से उस अपूर्व आनन्द का भाँति भाँति की अप्रस्तुत-योजना द्वारा प्रकाशन करने लगी, शास्त्रीय दृष्टि से ऐसे स्थलों पर उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग हुआ है, इन स्थलों की तुलना योगियों की उस समाधिमय अवस्था से की जा सकती है जब साधक उस अलख की एक झलक पाकर एक बार तो अपने को भूल जाता है और फिर जगकर उसके लिए तड़पता रहता है, सूफियों में भी प्रेम की पीर जगाने के लिए इसी अस्त्र का प्रयोग विहित है परन्तु सूफी मजाजी रूप से हकीकी रूप का आभास प्राप्त करता है जबकि भक्त ने जो रूप देखा वह अद्वित एवं नित्य है वस्तुतः कृष्ण का गोकुल में आकर रहना और अपनी क्रीड़ाओं से सबको मन्त्रमुग्ध-सा बनाकर सदा के लिए तड़पता छोड़कर मथुरा चला जाना अलख का आभास पाकर व्याकुल साधक के समानान्तर-सा ही लगता है। अस्तु आँगन के दो किनारों पर बैठे हुए दम्पति के लिए श्याम एक खिलौने[1] के समान हैं— अपनी क्रीड़ा से उनका मन बहलानेवाले। उसी श्याम को देखकर गोपी का मन श्याम मय हो गया वह आत्मविभोर हो गई—

> मैं देख्यौ जसुदा कौ नन्दन खेलत आँगन बारौ री।
> ततछन प्रान पलटि गयौ मेरौ तनमन ह्वै गयौ कारौ री॥ (७८३)

फिर भी उसकी कल्पना कोई अवसान नहीं जानती, मन कभी शास्त्रीय सामग्री से उस भाव की अभिव्यक्ति करता है तो कभी लौकिक अप्रस्तुत-योजना द्वारा। पीरा शित्र शास्त्रीय सामग्री से लटकन में लगे हुए रत्नों की शोभा रंग की समानता के आधार पर देखिए—

(क) भाल विसाल ललित लटकन मनि, बाल-दसा के चिकुर सुहाये।
मानौ गुरु-सनि कुज आगे करि, ससिहि मिलन तम के गन आये॥ (७२२)

(ख) नील, सेत अरु पीत, लाल मनि, लटकन भाल रुलाई।
सनि गुरु-असुर देवगुरु मिलि मनु, भौम सहित समुदाई॥ (७२६)

(ग) लटकन लटकि रहे भ्रू ऊपर रंग रंग मनिगन पोहे री।
मानहु गुरु-सनि-सुक एक ह्वै, लाल भाल पर सोहे री॥ (७४७)

(घ) मुक्ता विद्रुम-नील-पीत-मनि लटकन लटकत भाल री।
मनौ सुक्र-भौम-सनि गुरु मिलि, ससि के बीच रसाल री॥ (७५८)

रत्नों के रंग की समता की तुलना से वर्णन सूर में अन्यत्र भी मिलता है (द० पद संख्या ७११ ७५२ आदि) परन्तु इनका प्राचुर्य नहीं, क्योंकि इस सामग्री से हृदय की उतनी तृप्ति नहीं होती जितनी कि बुद्धि की। लौकिक सामग्री के वर्णन अधिक रमणीय तथा मनोरम हैं। कज्जल बिंदु की शोभा को कवि ने अनेक स्थलों पर कमल सम्पुट मुपुप्त अलि शावक की छवि के समान बतलाया है—

---

[1] इततें नंद बुलाइ लेत हैं, उततें जननि बुलावै री।
दम्पति होड़ करत आपुस में, स्याम खिलौना कीन्हौं री॥ (७१६)

(क) लट लटकनि, मोहन मसि-बिंदुका-तिलक भाल सुखकारी।
मनौं कमल-दल सावक पेखत, उड़त मधुप छबि न्यारी॥ (७०६)

(ख) सुन्दर भाल-तिलक गोरोचन मिलि मसि-बिन्दुका लाग्यौरी।
मनु मकरन्द श्रचै रुचि कै, अलि-सावक सोइ न जाग्यौ री॥ (७५५)

(ग) गोरोचन कौ तिलक, निकट ही काजर-बिंदुका लाग्यौ री।
मनौं कमल कौ पी परागा, अलि-सावक सोइ न जाग्यौ री॥ (७५७)

इन पदों में भी अप्रस्तुत सामग्री का आधार रूप-सादृश्य ही है, परन्तु मकरन्द-पानेम मत्त भ्रमर-किशोर की परितृप्त अवस्था सभी को विदित है इसलिए बालकृष्ण के मुख-कमल से रूप, रस तथा गन्ध की व्यञ्जना पाठक सहज ही ग्रहण कर लेता है। अप्रस्तुत सामग्री की सफलता का मुख्य रहस्य यह है कि वह पाठक के जीवन से निकट हो—जो अप्रस्तुत भाव-व्यञ्जना में जितना अधिक कुशल है उतना ही वह कृतकार्य अधिक माना जायगा।

बालकृष्ण और किशोरकृष्ण की शोभा में एक विशेष अन्तर है; ब्रज-नारियाँ बालकृष्ण को देखकर यशोदा के भाग्य की प्रशंसा करती हैं और स्वयं आत्म-विभोर होती हुई उस रूप पर अपना तन-मन निछावर कर देती हैं, परन्तु किशोर-कृष्ण के रूप का प्रभाव समयापेक्षी है—गोपी उसको देखकर एकपदएव आत्म-विस्मृत नहीं होती, उसकी रूपमाधुरी में अटक जाती है और शनैः शनैः उसके नेत्र तथा मन परवश हो जाते हैं। सूरदास ने बालकृष्ण का वर्णन परम्परा पर किया है; आलंकारिक सामग्री का पुराना प्रयोग हैं—'कहि न जात कछु अद्भुत उपमा', 'यह उपमा इक राजति', 'सफल सुत की सींव', 'उपमा एक अभूत भई', 'प्रेम बिवस कछु सुधि न अपनियाँ', 'बड़े भाग जसुदा अरु नन्दहि' आदि सामान्य कथन उस शुद्ध आनन्दोपलब्धि के ही द्योतक हैं; इस 'ललित शोभा' में समस्त नखशिख समा गया है, परन्तु शोभा का यह वर्णन किसी प्रकार का उद्दीपन नहीं कर पाता, केवल अपनी अद्वितीयता का ही प्रभाव मन पर छोड़ता है—इससे रति की अपेक्षा भक्ति को अधिक पुष्टि मिली है—

खेलत स्याम अपनै रंग।
नन्दलाल निहारि सोभा, निरखि थकित अनंग।
चरन की छबि देखि डरप्यौ अरुन, गगन छपाइ।
जानु करभा की सबै छबि, निदरि, लई छड़ाइ।
जुगल जंघनि खंभ-रंभा, नाहिं समसरि ताहि।
कटि निरखि केहरि लजाने, रहे बन-घन चाहि।
हृदय हरि-नख अति बिराजत, छबि न बरनी जाइ।
मनौं बालक बारिधर नव, चंद दियौ दिखाइ।
मुक्त-माल बिसाल उर पर, कछु कहौं उपमाइ।
मनौं तारा-गननि वेष्टित गगन निसि रह्यौ छाइ।
अरुन अधर, अनूप नासा, निरखि जन-सुखदाइ।
मनौं सुक, फल बिंब कारन, लेन बैठ्यौ आइ॥ (८५२)

प्रौढ़ा गोपियों ने जिस बालकृष्ण को देखा वे 'लावण्य निधि, गुण निधि, तथा शोभा निधि'[1] हैं इसलिए समस्त गोकुल उनको देख-देखकर ही जीता है, वे केवल 'शोभा सिन्धु'[2] या 'सुन्दरता के सागर'[3] मात्र नहीं हैं जो देखने वाले के मन को परवश कर दें। बालकृष्ण को प्रौढ़ा गोपियों ने देखा है और किशोर कृष्ण को युवतियों ने इसलिए दोनों अवस्थाओं के रूप वर्णन में अन्तर है। प्रौढ़ाओं पर कृष्ण की समस्त छवि का सकलित प्रभाव पड़ता है वे शायद अंग अंग की शोभा को सजग ग्रहण भी नहीं कर पातीं उनके लिए बाल कृष्ण अमित सौभाग्य के प्रतीक हैं, वे मानो भक्ति भाव से विभोर होकर कभी-कभी उस लावण्य प्रभाव की अभिव्यक्ति करती हैं, सूर सागर के ये स्थल अलौकिक तथा परम्परा प्राप्त ही हैं।

किशोरियों ने युवक कृष्ण को भला केवल एक भाव से, मन उनको कृष्ण का वही मधुर रूप दिखाई पड़ा, वे अंग-अंग की छवि में उलझ गईं और उनके नेत्र पराये हो गये मन परवश हो गया। इस वर्णन को समस्त नखशिख का अवकाश नहीं है प्राय तो जिस अंग को पहिले देखा उसी में मन मग्न हो गया—दूसरे अंग की शोभा का आनन्द कौन लेता? इसमें मनोमोहक अंग ही प्राय वर्णन के विषय बने हैं, अन्य कटि से नीचे जंघा चरण आदि का चित्र नहीं है। विद्यापति के समान सूर ने अंग अंग का संश्लिष्ट ग्रहण करके समस्त कलेवर का मादक चित्र कम बनाया है, शोभा सागर के एक अंग की छवि ही उनको उन्मत्त करती है, इन चित्रों में उद्दीपन नहीं है सामान्य रम्यता ही है, इनकी वासना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई है—

(क) अलकनि की छवि अलि-कुल गावत।
खंजन मीन मृगज लज्जित भए, नैननि अवधि न पावत॥ (१२८३)

(ख) देखि सखी अधरनि की लाली।
मनि मरकत तें सुभग कलेवर, ऐसे हैं बनमाली॥ (२४५०)

और समस्त शरीर के चित्र भी उतने ही प्रभावक हैं। विशेषता यह है कि विद्यापति आदि शृंगारी कवियों में जब सखी नायिका के प्रति नायक के अपूर्व रूप का वर्णन करती है तो उसका उद्देश्य इस भोली नायिका के मन को नायक में आसक्त करना होता है—वह सखी के रूप में नायक की (या व्यवसायिनी) दूती मात्र है परन्तु सूर में वर्णन करनेवाली सखी दूती नहीं है, उसका उद्देश्य अपनी दशा की अभिव्यक्ति है नायिका को फुसलाना नहीं—यदि नायिका मानी जाय तो पहिली सखी हो, दूसरी तो सहचरी मात्र है। इसलिए इन चित्रों में बाहरी सज धज की अपेक्षा आन्तरिक अनुभूति ही अधिक है—

(क) देखि सखी बन तें जु बने ब्रज आवत हैं नंद-नन्दन।
सिखी सिखंड सीस, मुख मुरली, बन्यो तिलक, उर चन्दन॥१०६४॥

---

१ लावनि निधि, गुन निधि, सोभा निधि निरखि निरखि जीवत सब गाउँ। (१२८१)
२ सोभा सिन्धु न अन्त रही री। (६४७)
३ देखो माई सुन्दरता को सागर। (१२४६)

(ख) सोभा कहत कही नहिं आवे ।
अँचवत अति आतुर लोचन-पुट, मन न तृप्ति कौं पावं ।
प्रति-प्रति अंग अनंग-कोटि-छवि, नैन कमल-दल-मीन ।
सूरदास जहँ दृष्टि परति है, होति तहीं लवलीन ॥१०६६॥

(ग) नंद-नंदन मुख देखौ माई ।
अंग-अंग छवि मनहुँ उये रवि, ससि अरु समर लजाई ॥१२४४॥

(घ) देखौ माई सुन्दरता कौ सागर ।
बुधि-बिबेक-बल पार न पावत, मगन होत मन-नागर ॥१२४६॥

(ङ) निरखि सखि सुन्दरता की सींवा ।
अधर अनूप मुरलिका राजति लटकि रहति अध ग्रीवा ॥२४२६॥

प्रश्न यह है कि बाल-कृष्ण और किशोर कृष्ण की इस छवि में भाव कौनसा माना जायगा । यह रूप केवल नारियों के ही मन को प्रभावित करता है, पुरुष तो अहंकार में डूबा है कि उसके पास लौकिक झगड़ों से विरत होकर अलौकिक छवि में गोता खाने का अवकाश कहाँ है, इसलिए भक्ति-भाव प्रधानतः नारी-भाव है समर्पण-प्राण, निरहंकार, प्रतिदानशून्य । अस्तु, तात्विक दृष्टि से सूरसागर की गोपियाँ भावना से नारियाँ हैं, शरीर से नहीं; पुरुष भी नारी भाव से ही करुणेश की शरण में जाता है, यदि ऐसा न मानें तो समस्त भक्ति साहित्य नारी-साहित्य बन जायगा और कम-से-कम आधा संसार उस अमोघ औषधि से वंचित रह जायगा । नारी का लाक्षणिक अर्थ ग्रहण करने से ही भक्ति-साहित्य शृंगार-शून्य तथा भक्ति-प्रधान है । इसीलिए सूर के पद न तो सखी को आसक्त करने के लिए हैं और न उनसे मन उद्दीप्त होता है, भगवान् के इस नखशिख में उज्ज्वल रस है, शुद्ध, वासना-हीन । उपर्युक्त पदों में इसीलिए शुद्ध एवं सात्विक उल्लास है, उसमें लौकिक रूप का अलौकिक वर्णन है, जिसका उद्देश्य मन को उलझाना नहीं प्रत्युत मुक्त करना है । कृष्ण के अनंग-मोहक रूप को देखकर शरीर की सुधि-बुधि खोनेवाली गोपियाँ और रूप-सुधा-आसव में छका हुआ सूफी सकृद्दृष्टि से एक मालूम पड़ते हुए भी एक-दूसरे से नितान्त भिन्न हैं, यह दूसरी बात है कि सूफी भी धीरे-धीरे मजाजी से हकीकी की ओर जाने का प्रयत्न करता है ।

अस्तु, कृष्ण का मुख्य आकर्षण रूप है और रूप को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय नेत्र है । सूरसागर में जितना वर्णन गोपियों के नेत्रों पर कृष्ण के रूप-प्रभाव का है उतना अन्य इन्द्रिय पर का नहीं, दूसरा स्थान कान को मिल सकता है जो वंशी-स्वर से प्रभावित होकर हृदय का द्वार उन्मुक्त कर देता है । मन की पराधीनता का मुख्य उत्तरदायित्व नेत्रों पर ही है, यदि वे द्वार न खोलते तो रूप-चेल हृदय-गढ़ पर अधिकार करके मर्यादा-ध्वज को न कुचलता और लज्जा इस प्रकार से न छुट जाती । सूर ने अनेकधा नेत्रों की इस दशा का सरस वर्णन किया है—

(क) नैन न मेरे हाथ रहे !
देखत दरस स्याम सुन्दर कौं, जल की ढरनि बहे ! (२८४८)

(ख) नैना कह्यौ न मानें मेरौ ।

मो बरजन-बरजत उठि धाय, बहुरि कियौ नहिं फेरो। (२८६३)

(ग) नैना एमे ह विसवासी।
आपु काज कोटौं हमकौं तजि, तब त भई निरासी। (२८६३)

(घ) यह तौ नननि ही जु कियो।
सरबस जो कछु रह्यौ हमार, सो स हरिहिं दियौ। (२९२२)

(ङ) कपटी नननि त कोउ नाहीं।
घर की भेद और क आगे, क्यौं कहिबे कौं जाहीं। (२६५३)

कृष्ण के रूप का जो वर्णन सादृश्यमूलक अलंकारों की सहायता में किया गया है उसको कवि की अभिव्यक्तिमात्र ही समझना चाहिए और उस अभिव्यक्ति पर कवि के भक्त पूर्व जीवन का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी स्वीकार करना पड़ेगा—

(क) जाकौं ब्यास बरनत रास।
है गधव विवाह चित द, सुनौ त्रिविध विलास॥ (१६८६)

(ख) जौती जौती है रन बसी।
मधुकर सूत, बदत बन्दी पिक मागध मदन प्रससो॥ (१६८८)

(ग) नंद-नन्दन वृन्दावन चन्द।
यदुकुल नभ, तिथि द्वितीय देवकी, प्रगटे त्रिभुवन-वन्द। (२४१३)

ऐसे स्थलों पर कवि के पूर्व संस्कार ही प्रान्ति से लगते हैं, वह बाह्य अलंकारों में अधिक व्यस्त हो जाता है आन्तरिक उल्लास से अपेक्षाकृत दूर रहकर। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के वर्णन बालकृष्ण के ही हैं। मणिमण्डित आंगन में सरसिज-कर-पद से घुटनों के बल चलनेवाले बालकृष्ण के चित्र में सम्भावनाएँ देखिए—

(क) चलत पद प्रतिबिम्ब मनि आंगन घुटुरुवनि करनि।
जलज सम्पुट सुभग छवि भरि लेनि उर जनु धरनि॥ (७२७)

(ख) कनक भूमि पर कर पग छाया इह उपमा इक राजति।
करि करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजति॥ (७२८)

इन चित्रों में सबसे सुन्दर वह है जिसमें चलना सीखते हुए नन्दलाल जब गिरने लगे तो तत्काल ही यशोदा उनको सहारा देने के लिए आ गई, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सहारा मिलने के विश्वास से गिरना अधिक निश्चित बन जाता है, नन्दरानी की मुखच्छवि देखकर ही श्याम गिरने लगे—उनके कर युग नीचे झुक गये—मानो चन्द्रोदय की सूचना पाकर कमल-नाल अवनत होना चाहती हो—

डगमगात गिरि परत पानि पर, भुज भ्राजत नँदलाल।
जनु सिर पर ससि जानि अधोमुख, धुकत नलिनि नमि नाल॥ (७३२)

राधा के रूप का वर्णन जितना विद्यापति में है, उतना सूर में नहीं विद्यापति ने राधा के व्याज से मैथिल नायिका का कामोद्दीपक चित्र प्रस्तुत किया था, परन्तु सूर का अभीष्ट कृष्ण है राधा नहीं। अतः राधा के शृंगार के चित्र सागर में नहीं मिलते। किशोरी राधिका एक-दो बार अपनी आभा दिखाकर ही अदृश्य हो जाती है। रास से पूर्व 'नागरता की रासि किसोरी', राधा की 'कन्दुक केलि' (१८१२) भी 'श्री गोपाल

लाल' के हृदय से लगने का पूर्वाभास मात्र है। प्रायः तो गोपी-मात्र के यौवन में ही राधा की छवि भी अन्तर्निहित है—जिसका सन्देश पाकर श्याम का क्रीडा-पर मन शैशव-प्रासाद से उठकर यौवन-सौध में आ गया था—

लोचन-दूत तुर्मांहि इहि मारग, देखत जाइ सुनायौ।
सैसव-महलनि सं सुनि बानी, जोवन-महलनि आयौ॥ (२२०६)

मोहिनी का रूप तो उस समय खिलता हुआ लगता है जब वह अपने प्रियतम के साथ विहार करती है, युवती के रूप की शोभा प्रियतम के सान्निध्य में ही तो है और आध्यात्मिक दृष्टि से भी अंगी कृष्ण हैं, राधा तो उनका अंग मात्र है—अंग का अंगी के बिना रूप ही क्या ? शारदीय राका में 'मोहन को रस-बस करके' (१७६६) मोहने वाली राधा के अंगों की 'रूप रुचिर अंग-अंग माधुरी' (१८१६) भी उतनी आकर्षक नहीं जितनी विद्यापतीय राधा की अलहड़ता, कारण कदाचित् यह है कि सूर खुलकर उसका वर्णन नहीं कर पा रहे, उन्होंने संकेतों से ही काम लिया है (१८१०, १८१३, १८१६, १८२१ आदि); बार-बार 'जहँ-जहँ दृष्टि परति तहँ अरुझति, भरि नहिं जाति निहारी' (१८१५) जैसे कथनों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि नवलकिशोरी की छवि वस्तुतः कवि को रूपमुग्ध कर सकी है, परन्तु उसका वाच्य-वर्णन न करने से ऐसा लगता है मानो कवि या तो संकोच कर रहा है या भावमग्न है। अस्तु, युगलकिशोर की छवि में ही राधा का अपूर्व रूप झलक सका है, अपने समस्त वैभव की आभा के साथ—

हरि-उर मोहिनि-बेलि लसी।
तापर उरग ग्रसित तब, सोभित पूरन-अंस ससी।
चापति कर भुज दंड रेख-गुन, अंतर बीच बसी।
कनक-कलस मधु-पान मनौ करि भुजगिनि उलटि धँसी।
तापर सुन्दर अंचल झाँप्यौ, अकित दंसत सी।
सूरदास प्रभु तुमहिं मिलत, जनु दाड़िम बिगसि हँसी॥१८१४॥

मोहिनी के रूप का एक ही उद्देश्य है प्रभु को रस-बस करना (१८१५) और मोहिनी का रूप तभी प्रकट होता है जब वह श्याम के संग क्रीडा करती है, अस्तु किशोरी राधा के सौन्दर्य का जहाँ-जहाँ वर्णन मिले वहाँ रास-क्रीडा का पूर्वाभास ही समझना चाहिए, अन्यथा उस सौन्दर्य का कोई प्रयोजन नहीं—कोई अस्तित्व ही नहीं।

राधा का रूप अद्वितीय है, वह संसार के सौन्दर्य का एकत्र सकलन है, क्योंकि राधा प्रकृति का अवतार भी है और विश्व-सुन्दरी भी; यह रूप माधव के साथ विहार में अपनी परम छवि के साथ प्रकट हुआ था, परन्तु उस समय भावनिमग्न कवि उसका मूल्यांकन न कर सका, जब वियोग की अभागी घड़ी आई तो शनैः शनैः राधा का अंग-अंग मुरझाने लगा, उस समय कवि को भान हुआ कि संयोग-सुख-लालिता राधा कितनी सुन्दर थी, अप्रस्तुतप्रशंसा की सहायता से सूरदास ने उसकी कितनी सफल व्यञ्जना की है—अभाव में ही भाव का अनुभव होता है, रूप के मुरझाने पर ही राधा के सौन्दर्य का मूल्यांकन हो सका—

तबनें इन सबहिन सुख पायो।
जबतें हरि सन्देश तिहारो सुनत तांवरो आयो।
फूले ब्याल दुरे ते प्रगटे पवन पट भर खायो।
फूले मिरगा, चौंकि चखन तें हुते जु वन बिसरायो।
ऊँचे बैठि विहग सभा बिच कोकिल मंगल गायो।
निकसि कंदरा ते केहरि हू माथ पूछ हिलायो।
गहर ते गजराज निकसि के अंग अंग गर्व जनायो।
सूर बहुरिहो कह राधा क करिहौ बरिन भायो। (४७५६)

वियोग के इस प्रसंग में काम के कुरूप भी कलात्मकरूप में कवि ने पाठकों के सामने रखे हैं, उनमें परम्परा है भावना भी है परन्तु अनुभूति अपेक्षाकृत कम है, शास्त्रीय दृष्टि से इनमें रूपक अलंकार की सांगोपांगता है—

(क) मधुकर कीन्हों प्रीति दिनाई।
प्रेम बीच अग्र-वार सुधा रस अपर माधुरी ल्याई॥ (४४७१)

(ख) आयौ घोष बड़ो व्यौपारी।
लद लादि गुरु ज्ञान जोग की ब्रज म आनि उतारी (४५८३)

(ग) तुम्हरे विरह ब्रजनाथ राधिका ननति नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष-कूल दोउ एते मान चढ़ी। (४७३१)

(घ) नन घन घटत न एक घरी।
कबहुँ न मिटति सदा पावस ब्रज, लागी रहत झरी (४७३२)

(ङ) ब्रज पर मँडर करत है काम।
कहियौ पथिक स्याम सौं रास, आइ आपनो धाम।
जलद कमान वारि दारू भरि, तड़ित-पलीता देत।
गरजन ब्रह्म तड़पन मनु गोला, पहरक में गढ़ लेत।
लेहु-लेहु सब करत प्रदिमन, कोकिल चातक मोर।
दादुर निकर करत जो टोवा, पल-पल प चहुँ ओर।
ऊधौ मधुप अमुस देखि गयौ, टूट्यौ धीरज पारि (४८८५)

इन सभी वर्णनों में अधिक चमत्कार भाव का है अलंकार का नहीं, अत उद्धव को व्यापारी बनानेवाला रूपक अन्य रूपकों से अधिक रमणीय है क्योंकि उसमें उद्धव पर तीखा व्यंग्य है जिन रूपकों में वियोग दशा के दारुण चित्र है वे भी दूसरों की अपेक्षा अधिक मर्मस्पर्शी है 'नन-नदी' की यही विशेषता है, अन्यत्र भी देखिए—

लखियत कालिंदी अति कारी।
कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों भई विरह जुर जारी।
मनु पलिका प परी धरनि धँसि तरंग-तलफ तनु भारी।
तट बारू उपचार-चूर, मनो स्वेद प्रवाह पनारी।
बिगलित कच-कुस-कास पुलिन मनो, पंक जु कज्जल सारी।
भ्रमत मनो मति भ्रमत चहुँ दिसि फिरति है अंग दुखारी।

निसिदिन चकई ब्याज बकत मुख किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी॥

अस्तु, कृष्ण के वियोग में गोपियों ने उद्धव से जो कुछ कहा उसमें दो भावनाएँ मुख्य हैं—हृदय की आग और आँखों के अश्रु; हृदय की आग प्रायः तो उक्ति-प्रमुख है, परन्तु जहाँ अप्रस्तुत-योजना का आश्रय भी है वहाँ हृदय का क्षोभ ही अभिव्यक्त होता है; ऐसे स्थलों पर जो सांग रूपक व्यवहृत हुए हैं उनमें सौन्दर्य अप्रस्तुत सामग्री का कम है अन्तःस्थ कटुता का अधिक; 'आयो घोष बड़ो ब्योपारी' तथा 'मुकति आनि मंदे में मेली'[1] आदि इसके निदर्शन हैं, इन अप्रस्तुत-योजनाओं की समस्त सामग्री नित्य-प्रति के जीवन की है, प्रायः वाणिज्य से सम्बन्ध रखनेवाली, परिचय के कारण ही यह पाठक मात्र के मन पर इतना अधिक प्रभाव डाल सकी है। नेत्राम्बु के साथ मुख से जो उक्तियाँ निस्सृत हुई हैं उनसे इतना वशीकरण नहीं होता, क्योंकि उनमें परिहास तो है ही नहीं, अश्रु-विमोचन भी विलम्बित बन जाता है, 'प्रीति-बिनाई,' 'नैननि-नदी,' 'नैन-घन,' 'प्रीति-छुरी,'[2] तथा 'विधि-कुलाल'[3] के सांग रूपक इसी तथ्य का समर्थन करेंगे, इन रूपकों के गर्भ में प्रायः उपमा या उत्प्रेक्षा भी रहती है, इनकी अप्रस्तुत सामग्री भी सुपरिचित है परन्तु इनमें अनुभूति स्वल्प है इसलिए इनसे पाठक का रंजन नहीं होता, ये कवि के भक्त-पूर्व जीवन का कुछ आभास देते हैं जिस जीवन को इनमें अप्रस्तुत बनाया गया है वह परिचित होते हुए भी मोदक नहीं है, अतः पाठक उसमें तल्लीन नहीं हो पाता। तीसरे प्रकार से सांग रूपक सामान्य प्रसंग में व्यवहृत हैं; 'सोभा-सिन्धु न अंत रही री' जैसे संयोग में तथा 'ब्रज पर मँडर करत है काम' तथा 'लखियत कालिन्दी अति कारी' जैसे वियोग प्रसंग में इसी कोटि के हैं, इनमें उक्ति गोपी की न भी मानी जाय तब भी काम चल सकता है; जो अनुभूति कवि के मन में जगी थी उसी का यहाँ आस्वाद हो सका है।

सूर की प्रशंसनीय मौलिकता उन स्थलों पर है जहाँ उन्होंने सांग रूपक भी व्यंग्य के चमत्कार से भर दिये हैं। 'सागर' के वियोग खण्ड में 'मधुकर' तथा 'थैली' शब्दों का प्राय. सर्वत्र ही श्लिष्ट प्रयोग है, जो 'स्याम'[4] के श्लिष्ट प्रयोग के समान ही भावाक्षिप्त है। 'मधुकर' का सबसे सुन्दर प्रयोग 'रहु रे, मधुकर! मधु मतवारे'[5] में

१. मुकत आनि मंदे में मेली।
समुझि सगुन लै चले न ऊधो, यह तुम पै सब पूँजि अकेली॥४३४२॥
२. प्रीति करि दीन्ही गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपट-कन पाछे करत बुरी॥३८०३॥
३. ऊधो भली करी ब्रज आये।
विधि-कुलाल कीने काँचे घट ते तुम आनि पकाये॥४३६६॥
४. निरखत अंक स्यामसुन्दर के बार-बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती।
५. रहु रे मधुकर मधु-मतवारे।
कहा करौं निर्गुन लै कै हौं जीवहु कान्ह हमारे।

ह यहाँ 'मधु' का श्लिष्ट अर्थ लेकर भ्रमर तथा मद्यप की समता तो बताया ही है, कुब्जा पर भी एक तीखा व्यंग्य है—

तुम जानत हमहूँ वसी है जैसे कुसुम तिहारे।
घरी पहर सबको बिलमावन जेते आवन बारे॥

स्त्री का सबसे बड़ा गुण कुलस्त्रीत्व है और सबसे महान् दुर्गुण कुलटापन, अतः किसी अन्य स्त्री को बुरा बताने के लिए नारी उसको कुलटा बनाया या बताया करती है—उसे इसी बात का गर्व है कि मैं दुःख में हूँ तो क्या अपने कुल-स्त्री धर्म का तो बाधा निवारण-पूर्वक पालन कर रही हूँ और वह यदि अपने सर्वस्व धर्म के बदले कुछ आदर पा गई तो क्या मणि के सम्मुख काँच के टुकड़ों का क्या मूल्य! इसीलिए समस्त साहित्य स्त्री के इसी गौरव की मुक्तकण्ठ से स्तुति करता है। वाममार्ग से प्रभावित परकीया प्रधान साहित्य में कुलागनाओं को फुसलानेवाली दूती कुलटात्व को इस हेतु प्रेम का आवरण पहनाकर[1] उसका कुलधर्म से अधिक सुंदर दिखाया करती है। 'एकनिष्ठता' पतिव्रत या 'कुल-स्त्री धर्म' नारी का स्वभाव है, यदि वह इसके विपरीत आचरण करे तो उसको नारी का विकार ही समझा जायगा, परन्तु पुरुष की प्रकृति एकनिष्ठता नहीं है वह यदि उच्च बनकर एकपत्नीव्रत का पालन करता है तो वह महान् है—समस्त जीवन का गौरवमय चित्र प्रस्तुत करके भी आदि-कवि ने मर्यादा-पुरुषोत्तम के जीवन में इस एक पत्नीव्रत का उदय इसीलिए अनिवार्य समझा। अस्तु पुरुष को मधुप घोषित करना कोई गाली नहीं है परन्तु नारी का कुसुम सिद्ध कर देना उसकी जीवनसञ्चित प्रतिष्ठा पर निर्मम आघात है। गोपियाँ क्षुब्ध होकर इसीलिए अपना सर्वस्व अपहरण करनेवाली कुब्जा को 'कुसुम' बनाकर उसको मुख दिखाने योग्य नहीं रहने देतीं—एक ही शब्द में कितनी सामर्थ्य है। एक दूसरे स्थल पर 'बेली' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग करके सूर ने ब्रजनवेली गोपियों को मथुरा की नवेली कुब्जा से पार्थक्य बताया है जिसमें लता अप्रस्तुत की सहायता से साग रूपक भी है तथा गोपियों के प्रेम की सहज व्याख्या भी—

ये बल्ली बिहरत वृन्दावन अरुझी स्याम-तमालहि।
प्रेम-पुष्प रस-बास हमारे बिलसत मधुप गोपालहि॥
जोग-समीर धीर नहिं डोलत रूप डार ढिग लागी।
सूर पराग न तजत हिये तें कमल-नैयन अनुरागी॥४१२६॥

इस पद के प्रथम चरण में प्रत्येक शब्द में ध्वनि भरी हुई है अप्रस्तुत अर्थ तो स्पष्ट है— 'जब ये लताएँ शनैः शनैः वर्द्धिमती हुई तो वृन्दा नामक वन में एक श्याम

लोटत नीच परागपंक में पचत न आपु सम्हारे।
बारबार सरक मदिरा की अपरस कहा उधारे॥

१ विद्यापति के निम्नलिखित चरण देखिए—
कुल-व्रत परम कांच सम तूल। मदन-दलाल भेल अनुकूल॥
कुन शामिनि छलों, कुलटा भइ गलों, तिनकर वचन-लुभाई॥

तमाल तरु पर फैल गई क्योंकि लता जब अपने स्वरूप को प्राप्त करने लगती है तो वह निराश्रय नहीं रह सकती"; इसी से ध्वनित प्रस्तुत अर्थ अधिक रमणीय है—"मन की उमंग में स्वच्छन्द विहार करनेवाली ये किशोरियाँ वृन्दावन जैसे रमणीय स्थल पर श्यामल, रूपवान् तथा बलिष्ठ कृष्ण के गले में भुजाएँ डालकर उसको सर्वस्व समर्पित कर बैठीं; क्योंकि किशोरावस्था की उमंग प्रत्येक व्यक्ति, विशेषतः नारी, को किसी से मन मिलाने के लिए प्रेरित करती है और तब नारी जो सबसे निकट लगता है उसी से उलझ जाती है और उससे अलग होते ही मुरझाने लगती है।" 'विहरत' तथा 'अरुझी' शब्दों में शब्द-श्लेष नहीं है, जिस अपर अर्थ की उपलब्धि होती है उसका आधार ध्वनि ही है; गोपियों के इस प्रेम का एकमात्र कारण 'विहार' अथवा 'सहज उमंग' है बिना सोचे-समझे किसी आन्तरिक प्रेरणा से कैशोर में लता और नारी किसी की खोज में रहने लगती है, फलस्वरूप गोपियाँ श्याम से 'उलझ' गई—प्रतिदान के अभाव में ही उन्होंने अपने को श्याम से फँसा लिया और उसी को अपना प्राण बना बैठीं। सूर के काव्य-सौन्दर्य में सबसे अधिक ध्यान देने की वस्तु ध्वनि है। जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है वे पाठक के मन में वाच्यार्थ के साथ ही साथ एक अधिक रमणीय एवं अधिक प्रभावशाली ध्वन्यर्थ को भी जगाते हैं और इस ध्वन्यर्थ में सूर के व्यक्तित्व तथा विचारधारा की झलक सहज ही उपलब्ध हो जाती है, यथा उपर्युक्त उदाहरण में 'विहरत' तथा 'अरुझी' शब्दों के प्रयोग सूरदासीय प्रेम का स्वरूप स्पष्ट करने में समर्थ हैं।

संयोग और वियोग के इन पदों में भाव-व्यञ्जना की सफलता का मुख्य रहस्य उचित शब्दों का उपयुक्त प्रयोग है। सूर के काव्य में मनोरमता की आधार-शिला भाव-व्यञ्जना है, पाण्डित्य, दार्शनिकता या सुधार-भावना नहीं; जायसी के समान प्रेम से पूर्व की आकुलता या विद्यापति के समान प्रेमोत्तर पश्चात्ताप भी सूर में उतना हृद्य नहीं है। इन पदों में तो प्रेम के सहज चित्र हैं, राधा प्रेम जानती है प्रेम की व्याख्या से अपरिचित रहकर, दूसरे का व्यवहार राधा के मन में कोई गम्भीर प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करता प्रत्युत उसके प्रेम को दृढ़ से दृढ़तर ही बनाता जाता है। राधा मे भाव-गाम्भीर्य है भाव-प्रसार उतना नहीं; अपनी परिस्थिति में निमग्न होकर राधा कुछ रत्न ही निकाल सकी है (भले ही वे अमूल्य हों) स्वर्णिम विश्व का पुनर्निर्माण नहीं कर सकी। कारण यह है कि सूर में प्रबन्ध-प्रतिभा का अभाव है वे सरस मुक्तक पद-रचना के असाधारण अधिकारी हैं, परन्तु नीरस प्रबन्ध-निर्वाह का उनमें धैर्य नहीं। इस व्यक्तित्व का काव्य-सौन्दर्य पर यह प्रभाव पड़ा कि सूर के लघुतर अप्रस्तुत अधिकतर भाव-व्यञ्जक तथा रमणीय है, एक ही सौन्दर्य-बिन्दु से वे कविता-वनिता के आनन को रूपनिधि बना देते हैं—

(क) जोग-ठगौरी ब्रज न बिकैहै ॥
(ख) सुनहु मधुप निर्गुन-कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधो।
(ग) अधोमुख रहति, उरध नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुआरी ॥
(घ) तन, मन, जौबन वृथा जात है ज्यों भुवंग को फूंक ॥
(ङ) खोयो गयो नेह-नग उनपै, प्रीति-कोठरी भई पुरानी ॥

प्रथम उदाहरण में योग को निस्सार तथा व्यर्थ वस्तु सिद्ध करके यह संकेत दिया गया है कि योग की मथुरा में भी कोई पूछ न हुई तो उद्धव अपनी चालबाजी से इसको गोकुल में भेड़ने के लिए आये। दूसरा उदाहरण भक्ति का राजपथ[1] बनाकर निर्गुण को उस मार्ग का बाधक सिद्ध करता है, उस समय निर्गुण तथा योग भक्ति के सक्षम बड़ प्रतिद्वन्द्वी थे तुलसी के शब्दों में "गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग"। द्यूत क्रीड़ा में जय और पराजय दोनों ही बुरी मानी गई हैं निश्चय ही ऐसी पराजय मनुष्य को मुख दिखाने योग्य नहीं रहने देती जिसमें वह अपना सर्वस्व लुटा बैठे हित मित्रों के मना करने पर भी जुआ खेलकर, राधा की दशा ऐसे ही हठी पराजित जुआरी की सी है। सच की श्याम संसार को व्याकुल ही करती है, उससे न अपना उपकार होता है और न विश्व का, इसी प्रकार असफल प्रेम की निरवामें निष्फल तथा निष्प्रयोजन हैं केवल झिकलनवाले समय की सूचिका। अर्थ उस उदाहरण एक परिचित घटना का स्मरण कराता है आपके पास जो अमूल्य रत्न है उसको यदि आप किसी पुरानी थैली में रख देते तो अपनी लापरवाही के कारण उससे हाथ धो बैठेंगे क्योंकि वह किसी भी समय चुपचाप खिसक जायगा श्याम ने स्नेह रूपी रत्न को ऐसी असावधानता के कारण गवा दिया प्रीति की पुरानी थैली में रखकर—यहाँ प्रीति तथा स्नेह दो शब्दों का भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग है 'प्रीति' मेल-जोल या परिचय सम्बन्ध का नाम है और 'स्नेह'[2] हृदय के लगाव का, प्रीति ही स्नेह का संरक्षण करती है, यदि प्रीति जीर्ण शीर्ण हो गई तो स्नेह भी मन्द पड़कर नष्ट हो जायगा।

सूरसागर (दशम स्कन्ध) का समस्त सौन्दर्य गोपियों पर निर्भर है, अभी तक अध्ययन नहीं हुआ परन्तु भाव की आधार रज्जु पकड़कर उस सागर में डुबकी लगानेवाला आलोचक उन रमणी रत्नों की व्यक्तिगत विशेषताओं से अवगत हो सकता है और तदनन्तर समस्त गोपियों को प्रकृति भेद पर कुछ निश्चित वर्गों में रखना सम्भव है कुछ गोपियाँ वयोवृद्धा हैं तो कुछ अल्पवयस्का, कुछ प्रकृतिगम्भीरा हैं तो कुछ चंचला तथा रसीली कुछ वियोगखिन्ना हैं तो कुछ वञ्चनाशुक्ला फिर भी वे सब नारियाँ हैं अन उनमें अभिधा से बहुत कम काम लिया गया है और बाहरी शोभा का भी बलात् आरोप नहीं। अस्तु, सागर के काव्य-सौन्दर्य में शब्द शक्ति का विशेष योग है अलंकारों की छटा उतनी नहीं। यह गुण भ्रमरगीत के प्रसंग में और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है, ज्ञानी, गम्भीर तथा अपटु उद्धव को बनानेवाली गोपियाँ विदुषी नहीं हैं फिर भी उनका क्षोभ पाठक पर सफल प्रभाव डालता है। सूर ने जिन

---

१ तुलना कीजिए—

गुरु कह्यौ रामभजन नीको, मोहि लागत-डगरो-सो॥ (तुलसी)

२ 'प्रीति तथा स्नेह' की तुलना के लिए निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

(क) मधुकर प्रीति किये पछितानो॥

(ख) प्रीति करि काहू सुख न लह्यो॥

(ग) परम सुखद जमुना को नेह॥

नवीन परिस्थितियों की उद्भावना की है वे भी इस स्त्रियोचित गुण के अनुकूल हैं। भ्रमर-गीत में राधा को बोलने का अवसर स्वल्प ही प्राप्त हुआ, परन्तु सखी-मुख से कवि ने उसकी समस्त व्यथा को अभिव्यक्त कर दिया। एक तो युवतियों की मण्डली, फिर उसमें वियोगमुग्धा राधा की वेदना को जता देने की प्रतिज्ञा, सारा वातावरण ही वाग्य-वातावरण से वंचित हो गया। इन स्थलों पर शास्त्रीय सौन्दर्य भले ही न हो, परन्तु सहज सौन्दर्य की अवहेलना नहीं हो सकती—

(क) तू अलि! कासों कहत बनाय।
 बिन समुझे हम फिरि बूझति हैं एक बार कहौ गाय॥
(ख) आए जोग सिखावन पाँडे।
(ग) काहे को रोकत मारग सूधो।
(घ) निर्गुन कौन देस को वासी?
(ङ) हमको जोग सिखावन आयो, यह तेरे मन आवत?
(च) जब चहिहैं तब माँगि पठैहैं जो कोउ आवत-जातो।

इन पंक्तियों में गोपियों ने यह सफल प्रयत्न किया है कि उद्धव के उपदेश को परिहास में ही उड़ा दिया जाय अतः उनके एक-एक शब्द में परिहास झलक रहा है—चिढ़कर मानो वे उद्धव के साथ एक शैतानी कर रही हैं। "एक बार कहौ गाय" से पुनश्च (वन्स मोर) या 'हाँ साहब, एक बार फिर हो जाय' की मुहाविया ध्वनि निकल रही है; 'पांडे' शब्द में उनका बुद्धूपन टपकता है; 'काहे को रोकत मारग सूधौ' से यह व्यंजना होती है कि उद्धव भी भक्तिमार्ग को ऋजुपथ समझते हैं परन्तु शठतावश उसका विरोध कर रहे हैं; आगे का उदाहरण उस परिस्थिति में है जब सब कुछ सुनकर गोपी पूछने लगे कि आखिर यह निर्गुण है क्या बला[1]। अन्तिम दो उदाहरण उपदेश की गम्भीरता को मुसकराहट में उड़ा देना चाहते हैं।

सूर-सागर मुक्तक काव्य है, इसमें कोमलता तथा माधुर्य का मुक्त संचय है। यद्यपि कथा का आश्रय ले लिया गया है फिर भी कथा पृष्ठभूमि में ही रहती है। अतः सूरदास के निकट प्रस्तुत कथा का कोई प्रश्न नहीं, प्रस्तुत रूप में तो वर्णन ही आते हैं जिनके अनेक प्रकार हैं—केवल रास की लीला ही अनेकशः अनेक पदों में अनेक आकर्षणों के साथ वर्णित है, वियोग-खंड का भ्रमरगीत भी एक छोटी-सी बात को अर्ध-सहस्र पदों में चित्रित करता है। प्रस्तुत कथा का अभाव और अप्रस्तुत दृश्य या वर्णन

---

१. लॉ क्लास के छात्रों से तंग आकर जब एक उत्साही अध्यापक उनको उपदेश देने लगे तो दो-तीन मिनट का समय था; विद्यार्थी चुप रहे, परन्तु जैसे ही उनका उपदेश समाप्त हुआ एक शैतान छात्र खड़ा होकर बोला—'पार्डन सर' अर्थात् जो आप कह रहे थे वह समझ में नहीं आया, इस बार ध्यान से सुनेंगे एक बार फिर कह दीजिए; अध्यापक इनको सुधार से परे जानकर चिढ़ते हुए क्रोध में क्लास से बाहर चले गये। ठीक यही घटना प्रो० उद्धव के साथ हुई, लड़कियों की उस क्लास में वे गरम भी तो न हो सके।

की प्रचुरता सूर के काव्य को रमणीय तथा मनोहर बनाते हैं। अप्रस्तुत-योजना का सूर में इसी अर्थ में प्राचुर्य है, उनमें अप्रस्तुत वस्तु या अलंकार का इतना आधिक्य नहीं जितना अप्रस्तुत विषय या कल्पनोद्भूत वर्णन का, कथा में प्रसंगों की उद्भावना जिस मनोरमता की सृष्टि करती है वह मुक्तक काव्य में वर्णन प्राचुर्य से संपादित होता है। देश-काल का तो प्रश्न कम है परन्तु पात्र भेद से एक ही वस्तु अनेकधा दृष्टिगत होती है उसकी प्रतिक्रियाएँ अनेक नवीनताओं को जन्म देती हैं। गोपियाँ तो ६० हजार थीं, किसी भी प्रसंग की साठ हजार हृदयों पर क्या प्रतिक्रिया होगी—इसी का सफल अंकन सूर-काव्य का सौन्दर्य है। सूर ने भक्तपूर्व जीवन का पाण्डित्य त्याग सा दिया था, इसलिए स्थूल अलंकारों की छटा दीक्षान्तर काव्य में बहुत कम है यहाँ उसका स्थान वर्णन वैविध्य तथा उक्ति-सौन्दर्य ने ले लिया है।

सूर की राधा

आभीर संस्कृति के लोकरत्न 'कान्ह' और 'राही' जब अकस्मात आर्यजाति को मिल गये तो आर्यजाति ने उनके कान्ह और अपने 'कृष्ण' में एकरूपता खोजकर दोनों का एकीकरण कर लिया परन्तु उनके इतिहास में 'राधा' जैसी कोई नारी थी ही नहीं अत 'राही तथा राधा' के एकीकरण के लिए आर्यजाति को उस समय तक प्रतीक्षा करनी थी जब तक कि भक्ति-सुधानिधि की सबसे उज्ज्वल मणि के रूप में राधा स्वयं ही वीचिविक्षोभविह्वला के समान ब्रज के कुञ्जों में न आ पड़ी। आभीर कान्ह अपनी जाति के बीच गायें चराकर जीवन निर्वाह करते थे और थे सबसे चचल तथा नटखट, राही से उसी समय उनका मन मिल गया, परन्तु कुछ समय पीछे उनके जीवन में एक परिवर्तन आया जिसने उनको राजा बना दिया, फिर उनका अपनी जाति से नाता नाता ही टूट गया, राही ने यह सब कुछ अपनी आँखों से देखा और अपने मन से सहा, उसको विश्वास था कि प्रेम का परिणाम भला होता है—कान्ह अवश्य उसको अपने साथ ले जावेंगे, परन्तु वह आजीवन प्रतीक्षा ही करती रही और मरणोपरान्त भी उसी विश्वास के साथ अपने प्रिय का पथ देखती रहा है। आज भी जब एक व्यक्ति युवक या युवती, दूसरे के साथ विश्वासघात करता हुआ उसको तड़पता हुआ छोड़ जाता है तो ऐसा लगता है मानो 'राही' की अमर आत्मा अवतरित होकर इस भाग्यवान अभागे को साहस बँधा रही हो—'सावधान, प्रणय-पथ का सम्बल है विश्वास, वासना का जो उद्वेग मन में उठ रहा है उसको खारे अश्रुजल से धोकर ही तुम अपने हृदय को प्रेमामृत का उपयुक्त पात्र बना सकते हो, देखो निश्वासों की ताप से भी इसकी शीतलता में व्याघात न पहुँचे हमारा आदर्श तुम्हारे सामने है तुम जैसे असंख्य प्रणयवंचितों के पथ निर्देश के लिए ही भगवान् ने मुझे भेजा था और उसी वक्तव्य को पूरा करने के लिए ही तो मैंने मोक्ष की कामना न करके अन्तरिक्ष में घूमते रहना पसन्द किया है।'

काव्य में राधा को स्थायी रूप से जयदेव ही लाये थे, उनकी राधा 'कोकिल कूजित-कुञ्ज-कुटीरे' में 'पीन पयोधर भार भरेण' 'नीलकलेवर पीतवसन वनमाली' का

सराग परिरम्भण करने की 'विलासकला' में, मुग्धा होने पर भी, दक्ष है; 'अधर-सुधा-पानेन' सम्मोहित करनेवाली उस 'नितम्बिनी' का 'सुकृतविपाक' 'रतिविपरीत' में तड़ित के समान मुरारि के उर पर सुशोभित होना ही है। विद्यापति में भी राधा का यही रूप है, 'नवयुवती' 'केलिकलावती', वह कुलकामिनी थी परन्तु कान्ह के 'मधु-सम-वचन' से लुभाकर वह कुलटा बन गई और प्रेम के मन्द परिणाम पर जीवन भर पछिताती रही—'कुल-गुन-गौरव' तथा 'सति-जस-अपजस' को 'मदनमहोदधि' के वेग में तिनके के समान बहा देने से और क्या मिल सकता था ? विद्यापति में जयदेव के समान विलास तो है ही, प्रेमाभिधेय काम की असफलता तथा तज्जन्य पश्चात्ताप की भी कमी नहीं; राधा मुग्धा से लेकर प्रौढ़ा तक के रूप में मिलती है, उसने जो कुछ किया वह दूती के बहकाने से ही, वह मानो बदनाम हो गई है इसलिए न संसार को मुख दिखला सकती है और न अपने बचे हुए जीवन को सुख से बिता सकती है। विद्यापति के समकालीन चंडीदास ने जिस अनन्य 'पिरित रस' के गीत गाये थे उसमें 'कामगन्ध नाहि'; 'कुल शील जाति मान' सब कुछ उसी 'आमार प्राण' 'बन्धु' को समर्पित कर देने पर किस कलंक का डर, किस अच्छे-बुरे का विवेक—

कलंकी बलिया डाके सब लोके,
　　　　ताहाते　　नाहिक　　दुख ।
तोमार लागिया कलंकेर हार,
　　　　गलाय　　परिते　　सुख ।
×　　×　　×　　×
सती वा असती तोमाते विदित,
　　　　भाल　मन्द　नाहि　जानि ।
कहे चण्डीदास पाप पुण्य मम,
　　　　तोमार　　चरण　　खानि ।

चण्डीदास का व्यक्तिगत जीवन राधा के जीवन में भली भाँति झलकता है, यहां मिलन की घड़ियाँ तो बहुत थोड़ी हैं—मिलन तो मानो हुआ ही नहीं, और यदि मिलन के कुछ क्षण जीवन में आये भी तो वे आशंका से खाली नहीं थे, विच्छेद[1] के डर से मिलन में भी दोनों रोते ही रहे, और एकत्र[2] रहकर भी प्रिया ने प्रिय के शरीर का स्पर्श तक नहीं किया। चण्डीदास का प्रेम 'किछु किछु सुधा, विषगुण आधा' है, वस्तुतः प्रेम में सुख नहीं मिलता फिर भी दुःख के डर से प्रेम का त्याग उचित नहीं[3], प्रीति की कसौटी ज्वाला[4] ही है—जिसके मन में जितनी ज्वाला अधिक है उसकी प्रीति भी उतनी ही तीव्र होती है, सुख के लिए प्रेम करनेवाली को चण्डीदास ने सावधान कर दिया है—

१. दुहुँ कोरे, दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया ।
२. एकत्र थाकिब, नाहि परशिब, भाविनी भावेर देहा ।
३. प्रेमे दुःख आछे बलिया प्रेम त्याग करिबार नहे । (रवीन्द्रनाथ ठाकुर)
४. जार जत ज्वाला तार ततइ पिरीति ।

कहे चण्डीदास, सुन विनोदनी, सुख, दुख दुटि भाइ,
सुखेर लागिया जे करे पिरीति, दुख जाइ तार ठाँइ।

इस भाँति 'सौन्दर्य पिपासा' तथा विलास की प्रतिमूर्ति राधा यहाँ आकर दु:ख ज्वाला की मूर्तिमती प्रतिमा बन गई, जिसने अपनी गूढ़ वेदना से समस्त वासना तथा कामना को आत्मसात कर लिया, अब वह परमार्थ में भी आदर्श बन सकती थी।

सूर की राधा बचपन से ही हमारे सामने आने लगती है। कृष्ण कुछ बड़े हो गये थे, माखन चोरी करने लगे थे गाय चराने जाया करते थे, ब्रज में उनकी प्रसिद्धि हो गई थी, ब्रज युवतियाँ सुन्दरता के इस सागर को देखकर अनेक बार अपना 'बुद्धि विवेक' खो चुकी थीं। अभी राधा एक सामान्य गोपी है उसका कृष्ण से कोई विशेष परिचय नहीं। परन्तु एक दिन ब्रज की बाल मण्डली के साथ खेलते हुए कृष्ण राधा की ओर[1] देखते हुए चले गये। यह क्षण राधा के जीवन में एक नया रंग ले आया, जहाँ भी वह जाती है उसे श्याम की वह 'मधु मूरत' दिखाई पड़ जाती है—न जाने श्याम जान-बूझकर उसकी आँखों के सामने बार-बार आते हैं, या संयोग अपने गर्भ में कुछ विशेष रहस्य छिपाए हुए है। राधा के मन में उल्लास था, ईश्वर ने उसको गोरा रंग और विशाल नेत्र दिये थे उसकी माता उसके माथे पर रोली का लाल टीका लगा देती[2] और पीठ पर लटकने वाली भालरदार चोटी में फूल गूँथ देती थी। गोरे रंग पर आसमानी साड़ी में बादलों के बीच बिजली के समान राधा की छवि एक दिन कृष्ण की आँखों में चकाचौंध पैदा कर गई, दोनों के नेत्र एक क्षण के लिए मिले फिर नीचे हो गये और फिर फिर मिलने के लिए फुदकने लगे। अवसर पाकर कृष्ण ने पूछा—'सुन्दरी तुम कौन हो? तुम्हारा घर कहाँ है? ब्रज में कभी तुमसे मिलना नहीं हुआ।' राधा में यौवन छिपकर झाँक रहा था, उसने विभ्रम से अभिनव मुद्रा बना कर उत्तर दिया—'हमें क्या पड़ी है तुम्हारे ब्रज आने की, हमारा ही इतना भव्य भवन और विशाल प्रदेश है (तुम किसी दिन आकर देखो तो तुम्हारी भी आँखें खुल जायें) हम तो वहीं सुन लिया करते हैं कि नंद के पुत्र घर घर से माखन और दधि चुरा-चुरा कर खाते रहते हैं। कोई हमारे विषय में सबकुछ जानता है और बहुत दिनों से जानना चाहा करता है—इससे बढ़कर मन को भुलावे में डालने वाली कोई दूसरी बात नहीं, राधा और कृष्ण दोनों ही इसके शिकार हुए, प्रथम मिलन में ही दोनों ने चुप चाप संग मिलि *खेलौ' की कल्पना की—क्या ही अच्छा हो अगर हम साथ-साथ खेला करें*। नेत्रों के मिलने पर मन मिल गया और उनको ऐसा लगा मानो वे तो जन्म जन्मान्तर से एक दूसरे के परिचित हैं। यह 'प्रथम स्नेह' था, कृष्ण ने चलते चलते राधा से कहा—'कभी हमारे यहाँ खेलने आओ न, मैं ब्रज ग्राम में रहता हूँ,

---

[1] ब्रज-लरिकन संग खेलत डोलत, हाथ लिए चकडोरि।
सूरस्याम चितवत गए मो तन, तन मन लियौ अजोरि॥ (१२८८)

[2] औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी॥ १२९०॥

नन्द के घर, द्वार[1] पर आकर पुकार लेना, मेरा नाम 'कान्ह' है,·· ···तुम बड़ी भोली-भाली लगती हो, इसलिए मन[2] तुम्हारा साथ करना चाहता है।"

राधा के मन में खलबली मचने लगी, ऐसा लगता था मानो एक बार हाथ में आकर कुछ छिन गया हो। वह अपने घर को चलने लगी तो मार्ग में सखी से बोली—"बड़े आये घर वाले, किसी को क्या गर्ज पड़ी है जो इनके घर जाय"[3]। प्रेम का प्रारम्भ उस समय समझना चाहिए जब मन के प्रगट उल्लास को छिपाने का व्यर्थ प्रयत्न करते हुए अन्तरंग सखी से भी झूठ बोला जाता है—बुद्धू कहीं की, यह भी कोई बताने की बात है हमारे परस्पर के व्यवहार से भी इतना अनुमान नहीं लगा सकती कि हम एक दूसरे को प्रेम करते हैं। दिन बीते और 'नये प्रेम रस पागे' राधा और श्याम अपने अनुराग[4] में डूबकर हर तीसरे दिन सैर करते हुए दिखाई पड़ने लगे। इस बीच राधा यशोदा के घर भी आई, श्याम ने माता से उसका परिचय[5] कराया; नन्दरानी को राधा बड़ी अच्छी लगी, वह अपने हाथ से 'राधा कुँवरि' को सजाती है और श्याम-राधा की इस जोड़ी को मन में मोद भरकर देर तक देखती रहती है। प्रीति की यह कथा छिपी न रह सकी, श्याम और राधा बहुत से बहाने बनाकर मिलने लगे तो सखियों के मन में यह बात खटकी, वे राधा के इन ढंगों[6] पर ताने देने लगीं—अपने घर में तुझसे बैठा भी नहीं जाता और अगर बाहर आना है तो क्या बिना बने ठने[7] नहीं आ सकती। सभी बातें बचपन कहकर टाली भी तो नहीं जा सकतीं,[8] लोग संदेह की दृष्टि से देखते हैं और अंगुली उठाने लगते हैं। इस प्रकार चलते-चलाते समय बीतता चला गया, राधा अपना सर्वस्व समर्पित कर बैठी, न उसके माता-पिता को इसमें कोई आपत्ति थी और न नन्द-यशोदा को। शरद् की रात्रि आई, वृन्दावन में रासलीला प्रारम्भ होगई, राधा का यहाँ भी मुख्य भाग था[9]—अगर दूसरी गोपियाँ भी कृष्ण को चाहती हैं तो चाहा करें, रास में मुख्य भाग तो मुझी को देते हैं और सारे ब्रज में यह बात फैली हुई है कि कृष्ण राधा के वश में हैं,[10] इससे बढ़कर और सौभाग्य क्या चाहिए? सूर का

---

१. खेलन कबहु हमारे आवहु, नन्द-सदन, ब्रज गाउँ।
 द्वारैं आइ टेरि मोहि लीजौ, कान्ह हमारो नाउँ॥ १२६२॥
२. सूधी निपट देखियत तुमकौं, तातैं करियत साथ॥ १२६२॥
३. संग सखी सौं कहति चली यह, को जैहै इनकैं घर॥ १२६४॥
४. अंतर बन-बिहार दोउ क्रीड़त, आपु-आपु अनुरागे॥ १३०४॥
५. मैया री तू इनकौं चीन्हति, बारंबार बताई (हो)॥ १३१८॥
६. राधा ये रँग हैं री तेरे॥ १३३६॥
७. कै बैठी रहि भवन आपनैं, काहे कौं बनि आवै॥ १३४६॥
८. लरिकाई तबही लौं नीकी, चारि बरष कै पाँचे॥ १३८८॥
९. सुनहु सूर रस-रास नायिका, सुन्दरि राधा रानी॥ १६५५॥
१०. श्री राधिका सकल गुन पूरन, जाके स्याम अधीन॥ १६७८॥
 स्याम काम-तनु-आतुरताई, ऐसे स्यामा-बस्य भए री॥ १६१६॥

कोमल हृदय यह मानने को तयार नहीं कि राधा कृष्ण का विवाह नहीं हुआ—विवाह और क्या होता है, कुज-मडप में रास करते हुए घूमना ही तो[1] भावरी है और प्रीति की ग्रथि ही तो विवाह का बन्धन है, इस प्रकार 'एक प्रान द्व देह' होकर रास करना साक्षात् विवाह[2] ही तो है। कभी कभी रूठना मनाना चलता था, परन्तु प्रत्येक मिलन में नया और दूना उत्साह आजाता था, अगणित भांति[3] राधा और कृष्ण न क्रीडा करके ब्रजलोक को सुख दिया और सबकी मनोकामना को यथायोग्य पूरा किया।

यहा राधा स एक भारी भूल हो गई, ऐसी भूल जिसका पश्चात्ताप हो नही सकता। कृष्ण कहते थे कि राधा उनकी है और ससार कहता था कि कृष्ण राधा के ह, राधा ने इसका यह अथ समझा कि कृष्ण मानते ह कि वे राधा के है—अगर उनक मन में तनिक भी द्विविधा होती तो स्पष्ट कह देते—'राधा, ससार हमारे तुम्हारे सबध को गलत समझ रहा है हमको अलग रहना चाहिए क्योंकि शायद हम लोग जीवन भर के लिए एक न हो सकें।' एक बार जब एक सखी ने कृष्ण के व्यवहार को सन्देह की दृष्टि स देखकर कहा कि यह प्रेम[3] दोनों पक्षों में समान नहीं है तो राधा को उस सखी पर 'रिस' आ गई—मूर्खा बोलना नही जानती तो चुप रह वे बुरे हो या भल हो, ह तो अपन ही[4] अगर हम भले ह तो सब भले ह[5] क्या तू यह समझती है कि कृष्ण मुझको कभी इस जीवन में भूल भी[6] सकते ह देख श्याम मेरी ओर देखकर ही एक विचित्र प्रकार से मुस्कराया करते ह[7]। सचमुच श्याम उस समय राधा के हो चुके थे, वैदिक विधि से विवाह तो नही हुआ था परन्तु इस सामान्य रीति के अतिरिक्त और कमी भी क्या रह गई थी राधा का कृष्ण पर अनन्य अधिकार इसी से स्पष्ट हो जाता है कि राधा मान करती है तो कृष्ण उसको हर प्रकार से मनाते है, सिर चढाकर घुमाने तक में उनको हिचकिचाहट नहा। मोहन पर उसका कुछ ऐसा जादू हो गया था कि वे राधा के इशारे पर हा नाचते थे—अपना काम छोडकर उसके साथ चल[8] जाते थे। जब बात यहाँ तक बढ़ गई तो एक दिन राधा ने कहा—यह भी कोई बात है भला,

---

१ तब देत भावरि कुज-मडप, प्रीति ग्रथि हिय परी ॥ १६६० ॥
२ जाकौं व्यास बरनत रास।
 है गाधव विवाह चित्त द, सुनो द्विविध बिलास ॥ १६८६ ॥
३ सजनी श्याम सदाई ऐसे।
 एक अग की प्रीति हमारी, वे जसे के तसे ॥ १८६६ ॥
४ स्यामहि दोष देहु जनि माई।
 वे जो भले बुरे तौ अपने ॥ १६३१ ॥
५ आपु भलाई सबै भलेरी ॥१६७३ ॥
६ तू जानति हरि भूलि गए मोहि ॥ (१६७५)
७ स्याम कछू मो तन ही मुसुकात ॥ (१६६१)
८ मोहन कौं मोहिनी लगाई, सगहि चले डगरि क। (२०५५)

आप जरा भी ध्यान नहीं रखते, मुझे बड़ी लज्जा आती है,[1] आप यह भी नहीं जानते कि सब बातें सबके सामने कहने और करने की नहीं होतीं। यह श्याम की परीक्षा थी—देखें वे क्या उत्तर देते हैं। श्याम ने स्वयं तो कुछ न कहा परन्तु सखामुख से कहलवाया कि संसार हँसता है तो हँसने दो, उसकी क्या परवाह करनी ?[2] अन्त में इसीलिए उसने निश्चय किया था कि अब जो कुछ हो, होता रहे विधि की प्रेरणा[3] से ही हमारा प्रेम बढ़ा है उसका भरसक निर्वाह भी मैं करूँगी। राधा निश्चिन्त थी, उसमें अभिमान[4] आ गया, अब वह अपने को कृष्ण की 'विशिष्ट' सहचरी समझने लगी, और सारी सखियाँ मन ही मन उसकी प्रतिकूल बन गईं। वह राधा के जीवन का चरम सौभाग्य[5] था कि कृष्ण की अनन्य प्रेयसी बनकर वह सबकी आँखों में खटकने लगी—सब की ईर्ष्यालु दृष्टि[6] राधा के इस सौभाग्य में विघ्न देखने की कामना कर रही थी।

राधा-कृष्ण की इन लीलाओं का सूर ने जो वर्णन किया है उसमें न जयदेव के समान विलास है, न विद्यापति के समान केलि और न चंडीदास के समान भावी विच्छेद के भय से मिलन में भी दुःख, सूर की राधा में विश्वास तथा उल्लास है, जिनका आधार व्यक्तिगत अनुभव भी है तथा समाज की चर्चा भी, जब विश्वास जम चुका तो फिर लोकनिन्दा का कौन डर ? संसार से भय उसी समय तक रहता है जब तक कि प्रेम का परिपाक न हुआ हो, फिर तो 'चवाव' भी सौभाग्य बन जाता है—जो जलते हैं वे जला करें हमारे भाग्य में तो भगवान् ने सुख लिख दिया है उसे क्यों न भोगें? राधा के प्रेम में स्थूल उपकरण कम सहायक होते हैं सूक्ष्म भावनाएँ अधिक—मन की परवशता, पूर्व संस्कार, सयोग तथा भावना।

संगीत में छींक के समान जब एक दिन अक्रूर उस लीलामय जीवन में विघ्न बनकर आ गये तो सारे ब्रज में खलबली मच गई। कृष्ण ने राधा से कहा—'मुझे कंस ने बुलाया है, मैं मथुरा जा रहा हूँ।' राधा अपने कानों पर विश्वास न कर सकी, फिर वह सोच में डूब गई, उसका गला भरा हुआ था—मुख से कुछ भी उत्तर न

---

१. स्यामहिं बोलि लियो ढिग प्यारी।
ऐसी बात प्रगट कहुँ कहियत, सखिनि मांझ कत लाजनि मारी।
इक ऐसेहि उपहास करत सब, तापर तुम यह बात पसारी।
जाति-पाँति के लोग हँसहिंगे, प्रगट जानि हैं स्याम मतारी। (२१७५)

२. सूर स्याम-स्यामा तुम एकै, कह हँसिहै संसार। (२१७६)

३. अब तौ स्यामहि सौं रति बाढ़ी, बिधना रच्यौ संजोग। (२२८१)

४. राधा हरि के गर्व गहीली।
मंद मंद गति मत्त मतंग ज्यौं, अङ्ग-अङ्ग सुख-पुंज भरीली। (२३९०)

५. तो सी को बड़भागिनि राधा, यह नीकैं करि जानीं। (२५१६)

६. तुम जानति राधा है छोटी।
चतुराई अङ्ग-अङ्ग भरी है, पूरन-ज्ञान, न बुद्धि की मोटी।

निकला,[1] तब प्रभात भय उसकी आँखों में नाचने लगा—मिलन की यह अन्तिम बेला थी। रथ तयार था, कृष्ण बैठ गये और कुछ देर में दूर पर धूलि ही उड़ती दिखाई पड़ी अन्त में वह भी आँखों से ओझल हो गई—राधा को होश नहीं था, यह कहा जानती थी कि यह सब हो क्या रहा है जब वह चेती तो गिर पीटना और हाथ मलना[2] ही बाकी बचा था। मथुरा की सब घटनाएँ घटी, नन्द लौटकर ब्रज आ गए, ग्वालों को सारी बात मालूम हुई सबको यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि कृष्ण राधा को बिलकुल छोड़कर कसकी एक कुबड़ी दासी कुब्जा को घर में डाल रखना चाहते हैं[3]। कहाँ राधा और कहाँ कुब्जा! कोई तुलना भी हो सकती है क्या!! राधा का जीवन ही बदल गया सारा ब्रज उसी की बातें करता है—सभी लोग उसी को लक्ष्य करके कृष्ण को दोष देते हैं। पापी समाज! न पहले मेरे सुख को देख सका न अब मेरे दुख को। राधा को ऐसा लगता है मानो सहानुभूति दिखाने के बहाने लोग उसको चिढ़ा रहे हैं। कोई कहता है उनको तो कुछ दिन ब्रज में ऐश करना था[4], अन्य का आक्षेप है कि श्याम ने बहुत बुरा किया प्रेम दिखाकर गले पर छुरी फेर दी[5], एक ने कहा—वे तो स्वार्थी व स्वार्थी वे प्रेम का निबाहना क्या जानें[6]। कुछ गोपियाँ कृष्ण का मजाक उड़ाने लगी—सुना है अब तो वे राजा हो गये हैं और मुरली तथा गायों का नाम सुनते ही उनको लज्जा आती है (३८११)। परदेशी के प्रेम का विश्वास ही क्या, वह पहले प्रीति बढ़ाता है, फिर अपने देश चला जाता है दूसरे को पछिताता छोड़कर[7]—हम तो प्रतिदिन यही देखती हैं, हमने तो पहले ही कह दिया था कि ऐसा ही अन्त होगा इस परदेसी का। राधा को बड़ी खीझ आती है—सब बातें बनाने वाले हैं कोई ऐसी युक्ति तो बतलाता नहीं जिससे वे फिर मिल सकें[8]। राधा ने अपने को ही दोष दिया—मेरे प्रेम में ही कुछ कपट होगा जिससे आज यह विरहदुःख सहना

---

१ हरि मोसौं गौन की क्या कही।
मन गह्वर मोंहि उतर न आयो हौं सुनि सोचि रही। (३५८३)

२ तब न बिचारी ही यह बात।
चलत न फेंट गही मोहन की, अब ठाढ़ी पछितात। (३६१६)

३ कैसे री यह हरि करि है।
राधा को तजिहैं मनमोहन, कहा कंस दासी धरिहै।

४ करि गए थोरे दिन की प्रीति। (३८०२)

५ प्रीति करि दीन्हीं गरें छुरी। (३८०३)

६ प्रेम निबाहि कहा वे जानें, साँचेई अहिराइ। (३८०४)

७ कहा परदेसी को पतियारो।
पीछे ही पछिताइ मिलौगे प्रीति बढ़ाइ सिधारौ। (३८१३)

८ बातनि सब कोइ जिय समुझावै।
जिहिं बिधि मिलनि मिलै वै माधौ, सो बिधि कोउ न बताव। (३८०१)

पजा[1], परन्तु अब करें तो क्या—सोच-विचार में ही जीवन बीतता चला जा रहा है, प्रिय के मिलने का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ता।[2]

उद्धव का आगमन ब्रज के जीवन में एक नया अंक लाता है। आशा और निराशा के बीच डूबती-तैरती गोपियां प्रेम-महोदधि में लहरें ले रही थीं, उद्धव के उपदेश ने एक तूफान ला खड़ा किया, जिसमें सभी ब्रजवासी बह गये—नन्द और यशोदा भी, न बही तो एक राधा क्योंकि उसको अपने प्रेम का विश्वास था—इसी तिनके के सहारे बिना छटपटाये ही उसने अपना सारा जीवन काट दिया, उसकी कामना कोई है तो यही कि विरहविह्वल प्राण जब कष्टजर्जर इस शरीर को छोडकर सदा के लिए जा रहे हों तब एक बार प्रिय के दर्शन हो जावें—तुम मेरे पास मत आओ, मुझसे बोलो तक नहीं परन्तु किसी बहाने क्षण भर को ब्रज में आ जाना, जिससे मेरे मन की यह अन्तिम साध पूरी हो जावे—

बारक जाइयौ मिलि माधौ
को जानै कब छूटि जाइगौ स्वांस, रहे जिय साधौ।
पहुनेहुँ नंद बबा के आवहु, देखि लेहुँ पल आधौ। (३८५०)

राधा के मन में दोगुनी कसक है—प्रेम की असफलता और लोक का उपहास, अगर संसार को इस प्रसंग का पता न होता तो मन मारकर चुपचाप एकान्त में दिन कट जाते, परन्तु सारा समाज सब कुछ जानता है और हमारे आख्यान की चर्चा चलाकर हमसे अधिक बुद्धिमान बनता है। एक बार मिलकर फिर सदा को बिछुड़ना जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है[3]—इसकी मौन पीड़ा को वही समझ सकता है जिसके जीवन में यह दुर्घटना आ चुकी हो। अगर श्याम को ब्रज में रहना नहीं था तो वे यहां आये ही क्यों,[4] और अगर वे आये भी तो मेरे मन को इतने अच्छे क्यों लगे—और जब वे इतने अच्छे लगे तो अपने बनकर क्यों न रह सके? मैं मन को कितना समझाती हूँ परन्तु वह मेरे वश में नहीं रहा[5]। अब इस शरीर को रखकर घुल-घुलकर[6] मरने से क्या है, और अगर मरना चाहूँ तो मरूँ कैसे? राधा ने जीवन में एक ही दांव लगाया था उसी में वह अपना सर्वस्व खो बैठी, अब उसकी दशा उस जुआरी

---

१. सखी री हरिहिं दोष जनि देहु।
तातें मन इतनौ दुख पावत, मेरोइ कपट सनेहु। (३८१४)
२. हरि न मिले माइ जनम ऐसें जाग्यौ जान। (३८३०)
३. मिलि बिछुरे की पीर कठिन है, कहैं न कोऊ मानें।
मिलि बिछुरे की पीर सखी री, बिछुर्‌यौ होइ सो जानै॥ (३८४७)
४. वह माधव मधुवन ही रहते, कत जसुदा कैं आये।
५. मैं मन बहुत भांति समुझायौ।
६. दुसह वियोग बिरह माधौ के, को दिन ही दिन छीजै।
सूर स्याम प्रीतम बिनु राधे, सोचि-सोचि कर मीजै॥ (३९८०)

कोरी है जो बहुत कुछ समझाने पर भी न माना और जुआ खेलकर सब को खोकर हो गया अब न संसार को मुख दिखाया जा सकता है और न संसार से सहानुभूति या दया की आशा की जा सकती है—

अति मलीन वृषभानु कुमारी ।
अधोमुख रहति, उरध नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुआरी ।

राधा किस किस को समझावे, किसको दोष दे, जिसके जो मन आवे वह कहता रहे, अगर हम में समझ ही होती तो प्रेम ही क्यों करते ?

आशा ही संसार का जीवन है, मरते मरते दम तक हम सोचते हैं कि शायद किसी प्रकार से बच सकें, सब कुछ नष्ट होता देखकर भी प्रेमी सोचता है कि शायद किसी बात से पत्थर पिघल ही जाय इसलिए प्रेम सदा आशावादी होता है, हर कदम पर वह झुकता है और प्रिय के प्रत्येक अपराध को क्षमा करता रहता है। भविष्य के भरोसे—एक बार वह पिघल जावे तो उसके सारे शूल फूल बन जावेंगे, उसकी सारी क्रूरता मान कहलावेगी। राधा इसीलिए मौन रही प्रत्येक नवीनता आशा को भड़काती है और अंत में अवसाद दे जाती है, सावन आया—एक के स्थान पर दो-दो परन्तु साथ झूलने वाला प्रिय न आया वर्षा आई, फिर चली गई, शरद आ गई रास की पुरानी याद लेकर—परन्तु रासरसिक को आज ध्यान ही नहीं है। प्रकृति मन में सुप्त भावनाओं को जगाया करती है—आकाश में घिरी हुई काली घटा को देखकर अपने आप आँखें भर आती हैं—

हरि परदेस बहुत दिन लाए ।
कारी घटा देखि बादर की, नैन नीर भरि आए ।। (४०००)

राधा ने उद्धव से कुछ कहना चाहा भी था तो वह कह न सकी, उसने सोचा अवश्य था कि बिना कहे मन हलका[1] नहीं होता इसलिए मन की व्यथा को कह डाले परन्तु उसके नेत्रों में पानी आ गया और गला रुक गया[2]। अस्तु, राधा की बहुत-कुछ वेदना सूर ने सखी द्वारा व्यक्त कराई है। हमने एक निर्मोही[3] से प्रेम किया—एक 'ओछे' व्यक्ति से—हम यह न जानती थीं कि संसार में ऐसे लोग भी हैं जो बाहर से पूरा मेल-जोल दिखलाते हैं परन्तु जिनके मन में कपट[4] ही भरा रहता है। श्याम बड़े कपटी निकले, वे सदा हमारे साथ रहा करते थे, हमारे साथ घण्टों बैठे रहते थे, संग

---

१ बिन ही कहे आपने मन में, कब लगि सूल सहौं। (४६७७)

२ कंठ वचन न बोलि आव हृदय परिहस मौन ।
नैन जल भरि रोइ दीनो, ग्रसित आपद दीन । (४७२५)

३ प्रीति करि निरमोहि हरि सौं, काहि नहि दुख होइ ।
कपट की करि प्रीति कपटी, लै गयो मन गोइ । (४४१८)

४ ऊधौ अति ओछे की प्रीति ।
बाहर मिलन, कपट भीतर सौं, ज्यौं खीरा की रीति । (४४५१)

संग घूमा करते थे, मिलकर हँसते थे,[1] और दुःख-सुख की बातें करते थे। हमने श्याम को अपना बनाया—अपना सर्वस्व देकर हम उनके हो गये,[2] उनके लिए संसार में बद-नाम हो गये और घर-कुटुम्ब वालों के बुरे बने—परन्तु फिर भी क्या उस निष्ठुर ने हमारी इन बातों की अन्त में परवाह की ? आह ! अब उन बातों को सोचने से क्या है, हमारी सारी कामनाएँ—हमारे सारे सपने—मन के मन ही में रह गये[3] अब कहे भी तो क्या-क्या कहे और किससे कहे—जिसको अपना समझा था वही अपना न निकला तो औरों का क्या भरोसा ? हमारे लिए पश्चात्ताप ही आज शेष है—हमने क्या सोचा था[4] और उस निर्दयी ने क्या कर दिखाया ! भूल अपनी ही है हमने उसको प्रेम किया था, उसने हमको कभी अपनाया ही नहीं[5]—एकतरफा प्रेम का ऐसा ही करुण अन्त होता है !..... परन्तु नहीं, मैं अपने मन में सदा विश्वास रखूँगी, मेरे श्याम बड़े भोले थे, वे मुझे प्यार करते थे—मैं अपने उसी श्याम की याद में डूबी रहूँगी—ये मथुरा वाले श्याम हमारे नहीं हैं[6] ये तो कोई और हैं। राधा यह तो जानती है कि श्याम ने नये दिखावे में बहककर[7] पुराने प्रेम को भुला दिया है परन्तु उसे यह विश्वास है कि संसार में उनको कोई और इतना प्रेम न कर सकेगा[8]—किशोरावस्था में साथ-साथ रहते-रहते जो कभी न अलग होने की भावना मन में बैठ जाती है वह सुपरिचित होने के कारण भले ही आकर्षक न लग सके परन्तु वह अनन्य है, वह वासनारहित तथा स्वार्थ-हीन होती है, उसमें जितना सुख होता है उतना घर-घर के दिखावे में नहीं। और वास्तव में श्याम को पछताना पड़ा, वे सोचते थे कि राधा का प्रेम भी कच्चा ही है, परन्तु जब उनको समय बीतने पर राधा के प्रेम की अनन्यता का प्रमाण मिला तो उनके

१. कहा होत अबके पछिताने।
खेलत, खात, हँसत एकहि संग, हम न श्याम गुन जाने। (४३७०)
२. जनि कोऊ बस परो पराएँ।
सरबस दियौ आपनौ उनकौ, तऊ न कछू कान्ह के भाएँ। (४६५८)
३. मन की मन ही माँझ रही।
कहिए जाइ कौन पै ऊधौ, नाहीं परत कही। (४५८८)
४. मधुकर प्रीति किये पछितानी।
हम जानी ऐसैहि निबहेगी, उन कछु औरै ठानी। (४६०५)
५. ऐसौ एक कोद कौ हेत।
जैसे बसन कुसुम रँग मिलि कैं, नैकु चटक, पुनि सेत। (४५३७)
६. ऊधौ अब नहिं स्याम हमारे।
मधुवन बसत बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे। (४३६५)
७. मधुकर यह निहचैं हम जानी।
खोयौ गयौ नेह नग उनपै, प्रीति-कायरी भई पुरानी। (४३३२)
८. परम सुखद सिसुता को नेहु।
सो जनि तजहु दूर के बासे, सुनहु सुजान जानि गति येहु।

मन में भी टीस होने लगी परन्तु हाथ से समय निकल गया, अब तो पिछली भूल पर पछताया ही जा सकता है—अपने मन की कसक को एक दिन श्याम ने अपने मित्र उद्धव से कहा था—'सूर चित तें टरति नाहीं, राधिका की प्रीति।'[1]

संसार में सदा दो प्रकार के व्यक्ति रहेंगे। एक तो वे जो भावना को ही सब कुछ समझते हैं और दूसरे वे जिन्होंने सदा नाप तोल करना सीखा है। यदि ये दोनों अलग अलग रहें तो जीवन की बहुत सारी समस्याएं उत्पन्न ही न हों, परन्तु नियति प्रायः इन दोनों को मिला देती है। साहित्य में ऐसे वर्णन भी हैं जहाँ धन प्रतिष्ठा आदि के लोभ में कोई विवाहित युवक प्रेम को ठुकराकर कुछ समय के लिये परदेश चला जाता है—प्रतीक्षातुर विरही (या विरहिणी) की वेदना के उस समय के उद्गारों को समाज के ठेकेदारों ने बड़ा सराहा है। और ऐसी विषादपूर्ण कथाओं की भी कमी नहीं जिनमें नाप-तोल करने वाला अविवाहित प्रेमी किसी भावुक प्रेमपात्र से पहले तो प्रेम जोड़ता है फिर किसी भौतिक स्वार्थवश उस प्रेम को तोड़कर अन्यत्र चला जाता है तब प्रवञ्चित प्रेमी समाज की सनद के अभाव में अपने मन की ज्वाला या तो अतल जल में शान्त करता है या अग्नि की चिनगारियों में मिला देता है (यह कहना आसान नहीं कि आदर्श उस विवाहित कथा में अधिक था या इस अविवाहित घटना में)। संसार में धन-सम्पत्ति, ज्ञान विज्ञान, मान गौरव सब कुछ है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर अधिक है, परन्तु क्या इन्हीं भौतिक उपकरणों के कारण पिछले प्रेम को ठुकरा देना चाहिए विशेषतः जबकि दूसरे का कोई और आधार ही न हो? सौराष्ट्र के कवि ने एक ऐसे ही अपने को बुद्धिमान् समझने वाले निष्ठुर को बार बार समझाया है —

> मिथ्या छे ज्ञान अने फोटक छे फांफां
> व्यर्थ आ जीवननो विखवाद हो
> साणा समझीने सांचा सत्यने।
> प्रेम भीना प्राणियो संसारमां विचरजे
> प्रेम छे सृष्टिनो संवाद हो
> साणा समझीने सांचा सत्यने[2]।

सत्य तो यह है कि पहले तो इस संसार में किसी व्यक्ति को अपना मन पसन्द नहीं करता और यदि किसी एक को पसन्द करता भी है तो वह व्यक्ति अपना नहीं

---

१ कठिन निठुर मन्द के गुन, जोरि तोरयो नेह।

२ समस्त ज्ञान मिथ्या है दिन रात परिश्रम करना निरर्थक है, और इस जीवन के सारे संघर्षों में कोई सार नहीं, हे सयाने! तू जीवन के इस वास्तविक सत्य को समझ ले। तू अपने प्राणों को प्रेम के सौरभ से सुरभित करके संसार में विचरण कर, इस सृष्टि का एकमात्र संवाद प्रेम ही है। हे सयाने! तू जीवन के इस सार्वभौमिक सत्य को समझ ले।

हो पाता[1]—यह इस संसार की सनातन विडम्बना है। राधा-कृष्ण इसी के प्रतीक[2] हैं। परन्तु इस विडम्बना से विश्वासघात का उत्तरदायित्व कम नहीं हो जाता; हाँ, अनन्य त्याग और तप से राधा का पद पराजय में अपने जीवन का अन्त कर लेने वाले असफल प्रेमियों से सहज ही ऊँचा उठ जाता है। राधा जानती है कि स्वार्थी लोकमत उसको ही बुरा-भला कहेगा, वह यह भी जानती है कि उस निष्ठुर को अपनी निष्ठुरता पर घुट-घुटकर रोना पड़ेगा, और राधा को विश्वास है कि यदि उस निर्मोही की आँखों के सामने उस क्रूर भविष्य का ठीक चित्र आ जावे तो सच्चे एवं अनन्य प्रेम के सामने उसका तुच्छ स्वार्थ पिघलकर बह जावेगा। इसलिए राधा ने यह निश्चय किया कि वह प्रिय के पास अपना सन्देश नहीं भेजेगी—जो किसी महत्वाकांक्षा में अन्धा बना हुआ है उसे प्रेम का सात्विक रूप आज दिखाई न पड़ेगा—उसी पुरानी सुख-स्मृति में, उसी विश्वास तथा उल्लास में राधा अपना सारा जीवन काट देगी; संसार उसे पागल कहना चाहे तो कहता रहे, अपना सर्वस्व गँवाकर समाज की थोथी सहानुभूति की उसे भूख नहीं—

'हम अपने ब्रज ऐसेहि रहिहैं, विरह-वायु बौराने।'

मीराबाई

भक्ति-साहित्य में मीराबाई को एक विशेष स्थान प्राप्त है। राजरानी होकर भी प्रेमा-भक्ति के मार्ग पर अग्रसर होते हुए इन्होंने लोकापवाद तथा यातनाएँ सही, फिर भी सामोद गिरधर की लीलाओं का निरन्तर गान करती रहीं। गुजराती, राजस्थानी, व्रज तथा पंजाबी भाषाओं में मीरा को समान आदर दिया जाता है; अथवा यह कहिए कि दक्षिण की अन्दाल तथा अक्का महादेवी की तुलना के लिए उत्तर की एकमात्र मध्ययुगीन कवयित्री मीराबाई ही हैं। व्यक्तित्व, संगीत और कवित्व में से किस ओर मीरा को विशेषत्व प्राप्त है—यह कहना सहज नहीं। मीरा में दर्शन या विचारों की खोज व्यर्थ है, वे 'प्रेम-दिवानी' थीं, प्रेम ही उनका दर्शन और प्रेम ही उनका जीवन है। वे सगुण अथवा निर्गुण भी नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि उनका उपास्य गिरिधर और नन्दलाल होते हुए भी सूर के कृष्ण के समान लीलाओं में व्यस्त नहीं मिलता; अप्रस्तुत सामग्री की दृष्टि से मीरा, कबीर आदि निर्गुणी सन्तों के अधिक निकट हैं। मीरा की भक्ति दाम्पत्य-भाव की है, उन्होंने गिरिधर गोपाल को अपना[3]

---

१. मन मिले, तो मनेर मानुष मिले ना। (बंगाली गीत)

२. दुर्लभ जन्म लहब वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम-तरंग।
ना जानिये बहुरि कब ह्वैहै, स्याम तिहारो संग॥

३. म्हाँने चाकर राखो जी, गिरधारी लाला, म्हाँने चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ, बाग लगासूँ, नित उठ दरसण पासूँ।
वृन्दावन की कुंजगलिनि में तेरी लीला गासूँ।
चाकरी में दरसन पाऊँ, सुमिरण पाऊँ खरची।
भाव-भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बाताँ सरसी॥

जन्म-जन्म का पति मान लिया था और उसी के प्रेम में छकी हुई वे गाती रहती थीं। उपास्य के साथ ऐसा व्यक्तिगत दाम्पत्य सम्बन्ध हिन्दी के किसी भी भक्त कवि या कवयित्री में नहीं मिलता।

कहा जाता है कि मीराबाई ललिता की अवतार थीं, परन्तु इस रहस्य का ज्ञान उनको तब हुआ जब वे विधवा हो गईं और वे इस पार्थिव दुलहा को भूलकर उस चिर पति के ध्यान में रत रहने लगीं। अपने पूर्व जन्म का स्मरण कर वे कभी-कभी ऐसे पद गाती हैं जिनको इस जन्म में नितान्त अप्रासंगिक माना जायगा—

(क) मोरी गलियन में आयो जी घनश्याम।
पिछवाड़े आय हेला दीजो, ललिता सखी है म्हारो नाम॥

(ख) हेली, मो सूं हरि बिन रह्यो न जाइ।
सासू लड़ै, री, सजनी ननद खिजावै, पीव जो रह्यो री रिसाइ॥
चौकी भी मेलौ सजनी, पहरा भी मेलौ, ताला क्यों न जड़ाइ॥
पूरब जनम की प्रीत हमारी, सजनी, सो कहाँ रहै री लुकाइ॥

(ग) ए री दई तैरो कहा बिगाड़ो, छोटा कन्त मोहिं दीना॥
करके शृंगार पलंग पर बैठी, रोम रोम रस भीना॥
चोली के बन्द तड़कन लागे, श्याम भये परवीणा।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर हरि चरणन चित लीना॥

(घ) छाँड़ो लँगर मोरी बहियाँ गहो ना॥
मैं तो नारि पराये घर की मेरे भरोसे गोपाल रहो ना॥

मीरा के पदों में लीला गान बहुत कम है, यत्र-तत्र गोचारण, दधि विक्रय या वस्त्र-हरण के पद मिलते हैं जिनकी संख्या राम-सम्बन्धी या व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी पदों की संख्या से अधिक नहीं है। बालकृष्ण की छवि मीरा की दृष्टि से ओझल हो रही है, परन्तु किशोर के रूप को देखकर उन पर जादू हो गया और वे उससे मिलने के लिए व्याकुल रहने लगीं—

(क) बड़ी बड़ी अँखियन वारो साँवरो मो तन हेरो हँसिक री।
हौं जमुना जल भरन जात ही सिर पर गागरि लसिक री॥
सुंदर श्याम सलोनी मूरति मो हियरे में बसिक री॥

(ख) कब आवौ हो लाल, तेरी ब्रजनगरी, गोकुल नगरी।
इत मथुरा उत गोकुल नगरी, बीच बहै जमुना गहरी।
पाँव धरौं मेरी पायल भीजै कूदि परौं बहि जाऊँ सगरी॥
मैं दधि बेचन जात वृन्दावन, मारग में मोहन झगरी॥
बरजो जसोदा अपने लाल को, छीनि लियो मेरो नथ री॥

---

१ (क) झूठे वर को क्या वरूँ जी, अध बिच में तज जाय,
वर वरूँ ला रामजी, म्हारो चूड़ो अमर हो जाय॥
(ख) ऐसे वर को क्या वरूँ, जो जनमे और मर जाय।
वर वरिये एक साँवरो री, मेरो चुड़लो अमर होय जाय॥

बस, मिलन की इतनी ही लीला के बाद वियोग का प्रारम्भ हो गया, हृदय में हूक उठने लगी, शरीर में जलन पैदा हो गई और जीवन मरण से भी हेय बन गया। विरह के ये पद ही मीरा के काव्य का सार है। जयदेव के गीतों के समान मीरा के पदों में भी बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा नहीं है; इसलिए विरह के पद शृंगार की कामुकता को जगाने के स्थान पर हृदय में उदात्त भावों की ही सृष्टि करते हैं; इसी हेतु मीरा की प्रेमा भक्ति विलास के उच्छ्वासों से लाञ्छित नहीं रही—

(क) रमैया बिन नींद न आवै।
नींद न आवै, विरह सतावै, प्रेम की आँच ढुलावै॥

(ख) सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पंथ निहारत सिगरी रैण बिहानी हो॥

विरह के इन वर्णनों में सबसे अधिक मर्मस्पर्शी वे स्थल हैं जिनमें मीरा का उद्दीप्त हृदय असह्य वेदना से चीत्कार कर उठता है; इन पदों का माधुर्य आज तक अक्षुण्ण है—

(क) पपइया रे पिव की वाणी न बोल।
सुणि पावेली विरहिणी रे, थारो रालेली पाँख मरोड़।
चोंच कटाऊँ पपइया रे, ऊपरि कालर लूँण।
पिव मेरा, मैं पीव की रे, तू पिव कहै सु कूँण॥

(ख) पपैया प्यारे कब को बैर चितारयौ।
मैं सूती छी अपने भवन में पिय पिय करत पुकारयौ॥

(ग) सावण दे रह्यौ जोरा रे; घर आवो जी स्याम मोरा रे।
उमड़ घुमड़ चहुँ दिसि से आयौ गरजत है घनघोरा रे॥

(घ) बरसै बदरिया सावन की; सावन की, मनभावन की।
सावन में उमग्यौ मेरो मनुआ, भनक सुनी हरि आवन की॥

(ङ) मैं विरहिणी बैठी जागूँ, जगत सब सोवै री आली।
विरहिणी बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।
इक विरहिणि हम ऐसी देखी, अँसुवन की माला पोवै॥

नारी-हृदय से निकले हुए विरह के ये उद्गार बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा नहीं रखते।

यदि मीरा के काव्य से कृष्ण का नाम निकाल लिया जाय तो उसको निर्गुण काव्य स्वीकार करने में अधिक संकोच न होगा। कारण हम ऊपर बता चुके हैं कि यह विरह बाह्य परिस्थितियों से स्वतन्त्र वेदना की अभिव्यक्ति मात्र है, अतः इसकी योजना प्रत्येक प्रसंग में ठीक लगेगी। यदि विरह के उद्दीप्त उद्गारों के साथ-साथ वेदना की कसक पर दृष्टि डालें तो ऐसे पदों में कबीर का अपूर्व प्रभाव दिखलाई पड़ता है—अप्रस्तुत सामग्री, प्रयुक्त शब्दावली आदि सबमें—

(क) सुरत निरत का दिवला सँजोया, मनसा पूरन बाती।
अगम घाणि का तेल सिंचाया, बाल रही दिन राती॥

(ख) ऊँचो नीचो राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय।
सोच-सोच पग धरूँ जतन से, बार-बार डिग जाय॥

(ग) पाँच सखी इकठी भई, मिलि मगल गाव हो।
पिय का रली बधावणो, आणंद अग न मावे हो।।
(घ) त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहाँ स झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँरी।।
(ङ) या तन को दिवला करूँ, मनसा की बाती हो।
तेल जलाऊ प्रेम को, बालूँ दिन-रात हो।।
(च) सासु हमारी सुखमणा रे, ससरो प्रेम-सतोष रे।
जेठ जुगो जुग जावजो रे, हाँ रे पलो नावलीयो निर्दोष।
(छ) पानाँ ज्यूँ पीली पड़ी रे, लोग कहें पिंड रोग।
छानें लघण म किया रे, राम मिलण के जोग।।
बाबल बद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख बद मरम नाँहि जाणे, करक करेजे माँह।।
माँस गल-गल छीजिया रे, करक रह्या गल आहि।
आँगलियाँ री मूदडो (म्हारे) आवण लागो बाँहि।।

वियोग के कुछ प्रसग मीरा के काव्य को भारतीय काव्य-पद्धति से अलग कर विरही प्रभावान्वित दिखाते हैं। कबीर, रदास आदि निर्गुण भक्तो के प्रति मीरा के मन में वस्तुत श्रद्धा थी। अत उनका वियोग सदा भारतीय नारी का वियोग नहीं रहा और पुरुष होते हुए भी नारीत्व की भावना से वियोग-मुग्ध रहनेवाले निर्गुणियों का अनुकरण करके वह हठयोग की गलियों में भटकता रहा, यद्यपि इन स्थलों की सख्या बहुत अधिक नहीं है। विनय के पदो में तीना का नितान्त प्रभाव है और सूरसागर के विनय-खण्ड के समान या तो हरि की प्रशस्ति है या अपनी अधमता अथवा ससार की निस्सारता—

(क) इस देहि का गरब न करना, माटी में मिल जासी।
यो ससार चहर की बाजी, साँझ पड़याँ उठ जासी।।
(ख) बालापन सब खेल गँवायो, तरुण भयो जब रूप घना।
वृद्ध भयो जब आलस उपज्यो, माया मोह भयो मगना।।
(ग) यो ससार सगो नहि कोई, साचा सगा रघुबर जी।
माता पिता औ कुटुम्ब कबीलो, सब मतलब के गरजी।।

मीरा के काव्य का प्रस्तुत पक्ष भगवान् के प्रेम में व्याकुल होकर तड़पना ही है और यह तड़पन जीवात्मा की परमात्मा के लिए चिरन्तन मिलन की इच्छा है। इसमें स्त्री-पुरुष का भाव नहीं होता फिर भी नारी भाव से इस वेदना का अनुभव करने पर आत्म-परिष्कार निःस्व समर्पण तथा भावपूर्ण अभिव्यक्ति स्वत एव आ जाते हैं। अत पुरुष भी नारी भाव को अपनाकर दाम्पत्य भक्ति में प्रेरित होते रहे हैं। यह सयोग की बात है कि राजरानी मीरा नारी थी, अत पुरुष भक्तो की अपेक्षा उनमें स्वाभाविकता और तीव्रता की मात्रा अधिक है। इस विरह का आलम्बन निश्चित नहीं है, मीरा उसको अपना प्रियतम जानती है, आप उसको कृष्ण कह लें, राम कह लें या

निरंजन कह लें मीरा को उससे कोई अन्तर नही आता। फलतः अनेक पदो में उसको केवल 'पिया' कहा गया है और अनेक पद उसको 'जोगी' या 'जोगिया' कहते हैं; कहीं-कहीं केवल 'तुम' या 'प्रभु' ही सम्बोधन है। मीरा का अभिप्राय अपनी वेदना की अभिव्यक्ति है, जिस प्रेम में वह घायल होकर वन-वन मारी-मारी फिरती है उसका उपचार तो असम्भव है ही, उसका अनुभव भी सर्वसुलभ नहीं—घायल की गति को घायल ही जानता है दूर से तमाशा देखने वाला नही। इसीलिए प्रेम का नाम लेने वाले वेदना के अनुकरण पर ही न बहक जाएँ—प्रेम का निर्वाह बड़ा कठिन है और इसका परिपाक स्थायी विरह है; मीरा ने अपने अनुभव से सस्ते प्रेमियो को सदा के लिए सावधान कर दिया है—

जो मैं ऐसा जाणती रे, प्रीति किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती रे, प्रीति करो मत कोय॥

रसखान

कृष्णकाव्यकारो में रसखान की प्रसिद्धि किसी दार्शनिक सिद्धान्त के कारण नही है प्रत्युत विधर्मी होते हुए भी कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम के कारण है; उनके काव्य में भाषा का सौन्दर्य अवश्य प्राप्य है परन्तु जीवन का कोई आदर्श नही मिलता। इस वर्ग के कवियो ने प्रेम को ही जीवन का सर्वस्व समझा, अतः आशा और उत्साह के उदात्त भाव सहज ही उपेक्षित बन गये। रसखान ने प्रेम को आनन्द का मूल माना है, आनन्द दो प्रकार का है—विषयानन्द तथा ब्रह्मानन्द[1], अतः प्रेम भी दो प्रकार का हुआ; परन्तु दोनों प्रकार के प्रेम में स्थूल रूप से कोई भेद नही एकनिष्ठता या अनन्यता[2] से ही विषय-प्रेम ब्रह्म-प्रेम में परिणत हो जाता है। सूफियो की सी इस भावना के कारण रसखान का आदर्श लैली[3] है, और उनका प्रेम नेजा, भाला, तीर, विष, खड्ग की धारा आदि का पर्याय बन गया है। इन्द्रिय-जन्य वासना से प्रारंभ होने के कारण इस प्रेम में अनेक अश्लील तथा असंस्कृत चित्र आ गये हैं; कहीं नायक ने सुप्ता[4] कन्या के साथ बलात्कार किया, कहीं अपरिचिता[5] परकीया के साथ रस-केलि की, होली के उत्सव पर तो सभी नवीना[6] तथा प्रौढा[7] एक-सी[8] ही हैं—उनको पतिव्रत[9] का

१. आनंद-अनुभव होत नहिं, बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानन्द, कै, ब्रह्मानन्द बखान ॥११॥ (प्रेम-वाटिका)
२. इक अंगी, बिनु कारनहिं, इकरस सदा समान ॥२१॥ (वही)
३. अकथ कहानी प्रेम की, जानत लैली खूब ॥३३॥
४. वह सोई हुई परजंक लली लला लीनो सु आय भुजा भरिकै ॥६४॥
(सुजान-रसखान)
५. आइ गोपाल, लियो भरि अंक, कियो मन भायो, पियो रस कूं री ॥११७॥ (वही)
६. आवत लाल गुपाल लिए मग सूने मिली इक नार नवीनी ॥१२१॥ (वही)
७. सासहि नचाइ, भोरी नन्दहि नचाइ'''॥१२५॥
८. नारि नवेली बचै नहि एक विसेख यहै सबै प्रेम अच्यो है ॥१२६॥
९. इहि पाख पतिव्रत ताख धरो जू ॥१२२॥

नाम ही न लेना चाहिए। यह आश्चर्य की बात है कि राधा का नाम कृष्ण प्रगट हो जाने से ही अन्य नाम हम प्रायः प्रत्यागत की शक्ति की अभिव्यक्ति मान लेते हैं।

रसखान का ईश्वर न हम्य द्वारा अधिक दिया था कि उनमें विचारों का नितान्त अभाव है, सारा वर्णन में भी कल्पना रह गई है। न कोई नया दृश्य है और न कोई नवीन भाव। जहाँ कहीं सौन्दर्य दिखलाई पड़े, समझ लीजिए किसी अन्य कवि का प्रभाव है। निम्नलिखित उद्धरण हमारे मत के प्रमाण हैं—

(क) सागर को सरिता जिमि धावत रोकि रहे कुल को पुल टूटयौ ॥२४॥

(ख) उनहीं बिन ज्यों जलहीन ह्वै मीन सी आँखि मेरी अँसुवानी रहैं ॥३१॥

(ग) मो मन मानिक लै गयो चित चोर नदनद ॥४४॥

(घ) जो कोउ चाहै भलो अपनो तो सनेह न काहू सों कीजियो माई ॥८०॥

(ङ) गो पछितावो यह जु सखी कि कलक लग्यो पर अंग न लागो ॥८३॥

(च) गोरस के मिस जो रस चाहत सो रस कान्ह जू नेकु न पैहौ ॥८८॥

परन्तु प्रेम लीला का सामान्य वर्णन शृंगार में डुबकी लगा-लगाकर अवश्य ही रसखान के काव्य में अनेक बार स्पष्ट हो जाती है। ऐसे स्थलों पर सामान्य काव्य-सौन्दर्य भी मनोहर है—

(क) ऐसे में आवत कान्ह सुने हुलसे सरके तरकी अँगिया की।
यों जग जोति उठी तन की उकसाइ दई मनो बाती दिया की ॥१०१॥

(ख) प न दिखाई पर अब बावरो ह्वै के वियोग बिया की मजूरी ॥११७॥

(ग) सोई हुती पिय की छतियाँ लगि बाल प्रवीन महा मुद मान।
केस खुले छहर बहर फहर छबि देखत मन अमान।
वा रस में रसखानि पगी रति रैन जगी अँखियाँ अनुमान।
चद प बिंब, औ बिंब प कैरव, कैरव प मुकतान प्रमान ॥१२०॥

(घ) बागन काहे को जाओ पिया घर बैठ ही बाग लगाइ दिखाऊँ।
एडी अनार सा मौर रही बहियाँ दोउ चम्पे की डार नवाऊँ।
छातिन में रस के निबुआ अरु घूघट खोलि कै दाख चखाऊँ।
टाँगन के रस के चसके रति फूलनि की रसखानि लुटाऊँ ॥१६॥

प्रथम दो उदाहरणों में सौन्दर्य की सामग्री व्यावहारिक जीवन से ली गई है—निर्वाण प्राप्त दीपक की उकसाई हुई वर्तिका तथा प्रियागम से उत्साहित नायिका में रूप रंग गुण का तो कोई सादृश्य नहीं परन्तु दोनों की गति (निराश से अकस्मात् प्रकाश की प्राप्ति) एक सी ही है। इसी प्रकार रति केलि के श्रम के अनन्तर वियोग को पारिश्रमिक के रूप में संभावना करना चमत्कारपूर्ण है। रूपकातिशयोक्ति या सौन्दर्य-परम्परा से ही गृहीत है और मारी का ही चलती फिरती वाटिका बना देने में उस युग की विलासिता बहुत प्रतिबिम्बित होती है।

मध्यकालीन साहित्य मुख्यतः ब्रजभाषा साहित्य है ब्रजभाषा के माधुर्य से आकृष्ट होकर इतर भाषा भाषी भी काव्य रचना इसी भाषा में करते थे, रसखान ने भाषा के माधुर्य को हृदयंगम किया और युग की प्रवृत्ति के अनुरूप इसमें संगीत की लहर

जगाकर इसको सौकुमार्य से परिपुष्ट करके अपनी रसिकता का परिचय दिया। रसखान के काव्य का भावपक्ष प्रेमातिरेक है; कलापक्ष में भाषा का माधुर्य ही मुख्य समझना चाहिए—यही गुण उनकी कविता को 'रस' की 'खानि' बना सका है। भाषा के माधुर्य से हमारा अभिप्राय शब्द-चयन, पद-निक्षेप, अनुप्रास की छटा तथा संगीत-प्राणता से है। 'प्रेम वाटिका' तो कला की दृष्टि से अत्यन्त सामान्य कोटि की है, परन्तु रसखान के सवैये माधुर्य में अपूर्व है। सवैया वर्णिक छन्द है, इसमें ह्रस्व-दीर्घ का ठीक-ठीक प्रयोग होना चाहिए; यदि इस ह्रस्वदीर्घ के साथ वर्णों के सौकुमार्य तथा माधुर्य का भी ध्यान रखा जाए तो छन्द मनोमोहक बन जाता है। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी ॥३॥

(ख) दृष्टि परी तबही चटको अटको हियरे पियरे पटवारो ॥४॥

(ग) रसखानि रहै अटक्यो हटक्यो ब्रजलोग फिरैं सटक्यो भटक्यो री।
रूप सबै हरि वा नट को हियरे फटक्यो भटक्यो अटक्यो री ॥५२॥

(घ) ता खन जा खन राखिए माखन चाखनहारो सो राखनहारो ॥१०७॥

इन उदाहरणों में अनुप्रास तथा यमक की छटा पाठक के मन को अवश्य आकृष्ट करेगी और 'ताखन', 'जाखन', 'माखन', 'चाखन', 'राखन', शब्दों की गति एक ओर सिर में कम्प उत्पन्न करती है दूसरी ओर पदों में संचलन की इच्छा जगाती है। यही ब्रजभाषा का माधुर्य है; जिसका रीतिकाल में और भी अधिक उपभोग हुआ। आगे चलकर तो इस नृत्य-संगीतमय सौन्दर्य-सृष्टि के लिए कवियों ने निरर्थक शब्द-जाल का निर्माण किया; रसखान की यह सृष्टि निरर्थकता तक नहीं जाने पाती। एक पद में एक-सा ही नृत्य-संगीतमय शब्द-माधुर्य तो आकर्षक होता ही है विषमता-गर्भ सम की आभा और भी रमणीय है; ऊपर के उदाहरणों में से द्वितीय में 'चटको' 'अटको' के साथ 'हियरे', 'पियरे' की विषमता दर्शनीय है। रसखान के कवित्तों में भी यह गुण प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है—

(क) जानिए न आली यह छोहरा जसोमति को
बाँसुरी बजाइगो कि विष बगराइगो ॥५३॥

(ख) दोउ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ इन्हें
भूलि गई गैयाँ उन्हें गागर उठाइबो ॥६०॥

(ग) सासहिं नचाइ भोरी नन्दहि नचाइ, खोरी
बैरिन सचाइ गोरी मोहि सकुचाइगो ॥१२५॥

रसखान का काव्य अभिधा का काव्य है; इसमें युग की प्रवृत्ति पूरी सचाई के साथ प्रकट हुई है; विधर्मी होने के कारण कवि ने रस-लीला के अलौकिक संकेत नहीं किये, और न शास्त्रीय प्रभाव ही उसमें लक्षित होता है। अतः व्रज की वासना-पंकिल जनता के जीवन का कुछ आभास रसखान की अप्रस्तुत-योजना में स्थूल दृश्यों के रूप में प्रकट हुआ है। यह कहना कठिन है कि उस शृंगारी वातावरण के गीतों में रसखान कितने निर्लिप्त है, परन्तु उनके ब्रज-प्रेम का कारण तथा तत्कालीन अधोगति का मुख्य

आधार निम्नलिखित सवैये से स्पष्ट जाना जा सकता है—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गानन बेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन।
टेरत हेरत हारि पर्‌यो रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन ॥२८॥

: ६ :

राम-काव्य

परिचय

भक्ति की जो दो धाराएँ भारतीय भाषाओं में वृद्धिमती हुई उनमें सगुण धारा चिरसचित परम्परा का संरक्षण करती रही, परन्तु निर्गुण धारा ने सहजानुभूति को एकमात्र कसौटी मानकर परम्परा के व्यामोह को छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न किया। भारत का प्राचीन इतिहास परम्पराओं की एक सुन्दर शृंखला है, समय-समय पर काल के कोप से इसमें मल-प्रवेश होता रहा है और उस मालिन्य के निराकरण के निमित्त साबुन के समान अनेक सम्प्रदायों ने बाह्य-शुद्धि के भी प्रयत्न किये हैं; निर्मलक चूर्ण मल-शुद्धि के साथ ही अपना उपयोग खो बैठता है और शृंखला की चमक पूर्ववत् ही अनागत को उज्ज्वल करती रहती है। सांस्कृतिक परम्परा इसी प्रकार अनेक सुधारों से परिपुष्ट और परिपालित होती हुई दृढ़तर होती जाती है। भक्ति के इतिहास में परम्परा के सत्त्व का संकेत 'गुण' शब्द से चिपटा है; जो निर्गुण है वह परम्परा से विच्छिन्न है, वह किसी भी शास्त्र को प्रमाण नहीं मानता, उसके लिए समस्त अतीत असत्य अतः निष्प्रयोजन है; दूसरी ओर सगुण का प्रयत्न परम्परा में विश्वास उत्पन्न करना है—अतीत सत्य है, शास्त्र प्रमाण हैं, भले ही हम उसका आज ठीक अर्थ न समझते हों। सगुण सम्प्रदाय इसीलिए अतीत को मथकर उससे प्रकाश-पुंज प्राप्त करता है, वह समाज, साहित्य, धर्म और शासन सबमें नवीन स्फूर्ति लाकर प्राचीन विश्वासों के प्रति श्रद्धावान् है। निर्गुण सम्प्रदाय खंडन में लगा रहा तो सगुण सम्प्रदाय मंडन की प्रतिज्ञा करके चला। निर्गुण का महत्त्व नेताओं के विकास का मापक है तो सगुण सम्प्रदाय सिद्धान्त पर आश्रित, निर्गुण का जीवन नेताओं के जीवन तक है तो सगुण का राष्ट्रीय चेतना के संचरण तक। हिन्दी का निर्गुण और सगुण काव्य भी इन्हीं निष्कर्षों का समर्थक है।

हिन्दी सगुण सम्प्रदाय की दो साहित्यिक धाराएँ हैं; एक का सम्बन्ध कृष्ण से है; दूसरी का राम से। परम्परा के संरक्षण को दृष्टि में रखकर भक्ति की तीन धाराओं का क्रम निर्गुण—कृष्ण-भक्ति—रामभक्ति होगा या राम-भक्ति—कृष्ण-भक्ति—निर्गुण-भक्ति। कृष्ण-भक्ति, निर्गुण-भक्ति और राम-भक्ति के बीच की वस्तु है क्योंकि कृष्ण का व्यक्तित्व भारतीय इतिहास और लौकिक जीवन का सम्मिश्रित परिणाम है; फलत: कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय पुराणोपजीवी होकर भी वेद-शास्त्र की मर्यादा में अधिक विश्वास नहीं रखता; गोपियाँ और राधा ही नहीं, कृष्ण तक 'आरज-पथ' के त्याग के आदर्श हैं। राम-भक्ति एक तो निर्गुण और सगुण दो प्रकार की है, दूसरे सगुण राम-भक्ति व्यवहार में वेद का कुछ भी अर्थ ग्रहण करे सिद्धान्त-पक्ष में वह वेद शास्त्र की मर्यादा का निरुपाधि पालन करती है। इसे संयोग ही कहा जायगा कि भक्ति-

तुलसीदास

महाकवि तुलसीदास की कम से कम एक दर्जन रचनाएँ प्रामाणिक मानी जाती हैं; इनके चार वर्ग बनाये जा सकते हैं—

(क) गीत साहित्य—रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, तथा जानकीमंगल।

(ख) नीति साहित्य—वैराग्य-सदीपनी, रामाज्ञा-प्रश्न तथा दोहावली।

(ग) अभ्यास साहित्य—बरवै रामायण, कवितावली, गीतावली तथा कृष्ण-गीतावली।

(घ) प्रौढ़ साहित्य—रामचरितमानस तथा विनयपत्रिका।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि तुलसी ने केवल 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' काव्य ही लिखे होते, तो भी वे हिन्दी के ही नहीं आधुनिक भारतीय भाषाओं के सर्वोपरि कवि मान लिये जाते, क्योंकि राष्ट्रीय दृष्टि से वे तब भी कनिष्ठिका-धिष्ठित ही ठहरते, फिर भी उनकी अन्य रचनाएँ निष्प्रयोजन नहीं हैं। तुलसी की इन प्रौढ़तम रचनाओं से पाठक के मन में एक दूसरा प्रश्न भी जगता है कि भावातिरेक तथा कला-सौन्दर्य का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है? सामान्यतः ऐसा समझा जाता है कि हृदय की सचाई सौन्दर्य की अपेक्षा नहीं रखती, अलकारों की योजना किसी अभाव की सम्पूर्ति मात्र है, जो रचना भाव तथा विचार की दृष्टि से हलकी होगी उसको कवि अलकार-मण्डित करके बहुमूल्य बनायेगा। परन्तु तुलसी की ये कृतियाँ कला-सौन्दर्य में भी अपूर्व हैं तथा विचार एवं भाव के अकन में भी अमूल्य, 'विनय-पत्रिका' के वे स्थल जो संस्कृतनिष्ठ भाषा, दीर्घ समास तथा घन अलंकार-भार से आक्रान्त हैं, कवि के उज्ज्वलतम उद्गार हैं, 'मानस' के सुन्दरतम प्रसग रूपकराजि से झिलमिल करते ही दीखते हैं, और तुलसी के 'रामाज्ञा प्रश्न' में न अलकार है न उद्गार। अतः यह संभव है कि अलंकार क्वचित् अभाव की सम्पूर्ति के निमित्त धारण किये गये हों, परन्तु यह सर्वदा आवश्यक नहीं। अस्तु अलकार अभाव का आच्छादन भी करता है और सम्पन्नता का प्रकाशक भी है। तुलसी के काव्य में तो अलंकार और तन्मयता सहचर हैं, प्रायः एक ही गति से संचरण करनेवाले, जहाँ कवि की वाणी मुग्ध होकर आनन्द नृत्य करने लगती है वहाँ उसकी अंगभंगी ही नाना प्रकार के सौन्दर्य का स्फुरण करती हुई दिखाई देती है। सौन्दर्य और भाव के संगम में, लोक-कल्याणार्थ वन को जाते हुए राम और लक्ष्मण के मध्य, सीता के समान भक्ति जन-जन में श्रद्धा और पूजा को जगाती हुई मन को वशीभूत करती रहती है।

तुलसी के व्यक्तित्व की छाप तो किसी न किसी मात्रा में उनकी सभी कृतियों में उपलब्ध है; यदि 'नहछू' के अन्तर्लिप्त सूत्रों की सूक्ष्मता का अनुगमन किया जाय तो 'मानस' और 'पत्रिका' में वे मूर्त्त तथा स्थूल रूप धारण किये हुए मिलेंगे। घोर कलियुग के दुर्दम अत्याचारों से त्रस्त जनता को तुलसी ने राम-नाम की एक अचूक औषधि प्रदान की है, जिसका रोग के अनुसार उचित मात्रा में एकबार सेवन करने से ही दारुण कष्ट का शमन हो जाता है और फिर नियमानुसार सेवन करते रहने पर

आराध्य निस्सन्दिग्ध है। आवश्यकता है केवल श्रद्धा[1] उत्पन्न करने की, जो निरन्तर सत्संगति तथा हरिचरित श्रवण से सम्भव है। इसीलिए तुलसी की घोषणा है कि जो हरिचरित सुनकर तृप्त[2] हो जाते हैं वे उसके रस को नहीं पहिचानते क्योंकि उस रस का पान तो तृषा[3] में वृद्धि करता है, भक्त की कामना यही है कि उसका मन इस रस का मीन[4] बनकर सुखविहार हो जाय। तुलसी ने दूसरे सभी मार्गों को कलियुग में प्रभावहीन पाया और जनता को उन पथों पर भटकते देखकर उसको 'राजपथ'[5] पर लाने के लिए वे उद्यत हुए, कलियुग के प्रवाह में अन्य सभी साधन नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं एकमात्र बच सकता है आधार तो नाम[6] का ही, जो स्वयं राम से भी अधिक[7] कृतकार्य है। गोस्वामी जी समस्त परम्पराओं को स्वीकार करते हैं और उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध कम से कम युगानुकूलता की दृष्टि से राम-नाम से जोड़ देते हैं। यही उनकी रचना का सूक्ष्म सूत्र है जो 'नहछू' से लेकर 'पत्रिका' तक में एक ही प्रकार से अनुस्यूत है।

तुलसी के गीत-काव्य (मंगल गीत) तीन हैं—रामलला नहछू, पार्वती मंगल, तथा जानकी मंगल। यद्यपि तीनों ही मंगल गीत हैं केवल महिलाओं के लिए ग्रामीण अवधी में लिखे गये फिर भी परम्परा को स्वीकार करते हुए स्त्री प्रधान विवाहपरक काव्यों को तो तुलसी ने 'मंगल' काव्य नाम से पुकारा, पर 'नहछू' को मंगलमय मान कर भी इस नाम से वंचित रखा। 'नहछू' सोहर छन्द के ८० चरणों में लिखा हुआ है, यह नखकर्तन के अवसर का आनन्द-गीत ('रसवेलि' तथा 'गारी') है 'दूलह राम' शब्द का प्रयोग होने पर भी यह विवाह के समय की रचना नहीं है कौशल्या राम को गोद[8] में लेकर बैठती है और नाइन स्त्री प्रथम[9] बार नखकर्तन करती है, अत यह 'नहछू' 'रामलला' का है युवक राम का नहीं। इस काव्य में तुलसीदास राम को 'रघुनायक' जानकर उनकी चरण रज को अलभ्य[10] घोषित करते हुए भी उनके माता पिता तथा

१ कलियुग सम जुग आन नहिं, जो नर कर बिस्वास।
गाइ राम-गुन-गन बिमल, भव तर बिनहिं प्रयास। (दोहावली)
२ रामचरित जे सुनत अघाहीं।
रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥ (रामचरितमानस)
३ प्रेमतृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आन॥ (दोहावली)
४ नाम प्रेम-पीयूष ह्रद, तिन्हहुँ किए मन मीन॥ (दोहावली)
५ गुरु कह्यो रामभजन नीको, मोहि लगत राज डगरो सो। (विनयपत्रिका)
६ कलियुग केवल नाम अधारा।
जान लेहि जो जाननिहारा॥ (रामचरितमानस)
७ सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुनगाथ॥ (दोहावली)
८ गोद लिहे कौसल्या बैठी रामहिं वर हो।
९ अति बड़भाग नउनियाँ छुऐ नख हाथ सों हो।
१० सो पगधूरि सिद्ध मुनि दरसन पावइँ हो।

वातावरण में विशिष्टता नहीं लाये; लोहारिनि, अहिरिनि, तँबोलिनि, दरजिनि, मोचिनि, मलिनिया, नउनिया आदि का सामान्य वर्णन तो है ही; राम तथा लक्ष्मण के वर्ण पर भी अनुचित परिहास है—

काहे रामजिउ साँवर, लछिमन गोर हो ?

× × ×

राम अहहिं दशरथ के, लछिमन आनक हो ॥

'मानस' के अन्तर्गत मंगल-संस्कारों का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी राम के विशिष्ट व्यक्तित्व को नहीं भूले, प्रत्युत उनकी भक्ति उन वर्णनों को कहीं भी निर्मुक्त नहीं रहने देती; तब 'नहछू' में उनके इष्टदेव का वातावरण इतना प्राकृत क्यों है ? संभव है 'नहछू' आदि मंगल-गीत ग्रामीण नारी-वर्ग के लिए लिखे गये हैं इसलिए कवि ने स्वकीय व्यक्तित्व को पाठक के उपयोग के समक्ष गौण बनाकर इन कृतियों को सामान्य स्तर का रहने दिया। यदि 'रामलला नहछू' सचमुच 'रामचरितमानस' तथा 'विनय-पत्रिका' के रचयिता की कृति है तो इसमें तुलसी के पूरक व्यक्तित्व का ही परिचय मिलता है उनके विख्यात तुलसीत्व का अनुमोदन नहीं। भाव तथा विचार के समान कला की दृष्टि से भी यह रचना अत्यन्त प्राकृत तथा सामान्य है, 'हरि-चरित' के अन्तर्गत इसको सम्मिलित करना आवश्यक नहीं।

'पार्वती-मंगल' तथा 'जानकी-मंगल' तुलसी के मंगल काव्य हैं; जो इन देवियों के विवाहोत्सव के उल्लास में रचे गये हैं। 'पार्वती-मंगल' पहिले निर्मित हुआ था; 'मानस' के समान इसमें कवि का शिष्टाचार[1] भी है तथा काव्य का उद्देश्य[2] भी; रचना-काल कवि ने स्वयं दे दिया है (सं० १६४३)[3] जय संवत्। आदि से अन्त तक कवि पर कालिदास के 'कुमारसम्भव' का पर्याप्त प्रभाव है; 'मानस' के अन्तर्गत 'प्रसंग से तुलना करने पर 'मंगल' की कथा अधिकांशतः कालिदास के अनुसार ही है, जबकि 'मानस' में कालिदासीय कथा से सुपरिचय होने पर भी पर्याप्त भिन्नता है—विशेषतः पार्वती की परीक्षा तथा मदन-दहन के प्रसंग 'मानस' तथा 'मंगल' में समान नहीं है। 'पार्वती-मंगल' अपने आप में पूर्ण एक गीत है, परन्तु 'मानस' में इसको भक्त-प्रसंग के अन्तर्गत रखकर ही लिखा गया है, 'मंगल' में पार्वती का महत्त्व अधिक है, 'मानस' में शिव का; 'मंगल' का स्तर अति सामान्य है, 'मानस'-प्रसंग साहित्यिक तथा भक्तिपूर्ण है। 'मंगल' में कोई बाह्य सौन्दर्य नहीं है, केवल गीत एवं लय सरल शब्दावली में सिद्धिदायक बन गये हैं। कवि की मति-मृगलोचनी ने प्रेम के कौशेय सूत्र में शिव-पार्वती की गुण-मणियों को गूँथकर एक मंगलहार बनाया है, जिसको हृदय पर

१. कवित-रीति नहिं जानउँ, कवि न कहावउँ।

२. पर-अपवाद-विवाद-विदूषित बानिहिं।
पावनि करउँ सो गाइ भवेस-भवानिहिं॥

३. दे० तुलसी-ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, वक्तव्य, पृष्ठ २।

का वर्णन करते हुए कवि ने कामादिक को भगा देने के लिए राम की दुहाई[1] दी है। इस रचना से सहसा कबीर का स्मरण हो आता है, समस्त ज्ञान[2] को कवि ने सरल भाषा में सुलभ बनाने का प्रयत्न किया है। 'संदीपनी' की अप्रस्तुत सामग्री शास्त्रीय नहीं प्रत्युत लौकिक है, कहीं कवि कृषि-कार्य को अप्रस्तुत बनाता है तो कहीं पर्वत को—

तुलसी यह तनु खेत है, मन वच कर्म किसान।
पाप पुन्य द्वै बीज हैं, बवै सो लवै निदान (५)
अति ऊँचे भूधरनि पर, भुजगन के अस्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद, ऊख अन्न अरु पान। (२६)

कबीर के समान एक स्थान पर कवि भगवान् की महिमा दिखाने में पृथ्वी को कागज, सिन्धु को मसि और वृक्षों की लेखनी बनाकर गणपति को भी असफल पाता है (२५); साधु और कुलीन की तुलना में तुलसी ने साधु को महान् माना है और कुलीन को तुच्छ, क्योंकि वे एक दूसरे के विपरीत हैं—एक का आधार 'नाम' है तो दूसरे का 'मान'—

यह दिन रैन नाम उच्चरै।
वह नित मान अगिनि में जरै।।

'संदीपिनी' सगुण-भक्त या राम-भक्त के लिए नहीं लिखी गई प्रत्युत सन्त-मात्र के लिए ही इसकी रचना हुई है।

'रामाज्ञा प्रश्न' में सात सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में सात-सात सप्तक (अर्थात् सात दोहों का पुंज)। यह शकुन की पुस्तक है इसलिए इसमें काव्य-सौन्दर्य, भाव-राशि या विचारोदधि का प्रश्न ही नहीं आता। भाषा और शैली दोनों ही अत्यन्त सरल और सामान्य स्तर की हैं। रामकथा को शकुन का उत्तर बनाकर कवि ने 'रामाज्ञा प्रश्न' लिखा है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि दोहों में पूर्वापर सम्बन्ध कथा की दृष्टि से भी निहित रहे।

दोहावली तुलसी का वास्तविक नीतिकाव्य है, क्योंकि 'संदीपिनी' में ज्ञान और वैराग्य की बातें थी तथा 'रामाज्ञा प्रश्न' में शकुन की। सम्भवतः 'दोहावली' का संकलन पीछे किसी शिष्य ने किया होगा, क्योंकि यद्यपि इस संग्रह में कुछ दोहे स्वतंत्र भी हैं फिर भी अनेक वे ही हैं जिनका अन्यत्र समावेश है, 'वैराग्य संदीपिनी' 'रामाज्ञा प्रश्न,' और 'रामचरितमानस' तीनों से दोहों का संग्रह किया गया है। यदि दोहों की की संख्या ७०० के आस-पास होती तो इस संग्रह को 'सतसई' नाम मिल जाता, परन्तु वर्तमान सीमाओं में तो 'कवितावली', 'गीतावली' के समान यह 'दोहावली' ही है। ५७३ में से २३ सोरठे हैं और ५५० दोहे। विषय की दृष्टि से दोहावली के दोहों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है—नीति के दोहे, भक्ति के दोहे और कलि के दोहे। नीति के दोहे तुलसी ने बहुत लिखे हैं परन्तु ये रहीम के दोहों के समान लोकप्रिय या सहज नहीं हैं, उनकी समानता भी कबीर के दोहों से अधिक है, कहीं कवि ने माया-

१. फिरी दुहाई राम की, गे कामादिक भाजि।
२. यह बिराग-संदीपिनी, अखिल ज्ञान को सार।

अविरत संन्यासी को भांड़[1] के समान बताया है जो यहाँ भूत प्रेत की पूजा करनेवाले को गणिका का पुत्र[2] कह दिया है, भगवान जिनसे विमुख हैं वह वर्षा के गोबर[3] के समान है, कपटी लोग मयूर[4] के समान हैं और नीच को पतंग[5] के समान तुलसी ने माना है। इन दोहों में अप्रस्तुत सामग्री की समानता अधिक न होने पर भी कुछ स्थलों पर मौलिक तथा रोचक है। उदाहरण के लिए कवि ने संन्यास में जाकर फिर विषय में लिपटने वाली मति को चिता से भगनेवाली पश्चात्तापरत सती के समान बताया है—

परमारथ-पहिचानि-मति, लसति विषय लपटानि ।
निकसि चिता ते अधजरित, मानहुँ सती परानि ॥२५३॥

सती होना अनिवार्य नहीं है परन्तु एक बार चिता में प्रवेश करके फिर संसार के आकर्षण से दुर्बल बनकर सतीत्व से डिग जाना महापातक एवं परम निन्द्य कर्म है, इसी प्रकार संन्यास की भावना करके फिर विषयों की ओर दौड़ना गर्हित तथा हेय है, कबीर ईश्वर में लिप्त आत्मा को सती बताया करते थे और संसार लिप्त जीवात्मा को भरतार से छिपकर व्यभिचार करने वाली, तुलसी ने भी मति को नारी माना है—यदि वह ईश्वर में लिप्त है तो सती है, यदि वह विषयों से आकृष्ट होती है तो असती है। तुलसी की दृष्टि इस अप्रस्तुत योजना में अधिक सूक्ष्म तथा अधिक प्रभावशालिनी है। कबीर ने आशा-तृष्णा को दुःख का मूल माना है, तुलसी भी इसी बात को दूसरी प्रकार से कहते हैं, अन्य देवता सेवा करने पर मंगल और हर्ष प्रदान करते हैं परन्तु आशादेवी सेवक को दुःख देती है और प्रतिकूल को सुख, कैसा निराला व्यवहार है उनका—

तुलसी अद्भुत देवता आसादेवी नाम ।
सेए सोक समर्पई, विमुख भये अभिराम ॥ (२५८)

भक्ति के क्षेत्र में चातक सम्बन्धी दोहे तुलसी के भगवत्प्रेम का आदर्श हैं, अपनी तृषा में वृद्धि करके साभिमान लोक हितार्थ याचना करने वाला चातक धन्य है। तुलसी की भक्ति रामनाम का अन्तः और बाह्य प्रकाश[6] है निर्गुण केवल ध्यान की वस्तु है और सगुण केवल दर्शन की, परन्तु जिह्वा के लिए तो संजीवनी राम-नाम[7] ही है। ज्ञान भक्ति श्रद्धा आदि के विषय इन दोहों में वर्णित हैं नारी को माया का प्रधान रूप मानकर उससे बचने के लिए कवि ने सत्संग की औषधि बताई है, वह

---

१ मूड़ मुड़ायो बादि ही, भांड़ भयो तजि गेह ॥६३॥
२ भूत फजीहति होहिंगे गनिका के से पूत ॥६५॥
३ बरषा को गोबर भयो, को चहै, को कर प्रीति ॥७३॥
४ अब के लोग मयूर ज्यों, क्यों मिलिये मन खोलि ॥३३२॥
५ नीच गुड़ी ज्यों जानिबो सुनि लखि तुलसीदास ॥४०१॥
६ रामनाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहिरो, जो चाहसि उजियार ॥ (६)
७ हिय निर्गुन, नयनहि सगुन, रसना राम सुनाम ॥ (७)

राम-स्नेह में विश्वास नहीं करता क्योंकि सम-स्नेह विष के समान[1] है। तुलसी के मत में राम की भक्ति ही एकमात्र इहलोक एवं परलोक के बनाने का साधन है, वर्षा के समान समस्त वनस्पति रूपी लोक को फलदायक है, रामनाम के दोनों वर्ण क्रमशः श्रावण और भाद्रपद मास[2] हैं। जो इन्द्रिय रामनाम के उपयोग में नहीं लगती वह निरर्थक तथा अभागी है—वह रसना साँप के समान है या दादुर की जिह्वा के समान है जिससे रामनाम नहीं निकलता, वह मुख साँप के विवर[3] के समान है जिससे राम-नाम का उच्चारण नहीं होता। इन दोहों में सगुण भक्ति का ही आग्रह न करके कवि ने सामान्यतः भक्ति और विशेषतः राम-भक्ति का अनुरोध किया है; ये दोहे सन्त-मात्र के लिए भी ग्राह्य हैं; पौराणिक सामग्री तथा परम्परा की निधि यहाँ भी उपेक्षित रही है।

कलि-वर्णन के दोहों में तुलसी की साम्प्रदायिक भावना 'कवितावली' और 'रामचरितमानस' के समान ही स्पष्टतः अभिव्यक्त हुई है। कलियुग में ब्रह्म-ज्ञान का ऐसा प्रवाह-सा आया था कि जो लोग एक-एक कौड़ी के लिए विप्र और गुरु को मारने में भी नहीं हिचकिचाते थे वे भी ब्रह्म-ज्ञान के बिना[4] दूसरी बात नहीं करते थे; शूद्र लोग ब्राह्मणों को फटकारकर कहते थे कि हम तुमसे किस बात में कम[5] हैं। जो लोग अशुभ वेष धारण करते थे और अभक्ष्य[6] वस्तु खाते थे उन योगी और सिद्धों की भी जनता पूजा करती थी। लोगों ने श्रुतिसम्मत[7] भक्तिपथ को छोड़कर अपने-अपने अहंकार से अनेक कुपंथों की कल्पना[8] की और अलख[9] जगाते हुए वेद-पुराणों की निन्दा करके वे 'साखी', 'सबदी' और 'दोहरे' रचकर कहानी-उपाख्यानों[10] के द्वारा एक अद्भुत

---

१. घी लघु के बड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोइ।
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस मिले महाविष होइ ॥ ३२३ ॥
२. बरषाऋतु रघुपति-भगति तुलसी सालि सुदास।
रामनाम बर बरन जुग सावन भादौं मास ॥ २५ ॥
३. रसना साँपिन, बदन बिल, जे न जपहिं हरिनाम ॥ ४० ॥
४. ब्रह्म-ज्ञान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि ते मोह बस करहिं विप्र-गुरु-घात ॥ ५५२ ॥
५. बादहिं सूद्र द्विजन संग हम तुम तें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सुविप्रवर, आँखि दिखावहिं डाँटि ॥ ५५३ ॥
६. असुभ वेष भूसन धरें भच्छ अभच्छ जे खाँहि।
ते जोगी ते सिद्ध नर, पूजित कलिजुग माँहि ॥ ५५० ॥
७. श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संजुत विरति विवेक ॥ ५५५ ॥
८. सकल धरम विपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपंथ ॥ ५५६ ॥
९. तुलसी अलखहिं का लखहि राम नाम जपु नीच ॥ १९ ॥
१०. साखी सबदी दोहरा कहि कहिनी उपखान ॥
भगति निरूपहिं भगत कलि, निन्दहिं बेद पुरान ॥ ५५४ ॥

भक्ति का निरूपण करने लगे। दुष्टों का उस समाज में सम्मान होता था और बढ़-बढ़ कर बातें करने वाले ही वक्ता कहलाते थे। अन्याय और तर्क का साम्राज्य था, जो लोग पातक के एक कण भी न छूते थे वे बलि, हरिश्चन्द्र, कर्ण और दधीचि[1] की निम्नकोटि निन्दा करते थे। वेदों की निन्दा पाखण्ड था किन्तु वेद की महिमा को भूलकर तथाकथित सन्यासी उसकी निन्दा करते थे। उनको यह ध्यान नहीं था कि वेद की निन्दा करने से ही अवतारी बुद्ध[2] भी निन्दित हुए अथवा सद्वृत्ति न्याय न। लोग बहराइच में जाकर और असम्भव सिद्धियों के लिए इस्लामी[3] तीर्थों की यात्रा करते थे। वस्तुतः दोहावली के ये दोहे उस काल का जितना सच्चा संकेत देते हैं उतना 'रामचरितमानस' के वे प्रसंग नहीं, क्योंकि इन दोहों में कलियुग का पौराणिक वर्णन नहीं है बल्कि यथार्थ चित्र है। एक ओर लोक कहानियाँ लिखने वाले सूफी कवि योगी और सिद्धों के पाखण्ड[4] का प्रचार करते हैं दूसरी ओर तुलसी उनके मिथ्या प्रचार को चुनौती देते हैं। एक ओर अन्धकारी नाथ हैं दूसरी ओर विश्वासी संत। कभी-कभी तुलसी कलियुग के कुपथ कुतर्क कुचालि कपट दम्भ और पाखण्ड[5] का प्रत्याख्यान करते हैं और कभी शान्त होकर रामनाम और गंगाजल[6] का सहारा ही शान्ति का आधार मान लेते हैं।

गीत-साहित्य और नीति-साहित्य में तुलसी के व्यक्तित्व का पूरक रूप ही अधिक उपलब्ध है। काव्य सौन्दर्य अल्पमात्र तथा अप्रस्तुत योजना सामान्य कोटि की है। सम्भवतः उस समय तक तुलसी का न विचारक का रूप विकसित हुआ था और न

---

१ ठाढ़ो द्वार न दै सकै तुलसी जे नर नीच।
निन्दहिं बलि हरिचन्द को, का कियो करण दधीचि ॥ ३८२ ॥

२ अतुलित महिमा वेद की तुलसी किये विचार।
जो निन्दत निन्दित भयो विदित बुद्ध अवतार ॥ ४६४ ॥

३ लही आँख कब आँधरे, बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय ॥ ४९६ ॥

४ तुलसी के प्रत्याख्यान को 'चित्रावली' की निम्नलिखित पंक्तियों की छाया में देखिए। पाखण्डियों के कथन से जिन वरदानों की प्राप्ति होती है तुलसी में उन्हीं का खंडन है—
सागर गाँव सिद्ध एक आवा।
मुख देखत मन इच्छा पुरावा॥
कुष्टी कया, बाँझ सुत पावै।
अंधहि चखु दै जग दरसावै॥ (उसमान)
लही आँख कब आँधरे, बाँझ पूत कब ल्याय ?
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय॥ (तुलसी)

५ कुपथ कुतरक कुचालि कलि, कपट दम्भ पाखण्ड ॥५६५॥

६ तुलसी उभय अधार, रामनाम सुरसरि-सलिल ॥५६६॥

कवि,कर; अप्रस्तुत सामग्री के लिए वे शास्त्र तक न पहुँचते थे अनुभव तथा प्रत्यक्ष में सीमित थे, उस समय तक उनका साहित्य सामान्य सन्त-साहित्य या निर्गुण-साहित्य से नितान्त भिन्न प्रकार का नही है। फिर भी, जैसा हम ऊपर कह चुके है, उनके व्यक्तित्व के सूक्ष्म सूत्र उन रचनाओ में खोजे जा सकते है, क्योकि गीत-साहित्य तथा नीति-साहित्य अभ्यास-साहित्य तथा प्रौढ-साहित्य का विरोधी नही है, पूरक है। यह आवश्यक नही कि समस्त अभ्यास-साहित्य तथा प्रौढ-साहित्य उत्तरकालीन रचना हो और समस्त गीत-साहित्य तथा नीति-साहित्य पूर्वकालीन, कुछ अंश या कृतियाँ सम-कालीन भी हो सकती हैं, फिर भी दो पूरक व्यक्तित्वो का सहभाव सभव है। कम से कम अप्रस्तुत सामग्री हमको इन्ही निष्कर्षो के लिए बाध्य करती है। तुलसी की रच-नाएँ सामान्य तथा साहित्यिक दो वर्गो की तो है ही।

अभ्यास-साहित्य और प्रौढ-साहित्य मे तुलसी का कवि-रूप उपलब्ध होता है; इनकी रचना सामान्य जनता के ही लिए नही हुई। 'बरवै रामायण', 'कवितावली', 'गीतावली' तथा 'श्रीकृष्ण गीतावली' कवि-रूप की अनुयुक्त रचनाएँ है; इनमें प्रौढ रचनाओ के समान ही अप्रस्तुत सामग्री मिलती है, भले ही वह उस कोटि की न हो। 'मानस' में कवि ने 'कवि न होउँ'[1] कहकर जो शिष्टाचार दिखाया था उसका यही अभिप्राय है कि वे 'आखर अरथ अलंकृति नाना' को ही 'कवित विवेक' मानते थे, फलत. इन काव्यमयी रचनाओ में सौन्दर्य की अमित राशि बिखरी पडी है। तुलसी की विशे-षता यह है कि उनके काव्य मे विचार, भाव तथा कला की त्रिवेणी है, अलग-अलग प्रवाह नही, अतः जो सगम विचार-सुरसरि से पावन तथा भाव-तरिणजा से मधुर है वे ही सरस्वती से विभावित भी हैं। उत्तरकालीन आचार्य जिस प्रकार तुलसी में समस्त दर्शन तथा अखिल रसशास्त्र के उदाहरण लेकर तद्विषयक पुस्तक लिखते रहे है उसी प्रकार कतिपय आचार्य[2] सौन्दर्य-शास्त्र की शिक्षा केवल तुलसी के उदाहरणो से ही देते रहे है। अभ्यास-साहित्य की सौन्दर्यराशि प्रौढ-साहित्य मे भी मिल जाती है, और अधिक परिष्कृत रूप में, अत. यदि प्रौढ-साहित्य पर ही विचार कर लिया जाय तो अभ्यास-साहित्य की उपेक्षा खटकती नही, अभ्यास-साहित्य की मौलिक विशेषताएँ बहुत कम है। ध्यान रखना होगा कि गोस्वामीजी ने 'मानस' में काव्य-सौन्दर्य का कथन 'उपमा-बीचि बिलास मनोरम' द्वारा किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि वे

---

१. कवि न होउँ नहि बचन-प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या-हीनू॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक बिधाना॥
भाव-भेद रस-भेद अपारा। कबित दोष-गुन बिबिध प्रकारा॥
कवित-विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥

२. सरदार कवि ने 'मानस-रहस्य' तथा रसरूप ने 'तुलसी-भूषण' नामक कृति में तुलसी की रचनाओं (विशेषतः 'रामचरितमानस') से समस्त उदाहरण लेकर अलंकार-विवेचन किया है।

सादृश्यमूलक अलंकार या उपमा[1] को सौन्दर्य का सार मानते थे, उनकी कला में सादृश्य का ही सौन्दर्य मुख्य है। प्रस्तुत वर्णन में कवि ने प्रभावशाली साधर्म्य के लिए जो अप्रस्तुत जुटाये हैं उनमें ही उसका कौशल है। यद्यपि अधिकांश अप्रस्तुत पर म्परा से आये हैं फिर भी उनका ग्रहण कवि का सूक्ष्मदृष्टि का द्योतक है। गोस्वामी जी का उद्देश्य मानव में सुधार था वे उसे आस्तिक तथा श्रद्धालु भक्त बनाना चाहते थे। इसलिए समस्त साहित्य में व ऐसी अप्रस्तुत सामग्री लाये हैं जो पाठक के मन में श्रद्धा की भावना जगाकर उसको निरुपाधि भक्त बना सके, सूक्ष्म मनोवृत्तियों को प्रभावित करने में प्रस्तुत की अपेक्षा अप्रस्तुत अधिक समर्थ है।

बरवै रामायण, कवितावली' 'गीतावली' तथा 'कृष्ण-गीतावली' तुलसीदास की रचनाएँ तो हैं परन्तु इनका वर्तमान रूप तुलसी का दिया हुआ नहीं है। हमारा अनुमान है कि गोस्वामी जी समय समय पर उमंग में जो रचना किया करते थे उसका विषयानुसार पुस्तकीकरण किसी मित्र या शिष्य ने कर लिया है। क्योंकि यह संभव नहीं कि तुलसी जैसा भक्त महात्मा किसी भी पुस्तक का प्रारम्भ मंगलाचरण या वंदना के बिना करे या तुलसी जैसे कवीश्वर से कथा में अनुपात की अवहेलना हो जाय। 'मानस' तथा 'पत्रिका' से इन प्रन्यास रचनाओं का भाव-साम्य तथा अप्रस्तुत सादृश्य देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि 'कवितावली' आदि के किस स्थल की रचना 'मानस' तथा 'पत्रिका' के किस स्थल के समकाल हुई है। 'बरवै रामायण' में केवल ६६ बरवै छन्द हैं फिर भी यह सात काण्डों में विभक्त है— किष्किंधा-काण्ड (२ बरवै) तथा लंका-काण्ड (१ बरवै) का निर्माण खींच-तान से ही हुआ है, क्योंकि उनके अन्तर्गत रखे गये बरवै छन्दों में उन काण्डों की कोई कथा नहीं है प्रत्युत राम की महिमा या प्रशंसा है। अलंकार का जैसा सामान्य चमत्कार इस पुस्तक में है वैसा तुलसी की प्रौढ़ रचनाओं में नहीं। प्रथम तो 'बरवै रामायण' में उन अलंकारों का बाहुल्य है जिनकी मानस आदि में उपेक्षा है, दूसरे दोनों प्रकार के साहित्य में सौन्दर्य-सामग्री का पर्याप्त भेद है। बरवै रामायण' में चमत्कार यानी अलंकार अधिक हैं जो साहित्यिक परम्परा का फल है सांस्कृतिक दृष्टि का नहीं। उत्तरकाण्ड (२७ बरवै) का विषय तो राम-महिमा है शेष काण्डों में ध्यान देने की पहिली बात कष्टालंकार दूसरी स्मरण सौन्दर्य-सामग्री तथा तीसरी अनुचित शृंगारी भाव हैं। कष्टालंकार में गर्व से प्रतिद्वंद्विता वाले दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

(क) कुजन-पाल, गुन वर्जित, अकुल, अनाथ।
कहहु कृपानिधि राउर कस गुनगाथ ॥३५॥
(ख) विविध बाहिनी बिलसति सहित अनंत।
जलधि सरिस को कहै राम भगवन्त ॥४२॥

---

[1] दे० हमारा लेख "साधर्म्य अथवा उपमा" (भावना और समीक्षा' पृ० १८४)

युगानुरूप स्त्रैण सौन्दर्य-सामग्री के उदाहरण अनेक हैं—

(क) कनक सलाक, कलासिसि, दीपसिखाउ।
तारा, सिय कहँ लछिमन, मोहिं बताउ ॥३१॥

(ख) अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ ॥३८॥

ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मण राम के नर्म-सहचर हैं, और राम कोई विलासी शासक। एक बार सीता और राम जब विलास-कक्ष में पहुँच गये तो सखियाँ उनकी उनींदी आँखों का बहाना बनाकर अपने-अपने घर को चली गई—

उठी सखी हँसि मिस करि, कहि मृदु बैन।
सिय रघुवर के भए, उनींदे नैन ॥१८॥

इस अनुचित शृंगारी भाव से एक साथ ही बिहारी के दो दोहे याद आ जाते हैं—

(क) पति रति की बतियाँ कहीं, सखी लखी मुसकाइ।
कै कै सबै टलाटलीं, अलीं चलीं सुखु पाइ ॥ २४ ॥

(ख) झुकि-झुकि झपकौंहे पलनु, फिरि-फिरि जुरि, जमुहाइ।
बींदि पियागम, नींद-मिसि, दीं सब अली उठाइ ॥५८६॥

पता नहीं, मानस-कार तुलसी ने 'रामभगति' के स्थान पर विषय-भोग की ये बातें कैसे लिख दी? क्या ये पंक्तियाँ इस बात का पर्याप्त प्रमाण नहीं कि 'बरवै रामायण' गोस्वामी तुलसीदास की रचना नहीं है—भले ही किसी अन्य तुलसी का काव्य हो। उत्तरकाण्ड के २७ बरवै छन्दों में से २५ में तुलसी का नाम है, परन्तु शेष (शृंगारी या रसमय) ४२ में से केवल ४ में ही। क्या दो तुलसी-कवियों की रचनाएँ आपस में मिल नहीं गई हैं?

'कवितावली' में मंगलाचरण का अभाव तथा कथा की विषमता ये दो पीन दोष तो अभ्यास-साहित्य की अन्य रचनाओं के समान ही हैं; इसके अरण्यकाण्ड में केवल एक सवैया तथा किष्किंधाकाण्ड में केवल एक कवित्त है। शेष ५ काण्डों में से चार में रामायण की कथा है और उत्तरकाण्ड में कलि-वर्णन आदि विविध विषय। 'कविता-वली' ब्रजभाषा में लिखी गई है; 'हनुमान बाहुक' भी इसी का अंग माना जाता है; कवित्त, सवैया, छप्पय तथा झूलना छन्द इसमें व्यवहृत हुए हैं। निश्चय ही इसके दो स्वतन्त्र भाग हैं—रामकथा तथा संग्रह-कवित्त। रामकथा के बालकाण्ड में २२, अयोध्या-काण्ड में २८, अरण्य में १, किष्किंधा में १, सुन्दरकाण्ड में ३२ तथा लंकाकाण्ड में ५८ छन्द हैं; यदि 'हनुमान बाहुक' के ४४ छन्दों को अलग कर लें तो 'कवितावली' के उत्तरकाण्ड में १८३ छन्द बचते हैं जो रामकथा के सभी छन्दों की योग-संख्या से भी काफ़ी अधिक हैं। अस्तु, 'कवितावली' का मुख्य विषय रामकथा मात्र नहीं माना जा सकता, और जिस पुस्तक में तुल्य-बल के एक से अधिक विषय हो उसे प्रबन्ध ही नहीं मुक्तक-काव्य भी न कहेंगे—वह तो संग्रह-मात्र है। 'कवितावली' में ध्यान देने की दूसरी बात कवित्त और सवैयों के अन्तिम चरण हैं; जब एक से अधिक छन्दों के अन्तिम चरण बिलकुल एक ही पाये जाते हैं तो हम उन चरणों को समस्या तथा उस रचना

को समस्या-पूर्ति का परिणाम मानने को बाध्य होते हैं। इसीलिए 'कवितावली' को हमने प्रभाग-साहित्य में स्थान दिया है। 'कवितावली' की रामकथा में दो प्रभाव मुख्य हैं, एक वीरकाव्य-परम्परा का और दूसरा ब्रजभाषा-साहित्य का। वीर, भयानक, अद्भुत और हास्यरस इसीलिए इस रचना में उद्भासित हुए हैं कि तुलसी से पूर्व कवित्त और छप्पय छन्दों के माध्यम से इन रसों की कविता हिन्दी वीरकाव्य-परम्परा में होती चली आ रही थी, सुन्दरकाण्ड और लंकाकाण्ड में लंकादहन और राम रावण-युद्ध का जो रोमांचकारी वर्णन कवि ने किया है उसमें वीरकाव्य-परम्परा की वर्णन रूढ़ियाँ उपलब्ध हैं सुन्दरकाण्ड में हनुमान का कौतुक, यातुधान और यातुधानियों की आकुलता, रानियों का विलाप और बालकों का मनोरंजन स्मरणीय है, इसी प्रकार लंकाकाण्ड में हाथी घोड़ों की मुठभेड़ राक्षसियों के गर्भपात युद्ध-स्थल, लाश, शोणित और अंतड़ियों से जोगिनी भूत बैताल आदि की क्रीड़ा सब कुछ कवि-समय सिद्ध है। ब्रजभाषा के कारण बालकाण्ड और अयोध्याकाण्ड में ग्रामवधुओं के उद्गार बड़े मनोहर बन गये हैं, जिस प्रकार ब्रज की गोपियाँ बालकृष्ण और युवक कृष्ण के रूप को देखकर तन्मय हो जाती थीं उसी प्रकार अयोध्या के 'लोग लुगाई' अवधेश के चार बच्चों को देखकर तो धन्य हुए ही 'सतभाय'[1] से उनको वन जाते देखकर भी अपने तन और मन की सुध खो बैठे, परिस्थिति भेद से कृष्ण-काव्य और राम काव्य के प्रसंग में ग्राम-वधूटियों के उद्गार भिन्न होते हुए भी तुलसी पर ब्रज-साहित्य की इस छाप का प्रत्यक्ष प्रमाण है यह समस्त प्रसंग अत्यन्त ही स्वाभाविक तथा ग्रामीण है इसमें राम का राजन्य काव्य परम्परा में घुलकर लुप्त हो गया है, सौन्दर्य सामग्री भी सरल एवं लौकिक है शास्त्रीय और दिव्य नहीं। परन्तु कवितावली की रामकथा यद्यपि छः काण्डों में विभक्त होने पर भी केवल चार काण्डों का ही समझना चाहिए (तीसरे और चौथे अरण्य तथा किष्किंधाकाण्ड तो एक एक छन्द-मात्र हैं), प्रथम दो काण्ड ब्रजभाषा काव्य-परम्परा में वात्सल्य तथा उज्ज्वल रस की कोमल सामग्री से तथा अन्तिम दो काण्ड वीरकाव्य परम्परा में कठोर रसों की सामग्री से निर्मित हुए हैं।

'हनुमान बाहुक' का प्रसंग बाहु की पीर[2] से मुक्ति पाने के लिए तुलसी द्वारा ४४ छन्दों में लिखा गया है प्रत्येक छन्द (छप्पय, झूलना, घनाक्षरी या मत्तगयन्द) अपने आप में पूर्ण है तथा हनुमान जी से कष्ट निवारण की प्रार्थना करता है। कवितावली का उत्तरार्द्ध अर्थात् आधे से अधिक भाग उत्तरकाण्ड, पूर्वार्द्ध की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसमें कलि-वर्णन दोहावली की कोटि का है 'रामचरितमानस' जैसा नहीं साथ ही 'दोहावली'-अन्तर्भूत वर्णन की अपेक्षा अधिक विस्तृत, स्पष्ट तथा सूचनात्मक है; कवि ने अपने विषय में केवल इसी पुस्तक में लिखा है। अतः कलि वर्णन के तीन भाग

---

१ जिन देखे, सखी ! सतभायहु तें, तुलसी तिन तौ मन फेरि न पाए ॥२४॥
(अयोध्याकाण्ड)

२ आन हनुमान की, दोहाई बलवान की,
सपथ महावीर की, जो रहै पीर बाँह की ॥२६॥

हुए—भक्ति-भाव, स्व-जीवन तथा समाज-वर्णन। भक्ति-भाव के छंदों में वे ही भाव हैं जो 'विनय-पत्रिका' में सन्निविष्ट[1] हैं और 'दोहावली'[2] में आ गये हैं; संसार के दुःख और यातना से सन्तप्त जीव को तुलसीदास ने अशरण-शरण, अकारण-दयालु, जानकी-जीवन की निरुपाधि भक्ति का उपदेश दिया है, जिनकी कृपा का कोई अर्थ नहीं उनकी सेवा से क्या लाभ[3], सेवा उसकी करनी चाहिये जो सब प्रकार से समर्थ[4] है; अनुमान से जान पड़ता है कि तुलसी ने नर की सेवा[5] का तिरस्कार करके नारायण की सेवा पर जोर दिया है क्योंकि उस समय के शासक इतने हीन थे कि उनके आश्रय में बुराइयाँ पनपती थी भलाइयाँ नहीं। आत्मकथा या स्व-जीवन के छन्दों में कुछ तो ऐसे हैं जो निश्चय ही कवि ने प्रतिनिधि रूप से रचे हैं, उनमें तुलसी की जीवनी निहित नहीं है; जैसे—

(क) जनि डोलहि लोलुप कूकर ज्यों, तुलसी भजु कोसलराजहि रे ॥ ३० ॥
(ख) तुलसी यह जानि हिये अपने सपने नहिं कालहुँ ते डरिहै ॥ ४७ ॥
(ग) मो सों दगावाज दूसरो न जगजाल है ॥ ६५ ॥
(घ) सब अंग-हीन, सब साधन-विहीन, मन
 बचन मलीन, हीन कुल करतूति हौं ॥ ६६ ॥

दूसरे स्थल ऐसे हैं जिनमें विद्वानों ने कवि की जीवनी का स्पष्ट संकेत माना है; 'मातु पिता जग जाय तज्यो' (५७), 'चाकरी न आकरी न खेती न बनिज भीख' (६७), 'जायो कुल मंगन' (७३), 'धूत कहौ अवधूत कहौं' (१०६), 'मेरे जाति पाँति, न' (१०७), आदि छन्दों में व्यक्तिगत संकेत अभिव्यक्ति पा गये हैं परन्तु इस अभिव्यक्ति का कारण भक्ति-प्राबल्य है, आत्मरति नहीं। समाज का वर्णन तुलसी ने प्रायः 'दोहा-वली' के समान ही यहाँ भी किया है, 'बरन धरम गयो, आस्रम निवास तज्यो' (८४) 'कलि में न बिराग न ज्ञान कहूँ' (८६), 'पेट को पढ़त गुन गढ़त' (९६), 'खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि' (९७), आगम बेद पुरान बखानत' (१०५), 'बीसी बिस्वनाथ की बिषाद बड़ो बारानसी' (१७०), 'कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की' (१७७)। कवि ने केवल दो नए संकेत किये हैं, विश्वनाथ की बीसी का और मीन की सनीचरी का, सम्भवतः 'दोहावली' की रचना इन घटनाओं से पूर्व ही हो चुकी होगी। 'कवितावली' विशेषतः उसके उत्तरार्द्ध का ऐतिहासिक मूल्य है कलात्मक नहीं, इस अंश में तुलसी का कवित्व कोई भी नया सौन्दर्य प्रस्तुत नहीं करता, तथ्यों की मरुभूमि में सौंदर्य की स्रोतस्विनी अन्तस्सलिला बन गई है, प्रकट होकर उसने प्रान्तरभूमि को समृद्ध नहीं बनाया।

'विनय-पत्रिका' के अतिरिक्त तुलसी ने व्रजभाषा में जो पद लिखे हैं उनको

---

१. जैसे सवैया १५३।
२. जैसे घनाक्षरी ९९ और सवैया १०५।
३. कृपा जिनकी कछु काजु नहीं, न अकाजु कछू जिनके मुख मोरे ॥४८॥
४. को भरि है हरि के रितये, रितवै पुनि को हरि जौ भरि है ॥४७॥
५. जग में गति जाहि जगत्पति की, परवाह है ताहि कहा नर की ॥२७॥

कथावस्तु की दृष्टि से 'श्रीराम गीतावली' (अथवा 'गीतावली') और 'श्रीकृष्ण गीतावली' नाम से सकलित किया गया है, ये दोनों रचनाएँ भी प्रबन्धाकार नहीं लिखी गईं और गीत-काव्य में भी जिस योजना की अपेक्षा रहती है उसका इनमें अभाव है। 'श्रीराम-गीतावली' पर सूर का प्रभाव है या नहीं, परन्तु 'श्रीकृष्ण-गीतावली' पर इस निर्विवाद रूप से स्वीकार करना चाहिये। 'श्रीकृष्ण गीतावली' में केवल ६१ पद हैं, जिनमें कोई योजना नहीं मिलती परन्तु कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। प्रारम्भ के पद एकदम बाल-लीला के हैं फिर गोपियों का विरह और उद्धव-सम्वाद है अन्त में न जाने क्या द्रौपदी चीर-हरण के तीन पद लिखे हुए हैं। यदि इन अन्तिम तीन पदों पर विचार न करें तो 'श्रीकृष्ण गीतावली' में वात्सल्य और वियोग शृंगार के पद ही हैं तुलसी की दृष्टि में वात्सल्य भाव और माधुर्य भाव भक्ति में अन्तर्गत ही आते हैं। सूरसागर को पढ़ने के बाद 'श्रीकृष्ण-गीतावली' में कोई नयापन नहीं लगता, प्रायः सूर ही के भावों को साहित्यिक एवं मर्यादापूर्ण शैली में तुलसी ने अभिव्यक्त किया है। अनेक पदों को पढ़कर यह निश्चित होने लगता है कि सूर के भावों पर मुग्ध होकर तुलसी के मुख से जो सरस्वती प्रकट हुई वह किंचित परिवर्तित वेष में सूर की ही वाणी है, निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

(क) बिसरत श्री ब्रजराज आजु इन नयनन की परतीति गई।
उड़ि न लगे हरि संग सहज तजि, ह्वै न गए सखि स्याम मई ॥२४॥

(ख) कौन सखि नई चाह सुनि आई।
यह ब्रज भूमि सकल सुरपति सों मदन मिलिक करि पाई ॥३२॥

(ग) ऊधो या ब्रज की दसा बिचारो।
ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोग कथा बिस्तारो ॥३३॥

(घ) मधुकर ! काहे कहा ते न तोहो।
कै मैं नई सिखी सिखई हरि निज अनुराग बिछोहों ॥४१॥

(ङ) ताकी सिख ब्रज न सुनैगो कोउ भोरे।
जाकी कहनि रहनि अनमिल, अलि सुनत समुझियत थोरे ॥४४॥

तुलसी की भाषा साहित्यिक है। उनके भाव 'कुब्जा' और 'दावरी' का वर्णन करते हुए भी मर्यादापूर्ण हैं संयोग शृंगार और रासलीला का एक भी प्रसंग नहीं है, साहित्यिक सौन्दर्य के नाम पर उत्प्रेक्षा अलकार के कुछ थोड़े से चमत्कार ही प्राप्त हैं, तुलसी ने कृष्ण कथा के व्याज से 'निठुरता अरु नेह' की कठिन गति का भक्तिपूर्वक वर्णन कर दिया है।

'श्रीरामगीतावली' में राम-कथा का मानस के अनुसार ही सात काण्डों में वर्णन है बालकाण्ड का नाम नहीं लिखा परन्तु उसमें १०८ पद हैं अयोध्याकाण्ड में ८९ अरण्यकाण्ड में १७ किष्किन्धाकाण्ड में २, सुन्दरकाण्ड में ५१, लंकाकाण्ड में २३ और उत्तरकाण्ड में ३८ पद मिलते हैं। 'कवितावली' के समान 'गीतावली' भी रामकथात्मक पद्य का संकलन कहा जा सकता है, मुख्य अन्तर लंकाकाण्ड और उत्तर काण्ड के विस्तार में है। 'कवितावली' में वीरकाव्य की प्रणाली पर लंकाकाण्ड का

अत्यधिक विस्तार है परन्तु पद-शैली में इसकी सम्भावना न थी, कवितावली का उत्तर-काण्ड कथा-बाह्य सामग्री से निर्मित था; 'गीतावली' में इस काण्ड को रामकथा का उपसंहार समझना चाहिए, बालकाण्ड और अयोध्याकाण्ड 'कवितावली' और 'गीतावली' में वात्सल्य और शृंगार के भक्ति-प्रवण कोमल रसों से पूर्णतः सुसज्जित है। अरण्यकाण्ड और किष्किन्धाकाण्ड दोनों का विस्तार कवितावली और गीतावली में एक-सा ही है। बालकाण्ड में बाललीला की अपेक्षा लोक-रीति और वेद-विधि का वर्णन करते-करते कवि ने जिस उल्लास के साथ वैभव का वर्णन किया है वह अद्भुत है, गलियों में कुंकुम की कीच हो रही है, आकाश में अगर और अबीर उड़ रहा है, वेदध्वनि और दुंदुभि-नाद से समस्त नभ गुंजित है, सुर, किन्नर, गन्धर्व और विबुध मंगल गान कर रहे हैं। बालकाण्ड में आनन्द-बधावन के अनन्तर थोड़ी देर के लिए शिशु की लीला और बालरूप का वर्णन है, एक पद में तो बिलकुल सूर का अनुकरण लगता है—रघुवर-बाल-छवि कहौं बरनि (२४)। छोटे-छोटे साधर्म्य आकर्षक हैं, कहीं दसरथ के सुकृत रूपी पादपों में रूप की कोपलें लगी हैं (२६), कहीं सन्तोष रूपी सूर्य के उदय से आशा रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है (३७), कहीं चित्त चलदल के पत्ते के समान है (६७), कहीं वेद की मर्यादा को तर्क ने नष्ट कर दिया है (८४)। कवि ने नायिका के रूप का वर्णन न करके राम के 'नखशिख' में मन लगाया है। यद्यपि 'गीतावली' में रामचरितमानस के-से विशाल रूपक नहीं हैं फिर भी अप्रस्तुत सौन्दर्य की कुछ सामग्री निश्चय ही दर्शनीय है—

(क) तेइ अनुराग ताग गुहिबे कहँ मति मृगनयनि बुलावौं।
तुलसी भनति भली भामिनि उर सो पहिराइ फुलावौं ॥१५॥

मति-मृगलोचनी का वर्णन 'पार्वती-मंगल' के प्रसंग में ऊपर आ चुका है।

(ख) भाल बिसाल ललित लटकन वर, बालदसा के चिकुर सोहाए।
मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि, ससिहिं मिलन तम के गन आए।
उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पटपीत ओढ़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनों तड़ित छपाए ॥२३॥

कवि ने उपमा के नाम से ऐसी उत्प्रेक्षा का निर्माण किया है जो संसार में देखने को नहीं मिलती, नील जलद पर न तो तारागण निकल सकते हैं और न उनको तड़ित छिपा सकती है, इसीलिए तुलसी ने इस सादृश्य को 'उपमा एक अभूत' कहा है और 'तजि सुभाव' वाक्यांश का प्रयोग अलौकिकता के लिए किया है—ध्यान रखना होगा कि इस स्थल पर तड़ित से जननी का संकेत नहीं है प्रत्युत 'पटपीत' का है; तुलसी में इस प्रकार के सौन्दर्य[1] बड़े अद्भुत तथा मनोहारी हैं।

(ग) इन्हतें लही है मानो घन दामिनी दुति मनसिज मरकत सोने ॥ (५४)

---

१. अन्य उदाहरण—
(क) कंजदलनि पर मनहुँ भौम दस बैठे अचल सु-सदसि बनाई।
(ख) पद्मकोस मँह बसे बज्र मनो निज सँग तड़ित-अरुन-रुचि लाई॥

राम, सीता और लक्ष्मण का वन जाते देखकर कवि की कल्पना[1] कोई व्यवधान नहीं जानती। कभी उनको रतिपति, रति तथा वसन्त कहता है, कभी घन, दामिनी और स्वर्ण, कभी ब्रह्म, माया और जीव। जो सौन्दर्य कवि के आध्यात्मिक और मानसिक व्यक्तित्व को प्रभावित करता है उसका उसने अनेकधा वर्णन किया है।

(घ) भाञ्ज्यो सिय-मन समेत हरि, हरष्यो जनक हियो।
भञ्ज्यो भृगुपति गर्व सहित, तिहुँ लोक विमोह कियो ॥८८॥

महोक्ति अलंकार का यह चमत्कार अनन्य है।

(ङ) सुखमा-सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमिय-मय कियो है वही, रे।
मथि माखन सियराम सवारे, सकल भुवन छवि मनहुँ मही, रे ॥ १०४ ॥

'मानस' के बालकाण्ड में भी सीता के रूप का वर्णन करते हुए तुलसीदास ने अपनी कल्पना का ऐसा ही भव्यतम प्रयोग किया है, असम्भव वस्तुओं से अप्रस्तुत का निर्माण अतिशयोक्ति का प्राण है परन्तु यहाँ रूपक-गर्भ अतिशयोक्ति हृदय के उदात्त अनुराग की ही सूचक है।

'गीतावली' साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व की है और इसको आसानी से 'रामचरितमानस' तथा 'विनय-पत्रिका' के साथ रखा जा सकता है। तुलसी की अन्य रचनाएँ इन तीनों की तुलना में बहुत पिछड़ी हुई हैं। ध्यान देने की बात यह है कि 'मानस' और 'पत्रिका' बड़े-बड़े रूपकों से सुसज्जित थे परन्तु 'गीतावली' में छोटे रूपक हैं, बड़े ही सूक्ष्म और प्रभावपूर्ण। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) करम चोर नृप-पथिक मारि मानो राम रतन लै भाग्यो ॥१२॥
(ख) लोचन सिसुन्ह देहु अमिय घूंटी ॥ २१ ॥
(ग) महिमा मृगी कौन सुकृती की खल-बच बिसिखन बाँची ॥६२॥
(घ) गदत गोद मानो सकुच पङ्क महँ कढ़त प्रेम-बल धीर ॥६६॥
(ङ) गोमर-कर सुरधेनु नाथ ज्यों त्यों परहाथ परी ज्यौं ॥७॥
(च) लोचन-नीर कृपन के धन ज्यों रहत निरन्तर लोचन कोन ॥२०॥
(छ) हा पुनि सपी लाज पिंजरी महँ राखि हिय बड़े बधिक हठि मोर ॥२०॥

तुलसी के काव्य-सौन्दर्य में इस विचार का कोई महत्त्व नहीं कि साधर्म्य की सामग्री से इन्होंने किस अलंकार का निर्माण किया है प्राय उपमा उत्प्रेक्षा और रूपक एक दूसरे

---

१ अन्य कल्पनाएँ देखिए—

(क) इंदिर इंदु-हरि मध्य जनु सोही।
(ख) मनहुँ बारिध बिधु बीच ललित अति, राजति तड़ित निज सहज बिछोही ॥
(ग) मानहुँ रति ऋतुनाथ सहित मुनिवेष बनाये है मन।
(घ) किधौं सिंगार, सुखमा सुप्रेम मिलि चले जग चित वित लैन ॥
(ङ) अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग-लोगन्हि सुख दैन ॥
(च) मुनि वेष किये किधौं ब्रह्म जीव माय है ॥
(छ) इन्द्रनील, हाटक, मुकुतामनि जनु पहिरे महि हार ॥

से उलझे हुए पड़े हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि तुलसी के समक्ष अप्रस्तुत के कई रूप हैं और अप्रस्तुत योजना का आधार प्राय. सूक्ष्म है। यदि प्रस्तुत और अप्रस्तुत के रूप और आकृति पर ही ध्यान दें तो उनका साम्य हमारे मन में अभीष्ट सौन्दर्य नहीं जगा पाता, कवि का यह उद्देश्य भी नहीं है, वह तो सूक्ष्म तन्तुओं के द्वारा मन में प्रभाव जगाना चाहता है सौन्दर्य-मात्र नहीं, इसलिए उसकी अप्रस्तुत योजना मौलिक और मस्तिष्कोद्भूत है। ऊपर के उदाहरण में प्रस्तुत है दैववशात् नृप-मरण एवं राम का वन-गमन और अप्रस्तुत है चोर का पथिक को मारकर सम्पत्ति लूटकर भाग जाना; यद्यपि दोनों वाक्यों में या वाक्य-प्रयुक्त व्यक्तियों में कोई स्थूल साम्य नहीं है फिर भी भाग्य को उत्तरदायी और क्रूर बताने के लिये कवि ने 'कर्म-चोर' रूपक बनाया है और संयोगवश 'नृप-पथिक' और 'रामरतन' भी उतने प्रभावशाली हैं। राम वस्तुतः चिर-काम्य अमूल्य मणि हैं, इस संसार में आने जाने वाले सामान्य व्यक्ति के समान राजा दशरथ एक पथिक ही तो हैं जो अपनी यात्रा में उस अमूल्य रत्न को लेकर निकले अपने को प्रसन्न और सुखी बनाये हुए परन्तु दुष्ट दैव ने उनसे वह प्राणों से भी प्यारा रत्न *छीन लिया और इस छीना-झपटी में राजा के प्राण भी चले गये। राम की अलौकिकता* और दशरथ का स्नेह तो इन छोटे-छोटे रूपकों से सप्रभाव अभिव्यक्त हुआ ही है, उस घटना का सारा उत्तरदायित्व कठोर दैव पर भी भलीभाँति आरोपित है। दूसरे उदाहरण में नेत्रों को शिशु और दर्शन को अमृत-औषधि बतलाकर जो प्रभाव अंकित किया गया है वह लोचन और शिशु के आकार, रूप और गुण से नितान्त स्वतन्त्र है। इसी प्रकार जिन नेत्रों में आँसू भरे हुए हैं उनका वर्णन तुलसी ने एक से अधिक स्थान पर उसी अप्रस्तुत सामग्री से किया है; प्रेम के अश्रु एक ओर अपने दैन्य और परवशता के सूचक हैं दूसरी ओर स्मृति के सरस संकेत, और विरह में जितनी वेदना अधिक होती है उतना ही अश्रु-वेग कम होता है, इसलिए नेत्र उस कृपण दीन के समान हैं जिसके पास स्नेहमय जीवन की स्मृति के रूप में केवल कुछ जल-कण ही शेष हैं और जिनकी निरन्तर रक्षा उसका गौरव है, तुलसी को यह अप्रस्तुत बहुत ही पसन्द है और इसका उपयोग वे सात्विक विरह संतप्त नेत्रों के वर्णन में करते हैं, 'रामचरित मानस' में भी सीता के नेत्राम्बु का ऐसा ही वर्णन है—

लोचन जल रह लोचन कोना।
जैसे परम कृपिन कर सोना।

'गीतावली' में सौन्दर्य-वर्णन पहले दो काण्डों में ही है आगे चलकर तो बुद्धि का प्रावल्य हो गया है और दार्शनिकता ने तुलसी की अप्रस्तुत योजना को सजाने का प्रयत्न किया है। सुन्दरकाण्ड में दो उदाहरण बहुत सुन्दर हैं—

(क) वह राक्षसी सहित तरु के तर तुम्हरे विरह निज जनम बिगोवति।
मनहुँ दुष्ट इंद्रिय संकट महँ बुद्धि विवेक-उदय मग जोवति ॥१०॥

(ख) बिरह विषम बिष-बेलि बढ़ी उर, ते सुख सकल सुभाय दहे री।
सोइ सींचिबे लागि मनसिज के रहँट नयन नित रहत नहे री ॥४६॥

'मानस' में जब हनुमान ने विभीषण से पूछा कि तुम इस दुष्ट नगरी में कैसे

रहते हो तो उन्होंने उत्तर दिया कि हमारा जीवन राक्षसों के बीच में उसी प्रकार है जैसे दाँतों के मध्य जीभ। 'गीतावली' में निशाचरियाँ दुष्ट इन्द्रियाँ हैं और सीता बुद्धि है जो राम-रूपी विवेक के उदय का मार्ग देख रही है, यह अप्रस्तुत सूक्ष्म है अर्थात् मानस का अप्रस्तुत स्थूल और सुपरिचित। वस्तुतः तुलसी की दृष्टि मति या बुद्धि को अनेक स्थलों पर नारी का रूप देती है, उसका कल्याण विवेक के संयोग में है और उसका अहित इन्द्रियों की अधीनता में, एवं अप्रस्तुत-योजना के द्वारा भी गोस्वामीजी पाठक को सत्पथ का निर्देश कर देते हैं। अप्रस्तुत-योजना की यही सफलता है कि वह कवि के सूक्ष्म अभीष्ट की स्थायी एवं प्रभावपूर्ण छाप पाठक के मन पर अज्ञात भाव से अंकित कर दे।

रामचरितमानस

'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' गोस्वामी जी की प्रौढ़तम रचनाएँ हैं। 'विनय-पत्रिका' यद्यपि कालक्रम से अन्तिम कृति है तथापि वह आत्मविषयक अधिक है सामाजिक उतनी नहीं, तुलसी ने समाज के कल्याण के लिए जिस विचारधारा का उद्भव किया उसकी परिणति 'मानस' में है। 'मानस' तुलसी की समष्टिगत साधना का पावन उच्छ्वास है तो 'पत्रिका' उनकी व्यक्तिगत साधना का निर्मल उद्गार। अतः साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से 'मानस' उनकी कला की सीमा है उनका व्यक्तित्व यहाँ प्रसार को प्राप्त करके अनेकांगी अभिव्यक्ति में दर्शित है।

'मानस' में तुलसीदास के विचार और भाव-सम्बन्धी इतने अधिक सूत्र मिलते हैं कि उनका आकलन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। तत्कालीन शिष्ट-समाज के सम्मुख परम्परागत और समकालीन जितनी सामग्री थी उस सबका अनायास उपयोग 'मानस' में मिल जाता है, प्रत्येक शब्द और प्रत्येक वाक्य अन्वेषण के सूत्र प्रस्तुत कर सकता है और यह सिद्ध करता है कि तुलसीदास एक व्यक्ति का नाम नहीं प्रत्युत उस काल की सर्वांगीण और सर्वोत्तम अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट पर्याय है, ज्ञात या अज्ञात भाव से प्रत्येक भाव और विचार को सामयिक दृष्टि से उचित स्थान 'रामचरितमानस' में मिल गया है। तुलसी समाज की समस्त आपदाओं का निदान जानते थे और वे इस तथ्य से भी अवगत थे कि उनकी किस अभिव्यक्ति का समाज पर कितना और कैसा प्रभाव पड़ेगा। हिन्दी साहित्य में तुलसी जैसा सचेत कवि दूसरा नहीं हुआ, उनको अपनी औषधि और उसके प्रभाव का पूर्ण अवधान था, रोग की दारुण दशा देखकर भी वे विचलित नहीं हुए प्रत्युत धैर्यपूर्वक अपनी समग्र योग्यता से उसका उपचार किया और उनको पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई। 'मानस' में प्रयुक्त अप्रस्तुत-सामग्री इसी निष्कर्ष को दृढ़ बनाती है।

प्राकृत जन इव हरिचरित 'मानस' का मुख्य लक्ष्य है तुलसी भगवान् की उन लीलाओं का वर्णन कर रहे हैं जो उन्होंने मानव-शरीर धारण करके की थीं, अतः इस वर्णन में यथार्थ और आदर्श दोनों का समावेश है और पाठक को यथार्थ से आदर्श की ओर जाने का संकेत स्वतःएव उपलब्ध हो जाता है, यथार्थ तुलसी के 'प्राकृत' शब्द

में सन्निहित है, और आदर्श उनके 'हरिचरित' में छलक रहा है। यदि 'मानस' की कथा अलौकिक भावभूमि पर आश्रित रहती तो सम्भवतः सती को मोह न होता परन्तु पाठक को अरुचि हो जाती। अतः 'कल्प'-भेद से कथा के वर्णन में कुछ अन्तर करके तुलसी ने उसको समयोचित रूप दिया। जीवन की विषमता, काल की कठोरता और विधि की वामता के कारण प्रहार-जर्जर मानव जब 'रामचरितमानस' को पढ़ता है तो भगवदवतार राम के जीवन में इन थपेड़ों का पूर्वरूप देखकर उसे धैर्य प्राप्त होता है और फिर मन में श्रद्धा का संचार करके वह उसी मार्ग को दृढ़ता से ग्रहण कर लेता है जो राम ने स्वयं अपनाया था; यही कवि का उद्देश्य है। तुलसी के शब्दों में रघुवंश-मणि राम कामीजनोचित दीनता का प्राकृत व्यवहार करते हुए भी धैर्यशालियों के मन में विरक्ति को ही दृढ़ करते हैं—

गुनातीत सचराचर स्वामी। रामु उमा सब अंतरजामी।

कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई॥ (अरण्यकाण्ड)

काव्य में कामी, लोभी आदि के समान आचरण करते हुए भी उस माया को स्ववशीभूत करने वाले राम कामी, लोभी और वीर सबके समान रूप से आदर्श अवलम्बन हैं और सभी सद्गत होकर उनकी निरुपाधि भक्ति प्राप्त कर सकते हैं—

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।

तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥ (उत्तरकाण्ड)

इसी हेतु 'मानस' की कथा 'मंगल करण, कलिमल हरनि' तथा **'सुरसरि-सम सब कहँ हित'** है।

अस्तु, 'मानस' की कथा के प्रस्तुत पक्ष में दो अंग हुए, प्राकृत तथा चरित, अप्रस्तुत पक्ष में भी इनको स्पष्टतर रीति से देखा जा सकता है। 'मानस' का अप्रस्तुत पक्ष प्राकृत और पौराणिक (शास्त्रीय) सामग्री के नीर-क्षीर मिश्रण के मन्थन का सुपरिणाम है। लोक-जीवन से अप्रस्तुत सामग्री लेते हुए तुलसी ने यद्यपि 'चदरिया' बुनने का कभी प्रयास नहीं किया और न 'सूप' लेकर वे थोथे को उड़ाकर सार ग्रहण करने में ही लगे रहे फिर भी रामचरितमानस में ऐसी सामग्री की अल्पता नहीं जो कवि का लोक-जीवन से सुपरिचय तो स्पष्ट करती ही है सामान्य पाठक को अपनेपन की भावना देकर उसे अनुकूल भी बना लेती है। इस सामग्री के अनेक वर्ग हो सकते हैं। एक वर्ग कवि का पशु-पक्षी-जगत तक प्रसार घोषित करता है—

(क) गयेउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।
जनु सचान बन झपटेउ लावा॥ (अयोध्याकाण्ड)

(ख) सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ वृद्ध गजराजु।

(ग) चलइ जोंक जल वक्र गति जद्यपि सलिलु समान॥

(घ) कहि न जाइ कछु हृदयँ विषादू।
मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू॥

(ङ) नयन सँजल तन थरथर काँपी।
माँजहि खाइ मीन जनु माँपी॥

(च) सो दससीस स्वान की नाइं।
इत उत चितइ चला भड़िहाइं। (अरण्यकाण्ड)

(छ) अधम निसाचर लीन्हे जाई।
जिमि मलेछ बस कपिला गाई।

(ज) करति बिलाप जाति नभ सीता।
ब्याध बिबस जनु मृगी सभीता।

इन अप्रस्तुतों में चाहे सूक्ष्म वाली मौलिकता तो नहीं है परन्तु कवि का सूक्ष्म निरीक्षण अवश्य व्यक्त होता है, प्राय यह सामग्री साहित्यिक पाठक के लिए नितान्त नवीन नहीं है कवि ने जिस भावाभिव्यक्ति के लिए इसका प्रयोग किया है उसमें वह पूर्ण सफल है रावण को श्वान बतलाकर उसके कार्य की नीचता, उसकी भयकरता कायरता तथा हयता की सफल व्यजना है निशाचर द्वारा हृत सीता की समानता म्लेच्छगत कपिला गाय से बतलाते हुए कवि ने तत्कालीन समाज का एक दयनीय चित्र तो प्रस्तुत किया ही है सीता की परवशता, निरीहता, दीनता का भी सज्जन के मन का उत्तेजित करने वाला रूप उपस्थित कर दिया है। कुछ शारीरिक अप्रस्तुतों को अप्रस्तुत बनाने वाले चित्र देखिए—

(क) दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू।
जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू॥ (अयोध्याकाण्ड)

(ख) नगर ब्यापि गई बात सुतीछी।
छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥

'बालतोड़' और 'वृश्चिक बाधा' से कवि स्वय पीडित रहा था या नहीं, इसकी खोज हमारा उद्देश्य नहीं परन्तु हमको इस बात पर ध्यान देना पड़ेगा कि ये दोनों अप्रस्तुत मौलिक हैं तथा प्राकृत हैं कवि ने इनका प्रयोग परिहास की भावना से नहीं प्रत्युत गम्भीरतम परिस्थिति में किया है और ये अभीष्ट व्यञ्जना में आशातीत सफल रहे हैं। मानसकार की दृष्टि में वनस्पति जगत् के कुछ अप्रस्तुत भी प्राय ये—

(क) बिबरन भयेउ निपट नरपालू।
दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू॥ (अयोध्याकाण्ड)

(ख) सुनि भये बिकल सकल नर-नारी।
बेलि बिटप जिमि देखि दवारी॥

(ग) इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं।
जे तरजनी देखि मरि जाहीं॥ (बालकाण्ड)

इन मौलिक प्राकृत अप्रस्तुतों की विशेषता यह है कि ये केवल भावविशेष की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रयुक्त हैं कवि ने विस्तार करके इनके बन्ध (रूपक बन्ध, उत्प्रेक्षा-बन्ध आदि) नहीं बनाये इनका मूलोपयोग भावातिशय का सर्जन है।

उपर्युक्त अप्रस्तुतों में कवि स्वभाववश अग्रसर हुआ या प्रयत्नपूर्वक—यह कहना कठिन है। परन्तु कुछ अप्रस्तुत-योजना ऐसी है जो कवि के सचेत प्रयत्न की साक्षिणी है। गोस्वामी जी अपने समय के साम्प्रदायिक पन्थों के कट्टर विरोधी थे और उनको

दम्भमूल जानकर उनके अभिशाप से समाज को बचाना चाहते थे। अन्य रचनाओं में इन पन्थों का जो तिरस्कार किया गया है उसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, उनमें उप-देशमूलक शैली के आश्रय से तिरस्कार्य वस्तु को प्रस्तुत रूप में ग्रहण किया है, परन्तु 'मानस' में सर्वत्र काव्यात्मक प्रयोग हैं, अतः तिरस्कार्य विषय को अप्रस्तुत बनाकर उसके प्रति मन में त्याग एवं निन्दा की भावना जगाई गई है—

(क) लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे।
मगह गयादिक तीरथ जैसे॥ (अयोध्याकाण्ड)

(ख) जिमि कुलीन तिय साधु सयानी।
पति देवता करम मन बानी॥
रहै करम बस परिहर नाहू।
सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू॥

(ग) पैठत नगर सचिव सकुचाई।
जनु मारेसि गुर बाँभन गाई॥

(घ) जे परिहरि हरि-हर-चरन, भजहिं भूतगन घोर।
तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि, जौं जननी मत मोर॥

(ङ) तजि श्रुति पंथु बाम पथ चलहीं।
बंचक बिरचि बेषु जगु छलहीं॥
तिन्ह कइ गति मोहि संकर देऊ।
जननी जौं एहु जानहुँ भेऊ॥

(च) भरत दरस देखत खुलेउ, मग लोगन्ह कर भागु।
जनु सिंघल बासिन्ह भयेउ, बिधि बस सुलभ प्रयागु॥

(छ) माया-छन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म॥ (अरण्यकाण्ड)

(ज) हरित भूमि तृन-संकुल, समुझि परहि नहिं पंथ।
जिमि पाखंड विवाद तें, गुप्त होहिं सदग्रन्थ॥

(झ) मसक दंस बीते हिम त्रासा।
जिमि द्विज द्रोह किए कुल नासा॥

वर्षा और शरद् के वर्णन में जिस उपदेशात्मक अप्रस्तुत सामग्री का प्रयोग है वह परम्परागत है, परन्तु उपर्युक्त सामग्री अधिकांशतः मौलिक है। अपने सम्प्रदायवालों को स्वर्ग तथा विरोधियों को नारकीय यातना दिलाना तो धर्मोपदेशकों का सर्वत्र ध्येय रहा है, तुलसी की दृष्टि इतनी संकीर्ण नहीं। वे समाज-विरोधी तत्त्वों के उन्मूलन में दया का व्यवहार नहीं करते। श्रुति-सम्मत हरि-भक्त पथ को त्यागकर अनेक मतान्तरों में भटकनेवाले वञ्चक तथा धूर्त दम्भियों को तर्क से पराजित नहीं किया जा सकता, परन्तु उनके आचरण से उत्पन्न होनेवाले सर्वनाश की उपेक्षा भी उचित नहीं। अतएव गोस्वामी जी उनका काव्यात्मक रीति से निराकरण करते हैं। भरत की आत्म-ग्लानि में भूत-जनोपासकों और वाम-मार्गियों की भर्त्सना तुलसी का सबसे कठोर उद्गार है; मगध, सिंहलद्वीप तथा निर्गुण ब्रह्म पर उन्होंने व्यंग्यमात्र किया है—निर्गुण ब्रह्म

का यह परिहास अत्यन्त साहित्यिक है—'कमल-पत्र के कोमल तथा स्निग्ध प्रसार के भीतर जल की अनन्त राशि आच्छादित है ठीक उसी प्रकार जैसे माया के भीतर निर्गुण ब्रह्म इसका रहस्य कोई नहीं जानता। मगध किसी समय वेद विरोधियों का केन्द्र रह चुका है बौद्धमत का विकृत रूप यहीं पनपा और वद्धिमान् हुआ, मुसलमानी शासन में पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल की सीमा पर प्रेमकथाएँ गाकर युवकों को निष्क्रिय तथा स्त्रैण बनानेवाले लोक-कहानीकार जम गये और मगध तक वेद का विरोध तथा स्वेच्छाचार का प्रचार होता रहा, मगध का प्रतिरूप 'मगहर' भी काशी के निकट था जहाँ कबीर जी अपने अन्तिम दिन बिताने सिर्फ इसलिए गये थे कि जनता के उस विश्वास का खण्डन कर सकें कि मगहर में शरीर छोड़ने पर नरक मिलता है। तुलसी तीर्थ का महत्त्व जानते थे, इसलिए कुतीर्थ का प्रभाव भी उनकी दृष्टि से छिपा न था। अतः उन्होंने 'मगह' तथा 'सिहल' दोनों की तुच्छता अंकित की है। 'सिहल' शब्द से लंका का अर्थ लेना उचित नहीं, प्रत्युत सिंहल लोककहानीकार मुसलमान प्रचारकों का स्वप्न का नाम है—जहाँ भी इसकी स्थिति हो, जायसी के लिए सिंहल साधना की पावनभूमि है जहाँ जाकर साधक वेदविरोध की शक्ति का संचय कर सकता है, तुलसी के लिए सिंहल उस अभागी भूमि का नाम है जहाँ परम्परागत ऋजु संस्कारों को त्यागकर पथभ्रष्ट दम्भी समाज का अभिशाप बनना सीखना है।

लोक जीवन से लिया 'रामचरितमानस' में एक अप्रस्तुत अवश्य ऐसा है जो समालोचकों से भिन्न लगता है, कदाचित् वह मौलिक न हो, उसमें एक अप्रस्तुत के स्थान पर 'वध' का उपयोग है और जिस जीवन से सहायता ली गई है वह या उसका सम्बंधित ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता, उसमें उपमा या उत्प्रेक्षा के स्थान पर सागरूपक है—

मातु-कुमति-बढ़ई अघमूला। तेहि हमार हित कीन्ह बसूला॥
कलि-कुकाठ कर कीन्ह कुजन्त्रू। गाड़ि अवध पढ़ि कठिन कुमन्त्रू॥
मोहि लगि येहु कुठाटु तेहि ठाटा। घालेसि सदु जग बारहु बाटा॥

(अयोध्याकाण्ड)

साग रूपकों का उपयोग तुलसी में बहुत है और 'मानस' में भी अपरिमित है, परन्तु साग रूपकों का निर्माण प्रकृत मौलिक अप्रस्तुतों से नहीं हुआ, उपर्युक्त उदाहरण अपवाद की कोटि में आयेगा। इस उद्धरण में रूपक का आधार है 'मातु-कुमति' अथवा केवल 'कुमति' कवि ने व्यक्ति को निर्दोष ठहराते हुए उसकी मति को कर्म के लिए उत्तरदायी माना है, मन्थरा की मति में ही गिरा ने विपर्यय उत्पन्न कर दिया था, मन्थरा की विमति से कैकेयी में कुमति आई यही मति विभ्रम पापों का कारक है इसीलिए तुलसी ने 'पार्वती मंगल' में "कवि मति मृगलोचनि"[1] को साधुवाद दिया है, और इसी हेतु वैदिक ऋषि ने धी[2] तथा मेधा[3] नाम्नी सुमति के विकास को सर्वोपरि

---

१ प्रेमपाट पटडोरि गौरि-हर-गुन मनि।
मंगलहार रचेउ कवि-मति मृगलोचनि॥
२ धियो यो नः प्रचोदयात्।
३ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा।

महत्त्व प्रदान किया है, वैदिक विचारधारा के ये सूक्ष्म सूत्र मननीय हैं।

'रामचरितमानस' में कतिपय स्थलों पर ही साहित्यिक अप्रस्तुतों का उपयोग हुआ है, कदाचित् इसलिए कि कवि इस कृति को सर्वसामान्य के हितार्थ लिख रहा था; वस्तुत. काव्य में सौन्दर्य वाह्य वस्तु पर उतना निर्भर नहीं जितना कि आन्तरिक पर, अतः महान् सन्देश के अभाव में कोई भी कृति महान् नहीं बन सकती भले ही कवि उसको पूर्ण मनोयोग से सजाता रहे। आकृति की अभिरामता में भी वस्त्रहीना नारी नग्नता में भयंकर तथा घृणास्पद लगती है क्योंकि वस्त्रों की वृत्ति उसके मनोभाव अत-एव व्यक्तित्व की निर्देशिका है; इसी प्रकार अनेक काव्यालंकारों से विभूषित वाणी व्यर्थ है यदि उसमें रामनाम का सात्विक उद्गार नहीं है। केशव अलंकारहीन काव्य को नग्न मानते हैं, तुलसी सन्देशहीन या आदर्शहीन को; केशव वाह्यालंकार में विश्वासी है, तुलसी आन्तरिक सौन्दर्य में। 'मानस' में एक से अधिक स्थलों पर तुलसीदास ने अपने इस मत का समर्थ प्रतिपादन किया है—

(क) भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी।
सोह न बसन बिना बर नारी॥
सब गुन रहित कुकवि कृत बानी।
राम नाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही॥
मधुकर सरिस सन्त गुनग्राही॥ (बालकाण्ड)

(ख) राम नाम बिनु गिरा न सोहा।
देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥
बसनहीन नहिं सोह सुरारी।
सब भूषन भूषित बर नारी॥ (सुन्दरकाण्ड)

तुलसी को काव्य-सौन्दर्य से घृणा नहीं है, परन्तु वे मूल्यों का विपर्यय पसन्द नहीं करते; जिसका जितना महत्त्व है उतना ही उसको स्थान मिलना चाहिए। 'मानस' में काव्या-लंकार का मनोरम सौन्दर्य तो प्राप्त है ही, काव्यशास्त्र की कई वस्तुएँ भी अप्रस्तुत बनकर आ गई हैं :—

(क) आश्रम सागर-सांत-रस, पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ करुना-सरित, लिएँ जाहिं रघुनाथु॥ (अयोध्याकाण्ड)

(ख) प्रभु प्रलाप सुनि कान, बिकल भए बानर-निकर।
आइ गयउ हनुमान, जिमि करुना महँ बीररस॥ (लंकाकाण्ड)

परन्तु इन प्रसगों में 'रस' शब्द का प्रयोग किसी भी साहित्यिक दृष्टि से नहीं किया गया, केवल भावों के सम्मिलन का ही द्योतक है; निम्न स्थलों से तुलना की जा सकती है—

(क) सानुज सीय समेत प्रभु राजत परनकुटीर।
मगति ज्ञानु बराग्य जनु सोहत धरें सरीर ॥ (अयोध्याकाण्ड)

(ख) प्रभु मिलत अनुजहिं सोह मो पहिं जात नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही ॥ (उत्तरकाण्ड)

तुलसी ने 'उपमा' शब्द का तो अपनी रचना में अनेक बार प्रयोग किया ही है 'वक्रोक्ति' तथा 'प्रत्युत्तर' भी एक-एक बार आये हैं और इनका प्रयोग बड़ा रोचक है। रघुवीर-दूत अंगद जब रावण की राजसभा में गया तो राजनीति का पालन करते हुए भी उसने वक्रोक्तियों से रावण का हृदय विद्ध कर लिया, तब अंगद के उन वाग्बाणों को रावण प्रत्युत्तर रूपी सँड़ासी से सावधान होकर निकालने लगा—

बक्र उक्ति धनु, बचन सर, हृदय दहेउ रिपु कीस।
प्रति उत्तर सड़सिन्हि मनहु, काढ़त भट दससीस ॥ (लंकाकाण्ड)

प्रतिपक्षी से युद्ध करते हुए जब किसी के हृदय में शूल घुस जाते हैं तो उनको धैर्य से बाहर निकालकर शत्रु का उपचार होता है वाग्युद्ध में रावण घायल हो गया, अंगद के व्यंग्य वचन उसके मानस को जर्जर करने लगे तब उस योधा ने स्वयं व्यंग्य द्वारा प्रत्युत्तर देते हुए मानो अपने मर्मस्थल से निकालकर उन शरों का अपने शत्रु पर प्रयोग किया।

साहित्य में नारी का एक विशेष स्थान रहा है हिन्दी के भक्ति-साहित्य में भी नारी सामान्य पाठक का भी ध्यान आकृष्ट करती है तुलसी की नारी विषयक उक्तियाँ विद्वानों के विचार का विषय है। प्रस्तुत पक्ष में तुलसी ने नारी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह तो प्रसिद्ध ही है, अप्रस्तुत पक्ष में उनके कथन माननीय हैं। 'रामचरित मानस' के निम्नलिखित स्थल देखिए—

(क) निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई।
जानि न जाइ नारि गति भाई ॥

(ख) काह न पावकु जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग कालु न खाइ ॥

(ग) सुनि मुनि कह पुरान श्रुति संता।
मोह बिपिन कहुँ नारि-बसंता ॥
जप, तप, नेम जलाश्रय भारी।
होय ग्रीषम सोखै सब नारी ॥
काम, क्रोध, मद, मत्सर, भेका।
इन्हहिं हरष प्रद बरषा एका ॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई।
तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई ॥
धर्म सकल सरसीरुह बृन्दा।
होइ हिम तिन्हहिं दहै सुख मन्दा ॥

पुनि ममता-जवास बहुताई।
पलुहइ नारि सिसिर ऋतु पाई॥

विशेष प्रसंग में सामान्य कथन की अनुयुक्ति उस प्रस्तुत को समर्थ बनाने वाली अप्रस्तुत शक्ति है। तुलसी ने नारी का ऐसा ही उपयोग किया है, वस्तुतः वह वर्ण्य विषय नहीं, प्रत्युत वर्ण्य विषय का समर्थक विषय है। कवि ने जिस प्रकार के रूपक बनाये हैं वे स्थूल रूप, रंग, आकार आदि की दृष्टि से तो अत्यन्त सूक्ष्म है, परन्तु सूक्ष्म प्रभाव उत्पन्न करने में नितान्त सक्षम हैं; नारी को बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुओं का रूप देकर कवि यह सिद्ध करना चाहता है कि नारी हर मौसम में पुरुष को प्रभावित करके मन, वचन और कर्म पर अपनी छाप लगाती रहती है, सामान्य दृष्टि से ऐसा लगेगा मानो ये रूपक बुद्धि-व्यायाम का परिणाम हैं परन्तु सम्पूर्ण वर्णन का अभिप्राय हृदयंगम करने पर कवि द्वारा प्रतिष्ठित नारी का सार्वकालीन अनिवार्य प्रभाव पाठक को स्वीकार्य बन जाता है।

तुलसी के सांग रूपकों को इसी दृष्टि से देखना चाहिये, उनका लक्ष्य पाठक के मन पर संकलित प्रभाव अंकित कर देना है इसलिए उनमें रूप-साम्य, रंग-साम्य, आकृति-साम्य या शब्द-साम्य नहीं मिलता अर्थात् न उनका उपयोग शब्द-चमत्कार के लिए हुआ है और न रूप-गुण-मूलक अर्थ-चमत्कार के निमित्त, उनका प्रयोजन तो क्रिया-साम्य या फल-साम्य मात्र ही है और इस फल-साम्य में कवि का एकमात्र उद्देश्य पाठक के मन को निरुपाधि भगवद्भजन की ओर प्रेरित करना है, अतः ये रूपक भगवद्भजन के आस-पास ही व्याप्त मिलते हैं। 'रामचरितमानस' में सांग रूपकों की यह छवि दर्शनीय है—

(क) मुदमंगलमय संत समाजू।
जो जग जंगम तीरथराजू॥
रामभगति जहँ सुरसरि-धारा।
सरसै ब्रह्म-बिचार प्रचारा॥
बिधि-निषेध-मय कलि-मल-हरनी।
करम-कथा रबिनंदिनि बरनी॥
हरि-हर-कथा बिराजति बेनी।
सुनत सुलभ मुद-मंगल देनी॥
बटु-बिस्वासु अचल निज धरमा।
तीरथ राज समाज सुकरमा॥ (बालकाण्ड)

(ख) प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराजु दीख प्रभु जाई॥
सचिव सत्य, श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥
छेत्र अगम गढ़ु गाढ़ सुहावा। सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा॥
सेन सकल तीरथ बर बीरा। कलुष अनीक दलन रनधीरा॥

संगम सिंहासनु सुठि सोहा। छत्रु अखयबटु मुनि मनु मोहा॥
चवँर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा॥
(अयोध्याकाण्ड)

(ग) सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु, बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥
(लंकाकाण्ड)

इन रूपकों में एक पक्ष प्रायः मूर्त होता है और दूसरा अमूर्त, प्रस्तुत और अप्रस्तुत में रूप और गुण का कोई साम्य नहीं, परन्तु प्रभाव या फल की विशेषता प्राप्त है, कवि का लक्ष्य पाठक को धर्म में प्रवृत्त करना है। जायसी आदि कवियों ने इस प्रकार के स्थलों पर मुद्रा व सौन्दर्य से अपने काव्य को सजाया है और प्रायः इस्लामी संस्कृति के चौपड़ पूर आदि अप्रस्तुत बनकर आये हैं। तुलसी का उद्देश्य काव्य की सजावट नहीं है और न वे सामयिक आचार विचार को कोई महत्त्व देते थे। इसलिए उनकी अप्रस्तुत सामग्री सनातन अतः सूक्ष्म है—मूर्त वस्तुओं के स्थान पर अमूर्त गुणों का उपयोग किया गया है।

यह आवश्यक नहीं कि अंग प्रत्यंग की इस तुलना में रूपक अलंकार का उपयोग किया जाय। साधर्म्यमूलक सौन्दर्यों में सबसे निर्बल उपमा है, इसके अन्तर्गत अप्रस्तुत 'अधिक' तथा प्रस्तुत 'हीन' होता है, अतः हीन गुण को अधिक गुण के समान बतलाकर हीन गुण का उत्थान किया जाता है। उत्प्रेक्षा उपमा से बलवती है, इसके अन्तर्गत प्रस्तुत समानप्राय गुणवाला होता है इसीलिए प्रस्तुत को देखकर अप्रस्तुत की सम्भावना विशेष है। रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों से बलवत्तर है गुण का इतना अधिक साम्य होता है कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत में कोई भेद नहीं रहता, इसी हेतु रूप की अपेक्षा गुण के सौन्दर्य के रूपक का अधिक प्रयोग कविजन किया करते हैं। भक्ति काव्य इसी हेतु अलंकार की दृष्टि से रूपक का युग था, उस समय उपमा और उत्प्रेक्षा की अनल्पता में भी रूपक का साम्राज्य था और रूप-गुण की अपेक्षा प्रभाव फल पर कवि की दृष्टि अधिक थी। तुलसी के रूपक विशेष ध्यान देने योग्य हैं प्रायः उनका झुकाव व्यतिरेक की ओर है। कुछ रूपक तो व्यतिरेक ही बन गये हैं। व्यतिरेक में रूपक से भी अधिक बल उस समय आता है जब वह प्रभाव या फल पर दत्त दृष्टि हो। तुलसी ने इसलिए 'मानस' में व्यतिरेक का स्थान-स्थान पर गम्य या प्रत्यक्ष प्रयोग किया है—

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥

कोक-तिलोक प्रीति अति करहीं । प्रभु-प्रताप-रवि छविहि न हरहीं ॥
निसि-दिन सुखद सदा सब काहू । ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू ॥
पूरन राम-सुप्रेम-पियूषा । गुर-अवमान-दोष नहि दूषा ॥

(अयोध्याकाण्ड)

तत्वदर्शी कवि स्वानुभूति को समाज की सम्पत्ति बनाने के लिए उसको प्रसारित करके पाठक के समक्ष उपस्थित करते हैं, उनका उद्देश्य चमत्कार कदापि नहीं होता, फिर भी उनके काव्य में सौन्दर्य की अनेक नवीन विधाएँ अनायास ही अवतरित हो जाती हैं। तुलसी जैसे महान् कवि के लिए यह निर्विवाद है कि उनका काव्य उनके आत्मविकास का ही शब्द चित्र है, जो सन्देश उनके अन्तःकरण में प्रतिध्वनित हो रहा था उसको जन-जन तक पहुँचाने के लिए उन्होंने रामकथा का आश्रय लिया, उनके काव्य का सौन्दर्य उनके आन्तरिक उल्लास की ही छाया है, अतः उदासीन रहने पर भी उल्लास-द्योतक-रत्नराजि 'मानस' में प्रतिपद दृग्गत हो जाती है। इस सौन्दर्य को शास्त्रीय नामों से अभिहित किया जा सकता है, परन्तु यह सर्वत्र आवश्यक नहीं, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक या दृष्टान्त, उदाहरण आदि तो परम्परा के सौन्दर्य के ही नाम हैं। मौलिक सौन्दर्य नाम की अपेक्षा नहीं रखता। 'मानस' का एक स्थल देखिए—

तात बिचारु करहु मन माहीं । सोचु जोगु दसरथु नृप नाहीं ॥
सोचिअ बिप्र जो बेद-बिहीना । तजि निज धरमु बिषय लयलीना ॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना । जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू । जो न अतिथि सिव भगत सुजानू ॥
सोचिअ सूद्रु बिप्र अवमानी । मुखर मान प्रिय ज्ञान-गुमानी ॥
सोचिअ पुनि पति बंचक नारी । कुटिल कलह-प्रिय इच्छाचारी ॥
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई । जो नहिं गुर-आयसु अनुसरई ॥
सोचिअ गृही जो मोह बस, करइ करम पथ त्याग ।
सोचिअ जती प्रपंच-रत, बिगत बिबेक बिराग ॥

(अयोध्याकाण्ड)

दशरथ की मृत्यु के उपरान्त जब भरत अयोध्या आये तो उनकी मानसिक दशा अच्छी न रही, वे भाग्य की कार्यावलि पर मूढ़ होकर विचार करने लगे और फिर दशरथ की मृत्यु का ध्यान आते ही सोच में डूब गये। तब कुलगुरु ने उनको समझाया कि राजा को जैसा जीवन और जो मृत्यु प्राप्त हुई वह तो ईर्ष्या का विषय है सोच का नहीं; सोच तो उस भाग्यहीन के लिए होता है जो मानव शरीर धारण करके भी स्वधर्म का पालन न कर सका, धर्मपालन जिसको सुलभ हो गया वह तो संसार में सबसे सौभाग्यशाली है। इस वर्णन में अनेक शोचनीय व्यक्तियों का महत्त्व-क्रम से नाम गिनाया गया है और यह स्थापना की गई है कि ये लोग शोचनीय हैं राजा दशरथ नहीं; यहाँ प्रभाव-साम्य व्यंग्य है और तुलना की गन्ध आ रही है। यद्यपि इस सौन्दर्य का कोई विशेष नाम नहीं फिर भी अपने कार्य में अत्यन्त सफल होने के कारण यह पाठक का ध्यान अवश्य आकृष्ट करता है।

विनयपत्रिका

अन्तिम रचना 'विनयपत्रिका' में तुलसी के व्यक्तित्व का अत्यन्त निर्मल रूप उपलब्ध है। 'पत्रिका' का प्रस्तुत पक्ष स्तुति मात्र है प्रस्तुत पक्ष की तुलना अप्रस्तुत पक्ष की प्रचुरता से ही भरा पूरी दिखाई देती है मुक्तक काव्य में अप्रस्तुत पक्ष द्वारा भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। अप्रस्तुत पक्ष के दो रूप है—वर्णन तथा वर्णनार्थ प्रयुक्त बाह्य सामग्री। वर्णन को विनयपत्रिका में अधिक आदर न मिल सकता था—कवि ने इस रचना में कतिपय स्थलों पर ही ध्यान दिया है। क्योंकि उसकी दृष्टि बाह्य जगत् पर कम परन्तु अन्तर्जगत् पर विशेष है। 'विनयपत्रिका' में वर्णन के समान प्रतीत होने वाले स्थल वस्तुत रुचि के उद्गार मात्र हैं उनसे वर्ण्य वस्तु का उतना ज्ञान नहीं होता जितना कि वर्ण्य वस्तु के प्रति कवि की भावना का, गंगा, काशी, चित्रकूट आदि के वर्णन इस कथन के प्रमाण हैं। वस्तुपरक मानस की तुलना में व्यक्तिपरक 'पत्रिका' इसलिए सामान्य साहित्यिक को अधिक रोचक नहीं लगती कि व्यक्तिपरक रचना के लिए कवि के व्यक्तित्व से समभाव भी नितान्त आवश्यक है, जो भक्त हैं वे 'पत्रिका' पर मुग्ध हैं जो अभक्त हैं उनके लिए 'पत्रिका' में कोई सौन्दर्य नहीं।

तुलसी की सौन्दर्य-योजना की सामान्य विशेषता रूप की अपेक्षा गुण, वस्तु की अपेक्षा उसके प्रभाव या महत्त्व और स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म व्यक्तित्व पर दृष्टिक्षेप है। मानस आदि के प्रसंग में हम इस विशेषता पर सोदाहरण विचार कर चुके हैं। 'मानस' आदि में हमने यह भी देखा था कि कवि स्थूल, बाह्य, रूप अथवा वस्तु आदि से उदासीन नहीं था, क्योंकि उसका लक्ष्य समाज था प्रत्युत यह कथन अधिक उचित होगा कि 'मानस' आदि में सूक्ष्म सौन्दर्य स्थूल बाह्य सौन्दर्य के समकक्ष है। 'पत्रिका' में सूक्ष्म सौन्दर्य का इतना प्राबल्य है कि स्थूल सौन्दर्य विरलता से ही दृग्गत होता है। वस्तुत तुलसी के साहित्यिक व्यक्तित्व का विकास सौन्दर्य की स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने की ही गाथा है। भाव राशि की अगम्यता तथा विचार राजि की सघनता में पार्थिव स्थूलता नष्ट हो गई है उस रचना-वाटिका के पुष्प-सौरभ एवं पल्लव-कान्ति में मुग्ध विचरता द्रष्टा अधस्तात आवृत्त पार्थिव सौन्दर्य की उपेक्षा कर देता है जो पाठक इस दिव्य सौन्दर्य का द्रुतज्ञ है वह तुलसी की नतमस्तक सराहना करता है और जो केवल पार्थिवता खोजता फिरता है उसे टिकने को भी स्थान नहीं मिलता।

सूक्ष्म सौन्दर्य के इस समाधान के लिए कवि ने 'पत्रिका' में प्रायश रूपक तथा दृष्टान्त अलंकारों की सहायता ली है। रूपक दो प्रकार के हैं—सामान्य तथा सांग। 'पत्रिका' के सामान्य रूपक अप्रस्तुत सामग्री के कारण पाठक के मन में बड़ा कुतूहल उत्पन्न करते हैं यद्यपि रचना में उन्हीं का साम्राज्य देखकर साहित्यिक मात्र क्षणभर हतप्रभ-सा रह जाता है। इन रूपकों में अप्रस्तुत-योजना का आधार इतना सूक्ष्म है कि सहृदय के सहृदयता में सन्देह-सा होने लगता है, न रूप-साम्य, न रंग साम्य, न आकार की कोई समानता, गुणों में भी कोई निकटता नहीं, केवल प्रभाव या फल को समान समझकर कवि ने निरान अप्रस्तुत जुटा दिये हैं—

(क) हिम-तम-करि-केहरि (दिवाकर के लिए)
(ख) मोह-निहार-दिवाकर (शंकर ,, ,,)
(ग) गिरिजा-मन-मानस-मराल (,, ,, ,,)
(घ) मोह-मूषक-मार्जार (,, ,, ,,)
(ङ) कठिन-कलिकाल-कानन-कृशानु (,, ,, ,,)
(च) अज्ञान-पाथोधि-घटसम्भव (,, ,, ,,)
(छ) मोह-महिष-कालिका (गंगा ,, ,,)
(ज) मोह-मद-कोह-कामादि-खल-संकुल-घोर संसार-निसि-किरनमाली
(हनुमान के लिए)
(झ) लोक-लोकप-कोक-कोकनद-सोकहर-हंस (,, ,, ,,)
(ञ) दिव्य-भूमि-अंजना-मजुलाकर-मणि (,, ,, ,,)
(ट) भूमिजा-रमण-पदकंज-मकरंद-रस-रसिक-मधुकर (भरत ,, ,,)
(ठ) दनुज-वन-धूमध्वज (राम के लिए)
(ड) वासना-वृन्द-कैरव-दिवाकर (,, ,, ,,)
(ढ) सघन-तम-घोर-संसार-भर-शर्वरी-नाम-दिवसेस-खर-किरनमाली (राम के लिए)
(ण) पाप-पुंज-मुंजाटवी-अनल-इव-निमिष-निर्मूलकर्त्ता (,, ,, ,,)
(त) अज्ञान-राकेस-ग्रासन-विधुतुद। (,, ,, ,,)

इस सम्बन्ध में ध्यान देने की पहली बात यह है कि इस प्रकार की अप्रस्तुत योजना 'पत्रिका' के पूर्वार्द्ध में ही उपलब्ध है, और पूर्वार्द्ध के भी केवल उस स्थल तक जहाँ तक कवि स्तुति में एकाग्रमना है तदुत्तर तो यह विशेषता विरल ही नहीं अपवाद रूप में ही मिलेगी। 'पत्रिका' का स्तुति-परक भाग कवि की वैयक्तिक साधना की अवधि है; उसमें दैवी सम्पत्ति की झलक देवार्चन में प्रयुक्त देववाणी की उज्ज्वल छटा से भी मिल जाती है; कवि का काव्य-शास्त्र-विनोद-स्फुरित व्यक्तित्व भी उभर उठा है। अत. अप्रस्तुत-योजना के लिए कवि संस्कृत-साहित्य की अमूल्य राशि का अनायासैव अवलम्ब ले लेता है। दूसरी बात है प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में रूप, रंग, आकार आदि की नितान्त उपेक्षा तथा केवल प्रभाव का ही आधार; रूप, रंग आदि की दृष्टि से तो ये अप्रस्तुत हास्यास्पद जान पड़ेंगे। शंकर को दिवाकर, मराल, कृशानु आदि तो माना भी जा सकता है परन्तु 'मार्जार' बनाना सम्माननीय नहीं—भले ही मोह रूपी मूषक के लिए शंकर को मार्जार बनना पड़े। इसी प्रकार 'अज्ञान' को 'राकेश' की पदवी देकर उसके विनाशक राम को 'विधुन्तुद' बनाने से उनके गौरव का ह्रास होता है, वृद्धि नहीं। भले ही अनुकूल व्याख्या करके हम इस स्थापना पर बल दें कि रात्रि स्वयं मोहरूपिणी है, उसका अंधकार अज्ञान है, परन्तु राकेश भी अज्ञान का ही रूप है, क्योंकि शंकर के अनुसार अज्ञान ज्ञान के अभाव का नाम नहीं प्रत्युत ज्ञान के विपर्यय की संज्ञा है, राकेश अपनी उद्दीपन शक्ति से रात्रि के मोह को और भी बलीयान् बना देता है इसलिये कवि ने 'अज्ञान' को 'राकेश' का रूप प्रदान किया है; उस विपरीत ज्ञान का विनाश भगवान् की कृपा से ही हो सकता है या तो ज्ञान-भानु के

प्रकाश में माया निद्रा से जागकर, या मोह रात्रि के अस्तित्व में ही अज्ञान राकेश के दास से वास्तविक निशा अपकार का अनुभव करें। निश्चय ही ज्ञानोपलब्धि तथा राम लाभ सबका काम्य है परन्तु सबको सुलभ तो ये नहीं। मन किंकर्त्तव्य रह गया वासना की रात्रि तो रहे परन्तु उसका उज्ज्वल रूप न दिखाई पड़े, उसकी कालिमा का अनुभव कर हम उसका त्याग कर दें, भक्ति काल में त्याग और वैराग्य की यह प्रणाली प्राय प्रचलित भी थी, तुलसी ने इसी अनुभव से राम के लिए अज्ञान राकेश शासन विधुन्तुद' विशेषण का प्रयोग किया है। इतनी सूक्ष्म व्याख्या पाठक को कवि की अपेक्षा व्याख्याकार के प्रति अधिक श्रद्धालु बना सकेगी, क्योंकि इसमें व्याख्याकार की मननशीलता ही प्रशंसनीय है। कवि ने इतनी गहराई से न सोचा होगा, परन्तु उसके संस्कार सूक्ष्म-सूत्रों के द्वारा ऐसा निर्माण कर सकते हैं फिर भी पाठक के समक्ष इतनी सूक्ष्मता काव्य-गुण वर्द्धिनी नहीं, भले ही ये सूत्र कवि के सूक्ष्म व्यक्तित्व के अनिवार्य साक्षी हों।

हम यह कह चुके हैं कि कवि पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव है, उस प्रसंग में हमारा अभिप्राय संस्कृत के धार्मिक तथा पौराणिक साहित्य से नहीं प्रत्युत काव्य साहित्य से था। मोह मूषक मार्जार में वस्तुत सामान्य रूपक अलंकार नहीं है, रूपक में प्रस्तुत अप्रस्तुत का अभेद वर्णित किया जाता है, यहाँ 'मोह-मूषक' तथा 'शिव मार्जार' प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से तो रूपक है परन्तु काव्य की दृष्टि से नहीं, क्योंकि अभेद कल्पनाओं से सौन्दर्य की सृष्टि नहीं होती। यदि इस पद्धति की व्याख्या करना हो तो इसका विस्तार होगा 'मार्जार इव मोह-मूषकस्य हन्ता'। कवि ने कुत्सित स्पष्टतया ऐसे प्रयोग किये भी हैं, 'पाप पुञ्ज मुञ्जाटवी अनल इव निमिष निर्मूलकर्त्ता' (पद संख्या ५५) का अन्वय 'अनलमिव निमिषे पाप-पुञ्ज मुञ्जाटव्या निर्मूलकर्त्ता' होगा। यह बाणभट्ट की गद्यशैली का प्रभाव है, ऐसे अप्रस्तुतों की साधिकार योजना से 'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति' वाली उक्ति प्रचलित हो गई थी। कादम्बरी में ऐसे स्थलों पर अप्रस्तुत-सामग्री प्राय पुराणेतिहास से ली है और उस अद्वितीय कथाकार के अप्रस्तुत श्लेष की कला में नाचते हैं केवल ये दोनों गुण ले लिए। परन्तु तुलसी ने ये विशेषताएँ स्वीकार न कीं प्रत्युत लौकिक या तत्कालीन जीवन की सामयिक सामग्री से असंश्लिष्ट अप्रस्तुतों की योजना की। अस्तु, तुलसी की अप्रस्तुत योजना में जो दोष माना जा सकता है वह वस्तुत परम्परा का स्मरण करा देने वाला गुण ही है। यद्यपि इस प्रकार की अप्रस्तुत योजनाएँ एक पद में एक-दो से अधिक नहीं हैं इसलिए 'कादम्बरी-सम सौन्दर्य की प्राप्ति पत्रिका' में सम्भव नहीं, फिर भी निम्नलिखित पद का सौन्दर्य अवलोकनीय है—

रघुवंश-कुमुद सुखप्रद निसेस।
अति प्रबल मोह-तम मारतंड।
अज्ञान-गहन-पावक प्रचंड॥
अभिमान सिंधु-कुंभज उदार।
रागादि-सर्पगन पन्नगारि।
कंदर्प-नाग-मृगपति मुरारि॥ (पद संख्या ६४)

इस पद का संस्कृत में अनुवाद इस प्रकार होगा—

निशेश इव रघुवंश-कुमुदस्य सुखप्रदः।
अतिप्रबलस्य मोह-तमसो मार्त्तण्ड इव।
गम्भीराज्ञानस्य प्रचण्डपावक इव।
अभिमान-सिन्धोः उदार-कुम्भज इव।
रागादि-सर्पगणस्य पन्नगारिवत्।
कन्दर्प-नगस्य मृगपति इव (जयी) मुरारिः॥

इन योजनाओं में 'साधान्य धर्म' का अप्रयोग है और एक-दो पद (जैसे 'उदार', 'मुरारि' आदि) व्यर्थ भी रख दिये हैं। सूक्ष्म सौन्दर्य का ,व्याख्यापूर्वक अन्वेषण न भी किया जाय तो भी वाह्य-सौन्दर्य मात्र के लिए काव्य-परम्परा' के अत्याधानपूर्वक सरक्षण के कारण तुलसी की यह सौन्दर्य-सामग्री अमूल्य है। 'पत्रिका' तथा 'मानस' के तथा-कथित सदोष सौन्दर्य-स्थल इस रहस्य को समझकर उपयुक्त संस्कृतानुवाद द्वारा महार्घ दिखलाई पड़ेंगे—

(क) सेवत लखन सिया-रघुबीरहिं।
ज्यों अविवेकी पुरुष शरीरहिं॥ (मानस)
अविवेकी पुरुषः शरीरमिव।
लक्ष्मणः सीतारामं सेवते॥ (संस्कृतानुवाद)

(ख) ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिए करुनाकर पावन प्रेम पीन को॥२६९॥
नागरी स्पृहयते यथा स्वभावादेव नवीन—नागराय
हृदयं मे तथैव पावनाय तव प्रेम्णे। (संस्कृतानुवाद)

'विनयपत्रिका' की उक्त सौन्दर्य राशि तुलसी की स्वकीय विशेषता है, जिसकी 'मसि-कागद' न छूने की प्रतिज्ञा करने वाले सहज कवियों में खोज ही व्यर्थ है। परन्तु तुलसी में सांग रूपक भी हैं, वे सांग रूपक जो उस युग की एक विशेषता थे। तुलसी के सांग रूपक कबीर के नहीं प्रत्युत सूर के सांग रूपकों की जाति के है, उनकी सामग्री लोक-कर्म से नहीं आई प्रत्युत वैष्णव जीवन से प्राप्त है। साँग रूपकों की संख्या अधिक नहीं फिर भी मूल्य अधिक है—

(क) देखो देखो बन बन्यो आजु उमाकंत। मनो देखन तुमहिं आई ऋतु बसंत॥
कर नवल वकुल-पल्लव रसाल। श्रीफल कुच, कंचुकि लताजाल॥

---

१. 'विनयपत्रिका' के जिन स्थलों पर यह अप्रस्तुत सामग्री मिलती है उन स्थलों की 'भाषा' का एक रूप निम्नलिखित भी है—

(क) तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्
येन श्रीराम-नामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥४६॥

(ख) यत्र कुत्रापि मम जन्म निज-कर्म-वश भ्रमत जगयोनि संकट अनेकम्।
तत्र त्वद्भक्ति सज्जन-समागम सदा भवतु मे रामविश्राममेकम्॥५७॥

आनन सरोज, कच मधुप पुंज। लोचन विशाल नव नीलकंज॥
पिक-बचन चरित वर बरहि कीर। सित सुमन हास, लीला समीर॥१४॥

(ख) सेइय सहित सनेह देहभरि कामधेनु कलि कासी।
अन्तर अयन अयन भल, थन फल बच्छ वेद विश्वासी।
गलकम्बल वरुना विभाति, जनु लूम लसति सरितासी॥२२॥

(ग) ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।
अशुभ शुभ कर्म घृतपूर्ण दस वर्तिका, त्याग पावक, सतोगुण प्रकाशम्।
भक्ति-वैराग्य विज्ञान-दीपावली अर्पि नीराजनं जगनिवासम्॥४७॥

(घ) सुभग सौरभ धूप दीप वर मालिका।
उड़त अघ विहग सुनि ताल-करतालिका।
भक्त हृदि भवन अज्ञान तम हारिनी।
विमल विज्ञानमय तेज विस्तारिनी॥४८॥

(ङ) बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचँद मन्द मोल बिनु डोला रे।
विषम कहार मार मदमाते चलहिं न पाउँ बटोरा रे॥१८९॥

इन उदाहरणों में सांग रूपकों की सभी विशेषताएँ सन्निविष्ट हैं। तुलसी ने लोक जीवन से सामग्री केवल एक रूपक में ली है, शेष में तो वैष्णव जीवन से ही है। इन रूपकों में 'मनो', 'जनु', 'सी' आदि शब्दों के प्रयोग से शास्त्रीय दृष्टि से 'रूपक' नाम उपयुक्त नहीं है, या तो 'उत्प्रेक्षा रूपक' संज्ञा कुछ समीप लगती है या 'रूपक-बंध'। आरती के ये रूपक तुलसी में हैं लगभग वैसे ही सूर में भी (तुलना कीजिए—'हरिजू की आरती बनी')। काशी को कामधेनु का स्वरूप प्रदान भी धार्मिक दृष्टि से ही है, यहाँ भी सौन्दर्य सूक्ष्म ही है स्थूल नहीं। वन के सौन्दर्य को देखकर वसन्त के आगमन की सूचना दूसरे कवि भी दे सकते थे परन्तु तुलसी के इस पद में विशेषता है, उत्प्रेक्षा और रूपक का मिश्रण सौन्दर्य को चमका देता है। तुलसी न जाने क्यों इस पद में वसन्त को रमणी का रूप दे बैठे और उसके कुच और 'कंचुकि' का भी वर्णन करने लगे। काव्यकला की दृष्टि से 'पत्रिका' के रूपक उतने मूल्यवान नहीं जितने कि 'मानस' के।

'पत्रिका'-गत तुलसी की अप्रस्तुत योजना में साधर्म्य की निम्नांकित सामग्री भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है —

(क) विमल तरंग लसत रघुबर के से चरित।१९।
(ख) ब्रह्म जीव सम राम नाम जुग आखर विश्वविकासी।२२।
(ग) समर तैलिकयन्त्र तिल-तमीचर निकर पेरि डारे सुभट घालि घानी।२५।
(घ) ज्ञान अवधेस गृह गेहिनी भक्ति शुभ, तत्र अवतार भूभारहर्त्ता।५८।
(ङ) विकटतर वक्र क्षुरधार प्रमदा।६०।
(च) पायो नाम चारु चिन्तामनि, उर कर ते न खस हौं।१०५।
(छ) कामधेनु धरनी कलि गोमर विवस।१३६।

(ज) सुत-वित-दार-भवन-ममता-निसि ।१४०।

(झ) अंजन-केस-सिखा जुवती तहँ लोचन-सुलभ पठावौं ।१४२।

(ञ) भूल्यौ सूल कर्म-कोल्हुन तिल ज्यों बहु बारनि पेरो ।१४३।

(ट) बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ।१७३।

गंगा की तरंगें ऐसी निर्मल हैं जैसे राम का चरित; यहाँ प्रस्तुत मूर्त्त है, परन्तु अप्रस्तुत मूर्त्त नहीं हैं; हिन्दी के पुराने साहित्य में ऐसे अप्रस्तुत विरल ही है। तैलिक-यन्त्र तथा मृत्तिका-घट दो अप्रस्तुत शुद्ध ग्रामीण जीवन से आये हैं, कोल्हू मे पेरने की सजा उस युग में सुनी जाती होगी, आजकल इसकी कल्पना से ही रोमाच हो जाता है; जब किसी आदमी से बहुत काम लिया जाय तो कहते हैं कि उसका तेल निकाल लिया, कर्म की गति ऐसी ही यातनाएँ दे दिया करती है। कच्चे घड़े को पानी में[1] डालिए वह टूटकर मिट्टी बन जायगा, इसी प्रकार अतृप्त मन से सन्यास लेकर समाज में अनर्थ ही होते हैं—कहीं भी मन डिग सकता है, 'बिगरत' का बड़ा सुन्दर प्रयोग है, घड़ा तो पानी मे जाते ही बिगड़कर मिट्टी बन जाता है, मन भी ससार की किसी भी वस्तु पर बिगड़ जाता है और मिट्टी मे मिला देता है। ज्ञान-विहीन भक्ति या भक्ति विरोधी ज्ञान से भगवान् को प्राप्त नही किया जा सकता; ज्ञान विहीन भक्ति असहाय है और भक्ति-हीन ज्ञान अपूर्ण एवं कठोर है; इसीलिए ज्ञान पति है तो भक्ति उसकी पत्नी है; जब यह दम्पति अनन्य भाव से तप करता है तब इसको सन्तान के रूप मे भगवान् की प्राप्ति होती है; तुलसी ने 'मति' को भी नारी माना है; यह आश्चर्य है कि हृदय की सभी कोमल तथा उदार भावनाएँ स्त्री-रूपिणी ही हैं। 'उर-कर' का रूपक बड़ा विचित्र है, प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों ही एक ही शरीर में सम्मुख उपस्थित हैं, दोनों में एक धारण-शक्ति रूपी गुण की ही समानता है। 'कलि' को 'गोमर' कह-कर गोस्वामी जी ने कलि का मुख्य अभिशाप गो-हत्या बतलाया है और उसके फल-स्वरूप भूतल पर अकाल आदि आपत्तियों का भी विश्लेषण कर दिया है। 'मानस' में युवती को दीप-शिखा के समान बतलाकर मन को शलभ बनने से रोका गया था—'दीपसिखा सम जुवति-जन, मन जनि होसि पतंग', परन्तु 'पत्रिका' में 'लोचन' को शलभ बनाया गया है और नेत्रों के अनेक विषयो में से युवती के केवल 'अंजन' तथा 'केश' को ही संयोगपूर्वक 'शिखा'[2] माना है। अजन-केश-युक्ता युवती दीपशिखा (के समान) है, नेत्र उस पर टूटते हैं और स्वाहा हो जाते हैं। नेत्रों के अनेक विषय हैं उनको अच्छे लगने वाले परन्तु जितनी कामोद्दीपक शक्ति अंजनयुक्त नेत्रों में होती है उतनी सागराग मुखं, सलिल कपोल या साभूषण कान में नही—युवती अजनयुक्त नेत्रों से किसी की ओर देख ले, बस पंचशायक का प्रथम प्रहार हो गया। तब विद्ध

१. घड़े को पानी में डालने के स्थान पर पानी को घड़े में डालना भी अर्थ हो सकता है, पानी माया है और घड़ा कच्चा मन।

२. 'अंजन-केश' का अर्थ 'दीपक' भी हो सकता है, तब यह सौन्दर्य बिल्कुल 'मानस' की नकल होगा।

(ग) अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरचौं।
निज तालूगत रुधिर पानि करि मन सन्तोष धरचौं ॥९२॥

(घ) घृत पूरन कराह अन्तरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै।
ईंधन अनल लगाइ कलप सत औटत नास न पावै।
तरु-कोटर महँ बस बिहँग, तरु काटे मरै न जैसे।
साधन करिय विचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे ॥११५॥

(ङ) वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुन भवपार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई ॥१२३॥

इन दृष्टान्तों की प्रथम विशेषता यह है कि इनका उपयोग 'विनयपत्रिका' के उस भाग में हुआ है जहाँ, स्तुति का अवसान हो जाता है और फलतः उपरिकथित रूपक सौन्दर्य की आवश्यकता नहीं रहती। दूसरी विशेषता इनका दार्शनिक स्वरूप है, कवि को ये काव्य-परम्परा से नहीं दार्शनिक वातावरण से प्राप्त हुए हैं। किसी-न-किसी प्रकार से माया या अज्ञान ही इनके प्रस्तुत विषय है, और 'पत्रिका' में इनकी आवृत्ति नहीं हुई। जिस भाषा में ये व्यक्त हुए हैं वह इस बात का प्रमाण है कि कवि ने मननपूर्वक इनको स्वयमागत तथा अनिवार्य रूप में ग्रहण किया है; ये भार-स्वरूप या बौद्धिक मात्र नहीं प्रतीत होते। इसमें सन्देह नहीं कि इन दृष्टान्तों का आदि उद्गम लोक-जीवन से ही हुआ था परन्तु शनैः शनैः दार्शनिकों ने अपनाकर इनको उच्च स्तर प्रदान कर दिया, तब से ये विशेष समाज में आदरास्पद बन गये। तुलसी में लोक-जीवन के सामान्य मौलिक दृष्टान्त कम ही हैं—

(क) करम वचन हिये कहौं न कपट किये,
ऐसी हठ जैसी गाँठि पानी परे सन की ॥७५॥

(ख) जो श्रीपति-महिमा विचारि उर भजते भाव बढ़ाए।
तौ कत द्वार-द्वार कूकर ज्यों फिरतै पेट खलाए ॥१६८॥

चमत्कारी आलोचक 'पत्रिका' में साहित्यिक-मात्र सौन्दर्य की प्रशंसा किये बिना न रहेगा; तुलसी जैसे महान् साहित्यसेवी के लिए यह संभव न था कि शुद्ध परमार्थिक काव्य में वे आलंकारिक आभा की नितान्त अवहेलना कर देते। "**बावरो रावरो नाह, भवानी**", "**जौ निज मन परिहरै बिकार**", "**अब लौं नसानी, अब न नसैहौं**", "**केशव, कहि न जाइ का कहिए**" आदि पदों का चमत्कार निश्चय ही अपूर्व है। ध्यान देने पर स्तुति-परक अंश में शब्दों के बड़े मनोहर चमत्कार मिलते हैं; प्रायः एक ही वर्णन का सविनय आग्रह किसी प्रच्छन्न योजना का सूचक है; इस दृष्टि से पद संख्या ५६ को देखा जा सकता है, 'द', 'भ', 'व', 'स', 'मि' 'भ', 'क', आदि के वर्ण रोचक तो है ही, इनके मूल में कोई सैद्धान्तिक गहराई भी अवश्य खोजी जा सकती है; संभव है इस चमत्कार पर तान्त्रिक प्रभाव हो या मान्त्रिक रुचि व्यक्त हो गई हो; तुलसी ने उन सभी का मनन तो किया ही था।

'विनयपत्रिका' तुलसी की सबसे उत्कृष्ट रचना है, व्यक्तित्व के आन्तरिक तथा बाह्य पक्षों का जितना अधिक सौन्दर्य इस रचना में है उतना किसी दूसरी में नहीं।

व्यक्तित्व की सच्ची झलक होने के कारण ही इसमें उदात्त तन्मयता तथा गूढ़ सौन्दर्य की सामान्य उपलब्धि होती है। अन्य रचनाओं की भाषा यहाँ प्राय प्रायुक्त नहीं हुई, 'मानस' तथा 'पत्रिका' का प्राय भिन्न मानसिक स्थिति में रचे गये हैं। 'पत्रिका' के बीच स्पष्ट संस्कृत गद्य-साहित्य से प्रेरित होकर कवि के विनय में नवीन सम्भावनाओं को प्रेरित करते हैं। रूप, रंग, आकार आदि की नितान्त उपमा तुलसी के विकसित व्यक्तित्व का भी प्रमाव है। 'पत्रिका' तक आते आते शैली, भाव तथा विचार सबमें कवि का पूर्ण विकास लक्षित होता है। इस दिशा में अप्रस्तुत सामग्री जितनी सहायक है उतनी कदाचित् प्रस्तुत नहीं। 'पत्रिका' के पदों में तन्मयता तथा अनुभूति का साम्राज्य प्रौढ़ता की उपज है, स्वर्ग की बात छोड़िए, भगवान् से वरदान माँगते समय भी तुलसी की शैली विशिष्ट हो गई है वे मीन के समान अनन्य प्रेम की याचना कितनी अमूल्य शब्दावली में करते हैं—

> करुनानिधान बरदान तुलसी चहत
> सीतापति भक्ति-सुरसरि-नीर मीनता ।२६२।

केशवदास

हिन्दी साहित्य के निर्माताओं में केशवदास का व्यक्तित्व एकदम निराला था। उनका अध्ययन संस्कृत काव्य-परम्परा में होना चाहिए, हिन्दी प्रवृत्तियों में नहीं। आचार्यत्व और कवित्व का ऐसा मणि काञ्चन-संयोग किसी और कृती के व्यक्तित्व में उपलब्ध नहीं होता। केवल साहित्य प्रेम के कारण साहित्य-सेवा केशव की अपूर्व विशेषता है। जन्म-ज्ञान तथा व्यावसायिक जो परिस्थितियाँ केशव को अनायास ही मिल गई वे किसी अन्य कवि या आचार्य को कल्पना में भी सुलभ न थीं। उच्चतम ब्राह्मण वंश में जन्म, यशोधन पिता पितामह का गर्व, संस्कृत-साहित्य की अपार राशि पर अधिकार तथा मुधन्य राज घराने में गुरु-पद उनके व्यक्तित्व तथा काव्य में ओज एवं उत्तुंगता के स्थूल आधार हैं। उनसे पूर्व भाषा में जैनों और बौद्धों के दूरागत प्रभाव से जिस साहित्य की सृष्टि हुई थी उसका एकदम बहिष्कार करके केशवदास ने क्लासिकल संस्कृत साहित्य की परम्परा में रचना की यद्यपि उस अनुकार्य से पूर्व तथा उत्तर की परम्पराएँ भी कुछचित् इस प्रयत्न को स्पर्श कर जाती हैं।

केशवदास की ११ रचनाएँ भगवानदीन ने[1] मानी है जिनमें से कम से कम ७ प्राप्य भी हैं। प्राप्य कृतियों में से 'विज्ञानगीता' दार्शनिक है, 'जहाँगीर-चन्द्रिका', 'वीर सिंह देव चरित्र', तथा 'रतन-बावनी' सामान्य प्रबन्ध काव्य हैं, और 'रसिकप्रिया' 'कविप्रिया' तथा 'रामचन्द्रिका' प्रौढ़ रचनाएँ हैं। 'रसिक प्रिया' और 'कविप्रिया' क्रमशः रस तथा अलंकार की पुस्तकें हैं, इनका निर्माण कवि शिक्षा के उद्देश्य से हुआ था। 'रामचन्द्रिका' में एक उद्देश्य छन्द शिक्षा भी रहा है, परन्तु यह केशवदास की कवित्व शक्ति की मुख्य माप है।

व्यक्तित्व के अध्ययन की दृष्टि में रखकर केशवदास की रामचन्द्रिकेतर कृतियों

---

१ केशव-पञ्चरत्न, प्राक्कथिका, पृष्ठ ७।

का अवलोकन करते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें उन प्रवृत्तियों के बीज निहित थे जो कालान्तर में विकसित होकर भाषा में एक नवीन युग का निर्माण कर सकी, उनमें उस प्रौढ़ता का प्रकाशन प्रतिविम्बत नहीं होता जो 'रामचन्द्रिका' में उपलब्ध है। यह वस्तुत: आश्चर्य का विषय है कि आचार्य कवि केशवदास पर सामयिक प्रभाव अत्यल्प है; या तो परम्परा का प्रतिविम्ब है या भविष्य का आभास; सामयिक प्रवाह में न बहकर अपनी प्रतिभा से अधिक प्रौढ़ आदर्श उपस्थित करनेवाले कलाकारों में केशव का नाम स्मरणीय है। उनकी 'रतनबावनी' में वीरगाथा-काव्य का पर्याप्त[1] प्रभाव है, परन्तु 'रसिक-प्रिया' तथा 'कवि-प्रिया' रीतिकाल का आभास[2] देती है। उनको 'हृदयहीन' बना देनेवाली प्रौढता का भक्तिकालीन करुणा तथा रीतिकालीन रसिकता से स्वतन्त्र रूप तो 'रामचन्द्रिका' में ही पद-पद पर मिलता है। अस्तु अप्रस्तुत-योजना की दृष्टि से 'रामचन्द्रिका' ही मननीय है।

रामचन्द्रिका

हम ऊपर कह चुके हैं कि केशव की अप्रस्तुत-योजना की मुख्य विशेषता अद्यतन के स्थान पर अनद्यतन अतीत की परम्परा का निर्वाह है, 'चन्द्रिका' में इस गुण की मात्रा इतनी अधिक है कि अन्त.प्रमाण के आधार पर (ऐतिहासिक तथ्यों को छाँट देने पर) इसका कालनिर्णय कठिन हो जायगा। आचार्य केशव अनद्यतन अतीत को भाषा-रूप देना चाहते थे, कवि केशव ने भी वही किया। 'चन्द्रिका' का प्रस्तुत पक्ष भी वाल्मीकि से जितना प्रभावित है उतना जयदेव कवि से नहीं, और जयदेव कवि की जितनी मान्यता है उतनी समकालीन तुलसीदास की नहीं; असंस्कृत परम्पराओं का अधिक प्रश्न नहीं आता।

यदि अप्रस्तुत सामग्री पर ध्यान दें तो क्वचित् तो शब्द, वाक्यांश, तथा वाक्य तक संस्कृत से चले आते हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।
मूलानामधोगतिः। (कादम्बरी)

(ख) होम-हुताशन-धूम नगर एकै मलिनाइय।
यत्र च मलिनता हविर्धूमेषु न चरितेषु। (कादम्बरी)

(ग) विधि के समान है विमानीकृत राजहंस।
कमलयोनिरिव विमानीकृत राजहंसमण्डलः। (कादम्बरी)

---

१. यथा अप्रस्तुत-योजना में—
(क) इक इक घाउ घल्लिव सवन, रतनसेन रनधीर कहँ।
जनु ग्वाल बाल होरी हरषि संडल छोर अहीर कहँ॥

२. यथा मुगलकालीन जीवन का—
(क) देखत तुम्हें गुपाल तिहिं काल उहिं बाल,
उर शतरंज कैसी बाजी राखी रचि कै। (रसिकप्रिया)
(ख) चलिहै क्यों चन्द्रमुखी कुचनि के भार भये,
कंचन के भार तें लचकि लंक जाति है। (कविप्रिया)

(घ) भगीरथ-पथ-गामी गंगा कैसो जल है।
गंगाप्रवाह इव भगीरथ-पथ प्रवृत्त। (कादम्बरी)

(ङ) विविध विबुध-युत मेरु सो अचल है।
मेरुरिव विबुधालय। (वासवदत्ता)

(च) दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बस है।
दिलीप इव सुदक्षिणानुरक्त। (वासवदत्ता)

(छ) सागर उजागर की बहु बाहिनी को पति।
जलनिधिरिव वाहिनी गण-नायक। (वासवदत्ता)

(ज) छनदान प्रिय किधौं सूरज अमल है।
रविरिव क्षणदानप्रिय। (वासवदत्ता)

(झ) आसमुद्र क्षितीश।
आसमुद्र क्षितीशानाम्। (रघुवंशम्)

(ञ) श्रीराम लक्ष्मण अगस्त्य सनारि देख्यो।
स्वाहा समेत शुभ पावक रूप लेख्यो॥
दिशे सायन्तनस्याग्ने स ददर्श तपोनिधिम्।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्॥ (रघुवंशम्)

(ट) ते न नगरि ते नागरी, प्रतिपद हंसक हीन।
जलजहार शोभित न जहँ, प्रगट पयोधर पीन॥
नास्ति सा नगरी यत्र न वापी न पयोधरा।
दृश्यते न च यत्र स्त्री नवापीनपयोधरा॥ (नलचम्पू)

(ठ) जहाँ वारुणी की करी, रंचक रुचि द्विजराज।
तहाँ कियो भगवन्त, बिन संपति शोभा साज॥
वद विधुन्तुदमालि मदीरित-
स्त्यजसि किं द्विजराजधिया रिपुम्।
किमु दिवं पुनरेति मदीरितं
पतन एव निषेव्य हि वारुणीम्॥ (नैषधम्)

'प्रसन्नराघव' नाटक से तो 'रामचन्द्रिका' के अनेक अंशों की समानता है। समस्त स्थल उद्धृत नहीं किये जा सकते फिर भी स्वयंवर का प्रसंग तुलना के योग्य है। जयदेव कवि के नूपुरक तथा मंजीरक केशव में सुमति तथा विमति बन गये हैं और उनका वार्तालाप 'चन्द्रिका' में यथावत् सन्निविष्ट हो गया है—

(क) शोभित मंचन की अवली।
मञ्चावलीवसथ-भाकलित विमानि।

(ख) देखन स्वर्ग जनु देवसभा शुभ सीय-स्वयंवर देखन आई।
सीता-स्वयंवर विलोकन-कौतुकेन
पुञ्जीकृतानि दिशामिव चकरानम्॥

(ग) जेहि यज्ञ-परिमल-मत्त, चञ्चरीक चारण फिरत।

दिसि विदसन अनुरक्त, सो तौ मल्लिकापीड़ नृप ॥
निजयशःपरिमल-प्रमोदित-चारण-चञ्चरीक-चय कोलाहल-मुखरित-दिक्चक्रवाल-क्ष्मापाल-कुन्तलालंकारो मल्लिकापीडो नाम ।

(घ) राजराजदिगवाम, भाल-लाल-लोभी सदा ।
अति प्रसिद्ध जग नाम, कासमीर को तिलक यह ॥
कुबेर दिगङ्गना-ललाट-तट-विलास-लम्पटः काश्मीर-तिलकः ॥

(ङ) जानहिं बुद्धिनिधान, मत्स्यराज यहि राज को ।
समर समुद्र समान, जानत सब अवगाहि कै ॥
सोऽयमसमरण-महार्णवैकमकरो मत्स्यराजः ॥

(च) चन्दन-चित्र-तरंग, सिंधुराज यह जानिए ।
बहुत वाहिनी संग, मुक्तामाल विशाल उर ॥
विमल-मुक्तावली-विराजमान-वक्षस्तट-तुंग-भुज-तरंगः सिन्धुराजः ॥

'प्रसन्नराघव' तथा 'हनुमन्नाटक' के सभी उद्धरण देना संभव नहीं, उनकी संख्या अपार है; फिर भी पूर्व सादृश्य के कुछ उदाहरण हमने दे दिये हैं; कुछ अन्य भी देखिए—

(क) अंग छ सातक आठक सों भव तीनहु लोक में सिद्धि भयी है ।
वेदत्रयी अरु राजसिरी परिपूरणता शुभ योगमयी है ॥
अंगैरङ्गीकृता यत्र षड्भिः सप्तभिरष्टभिः ।
त्रयी च राज्यलक्ष्मीश्च योगविद्या च दीव्यति ॥

(ख) जिन अपनो तन स्वर्ण, मेलि तपोमय अग्नि में ।
कीन्हों उत्तम वर्ण, तेई विश्वामित्र ये ॥
यः काञ्चनमिवात्मानं निक्षिप्याग्नौ तपोमये ।
वर्णोत्कर्षं गतः सोऽयं विश्वामित्रो मुनीश्वरः ॥

(ग) सब छत्रिन आदि दै काहु छुई न छुवै बिजनादिक बात डगै ।
न घटै न बढ़ै निशि वासर केशव लोकन को तमतेज भगै ॥
भव भूषण भूषित होत नहीं मदमत्त गजादि मसी न लगै ।
जलहू थलहू परिपूरण श्री निमि के कुल अद्भुत ज्योति जगै ॥
छत्रच्छाया तिरयति न यन्न च स्प्रष्टुमीष्टे,
पुष्यद्गन्धद्विपवमथी-पङ्कनामा कलङ्कः ।
लीलालोलः शमयति न यच्चामराणां समीरः,
स्फीतं ज्योतिः किमपि तदमी भूभुजः शीलयन्ति ॥

(घ) यह कीरत और नरेशन सोहैं ।
सुनि देव अदेवन को मन मोहैं ॥
हमको बपुरा सुनिए ऋषिराई ।
सब गांउं छ सातक की ठकुराई ॥
इदमस्मत् प्राचीनेषु शोभते न तु मयि कतिपयग्रामटिका-स्वामिनि ॥

(ङ) अपने अपने ठौरनि तौ भुवपाल सबै भुव पालें सदाई ।
केवल नामहि के भुवपाल कहावत है भुव पालि न जाई ॥
भूपति की तुमही धरि देह विदेहन में कल कीरति गाई ।
केशव भूषन की भवि भूषण भू सन तें तनया उपजाई ॥
अवनिमवनिपाला सङ्घशः पालयन्ताम्,
अवनिपतियमात्तु त्वां विना नापरस्य ।
जनक कनकगौरी यत्प्रसूता तनूजां,
जगति दुहितृमन्तं भूभृतः यं विनेते ॥
(च) यह विधि की चित चातुरी, तिनकी कहा अकत्थ ।
लोचन की रचना रुचिर, रचिव कौं समरत्थ ॥
नूतन भुवन निर्मा निपुणस्य भगवतः क्रियनीयमभिनव चतुर-चातुरी नाम ॥

प्रशस्य परिवर्त्तन

ऊपर दिये हुए तथा संकेतित स्थलों से पाठकों को ऐसी भ्रान्ति हो सकती है कि केशवदास वस्तुतः संस्कृत साहित्य की सामग्री को ही भाषा पाठक के सम्मुख रख कर आचार्य और कवि बन गये थे परन्तु यह विचार उचित नहीं है । दूसरे की कृति अथवा युवति[१] का हरण करनेवाला समुद्र के पार जाकर भी सुखभाजन नहीं बन सकता इसलिए स्वनामधन्य कवियों ने नूतन निर्माण किया है परापहरण नहीं । अवश्य ही दूसरे पूर्ववर्ती अथवा समकालीन कवियों के प्रभाव से वे अप्रभावित नहीं रहे, यह गुण है दोष नहीं, और यह सहज दृष्टिगत भी होता है, अध्ययनशील कलाकार परम्परा से निराली एक सामयिक कृति में अपनी प्रतिभा का अपव्यय नहीं कर सकता। "बिना लीक तीनों चलें, सायर, सिंह सपूत' वाली मौलिकता इतनी सस्ती है कि हमारे किसी भी महत्व कवि ने इसको नहीं अपनाया । और अन्य भाषा के भावों का सफल अनुवाद कोई दोष भी नहीं विशेषतः जबकि उन भाषाओं में जननी तथा आत्मजा का सम्बन्ध हो । यदि केशव हिन्दी के ही किसी कवि के भाव तथा वाक्य ले लेते तो उनका यह कृत्य चोरी कहलाता अथवा संस्कृत के भावों को विकृत करके उपस्थित करते तो उनकी अपात्रता सिद्ध हो जाती । परन्तु उन्होंने संस्कृत साहित्य से जो भाव लिये हैं उनकी अभिव्यक्ति उसी अधिकार से की है—कहीं-कहीं तो वे संस्कृत के कवि से आगे बढ़े हुए दिखाई देते हैं ।

कादम्बरी आदि की सामग्री को अनूदित करके केशव ने रख दिया है, यह तो ऊपर के अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है अब सौन्दर्य-वृद्धिकारी परिवर्तनों के कुछ स्थल देखिए—

(क) यस्य च प्रतापानलदग्धानां रिपुसुन्दरीणां करतलताडनभीतैरिव मुक्ताहारै

१ सुललितपदनाम उदारवृत्ताम्, कृतिमथवा युवतिं परस्य हृत्वा ।
तम्मदि परमगास्य गत्वा, यदि कतर सुखभाजनं जनः स्यात् ॥
(जयदेवस्य प्रसन्नराघवे)

पयोधरपरिसरो मुक्तः । (वासवदत्ता)

उत्सादित-द्विषदिन्धनमपि ज्वलत्प्रतापानलम् । (कादम्बरी)

यद्यपि ईंधन जरि गये, अरिगण केशवदास ।

तदपि प्रतापानलन के, पल-पल बढ़त प्रकाश ॥ (रामचन्द्रिका)

सुबन्धु ने रिपु सुन्दरियों को प्रतापानल से जलाकर उनके मुक्ताहार को स्तनाभोग से अलग कर दिया है, बाण ने इस कथन में विरोध का चमत्कार भरा और रिपुओं को ईंधन बना डाला, केशव ने अरि-गण को ईंधन ही बनाया है परन्तु विरोध का और अधिक आग्रह करके प्रतापानल को वृद्धिमान् अतः प्रकाशपूर्ण कर दिया । केशव को प्रेरणा बाण से ही मिली है, परन्तु वे इस चमत्कार को सफलतापूर्वक आगे बढ़ा सके हैं ।

(ख) पुष्पवत्यपि पवित्रा । (कादम्बरी)

पुनि पुष्पवती तन अति अति पावन गर्भ सहित सब सोहै ॥ (चन्द्रिका)

कादम्बरीकार के विरोध का आधार एक सामाजिक नियम है; जो स्त्री रजस्वला होगी वह अपवित्र तथा अस्पृश्य मानी जाती है । परन्तु केशव एक कदम और आगे बढ़ गये; उनकी 'वनबारी' रजस्वला होते हुए भी 'अति पावन' तो है ही, गर्भवती (=गर्भ सहित) भी है; यह प्रकृति-विरोध है—गर्भवती रजस्वला नहीं हो सकती ।

(ग) मातङ्ग-कुलाध्यासितमपि पवित्रम् । (कादम्बरी)

मदमत्त यदपि मातंग संग ।

अति तदपि पतित-पावन तरंग ॥ (राम०)

बाणकवि ने मातंगों के संसर्ग में भी पवित्रता घोषित की है, परन्तु केशव पवित्र ही नहीं पतित-पावन बना देते हैं, यहाँ विरोध अधिक शक्तिशाली है ।

(घ) कपीनां श्रीफलाभिलाषः । (कादम्बरी)

श्रीफल को अभिलाष प्रकट कवि कुल के जी में । (राम०)

वानर फलप्रिय है, उसके मन में अन्य फलों के समान श्रीफल की अभिलाषा भी स्वाभाविक है, परन्तु किसी कवि के मन में श्रीफल की ही अभिलाषा क्यों हो ? न खाने के लिए, और न किसी की पूजा के लिए, बल्कि काव्य में जुटाने के लिए । 'श्रीफल' युवती के पयोधर का सनातन उपमान है; रसिक कवि अथवा संपन्न युवतियों का वर्णन करने के लिए इस फल का अनेक बार ध्यान करते हैं । केशव का यह परिसंख्या अलंकार अनेक व्यञ्जनाओं का स्थान है—उस नगर की सभी स्त्रियाँ रूपवती युवतियाँ हैं, कवि रसिक हैं तथा ऐसे सिद्धहस्त हैं कि वर्ण्य वस्तु के उपयुक्त उपमान सदा उनके 'जी में' रहते हैं ।

(ङ) तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा ।

पत्नी सुदक्षिणेत्यासीद् अध्वरस्येव दक्षिणा ॥ (रघुवंशम्)

दिलीप इव सुदक्षिणानुरक्तः । (वासवदत्ता)

दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बलु है । (राम०)

कालिदास ने यमक की सहायता से दिलीप के राजधिरत्व के लिए उसकी पत्नी को दक्षिणा बना दिया है, इसके विपरीत सुबन्धु ने दक्षिणा को प्रस्तुत बनाकर राजा का उसमें अनुराग निश्चित किया है, परन्तु केशव दोनों से आगे बढ़ गये। दक्षिणा यहाँ प्रस्तुत है सुबन्धु के अनुकरण पर ही, परन्तु वह राजा के अनुराग मात्र की ही भूमि नहीं, उसकी शक्ति का भी मूल है। दान द्वारा राजा किस प्रकार प्रजा को अनुरागी बना सकता है—यह केशव का राजनीतिक अनुभव जानता था। दूसरी ओर पत्नी की कितनी बड़ी शक्ति है इसे वे भाग्यशाली ही जानते हैं जिनको अच्छी पत्नी मिली है भारतीय दर्शन भी शक्तिहीन शिव को शव मान करके इसी सत्य की घोषणा कर रहा है।

(च) अविधवामिव सिन्दूरतिलकभूषिताम्। (वासवदत्ता)
कामिव विधवेयो मुक्त तालपत्रा। (कादम्बरी)
विधवा बनी न नारि। (राम०)

सुबन्धु ने 'सिन्दूर' तथा 'तिलक' के श्लेष में विन्ध्याटवी की तुलना सधवा स्त्री से की है, बाण ने इसका उलटा कर दिया और 'तालपत्र' पर श्लेष बनाकर प्रस्तुत की समता विधवा नारी से कर दी, केशव की रुचि परिसंख्या में अधिक है इसलिए 'विधवा' के श्लेष का वे इसी उपयोग में लाते हैं—प्रयोगवश 'बनी' का प्रयोग भी श्लिष्ट है। यह आश्चर्य की बात है कि संस्कृत के दोनों कवियों ने 'विधवा' के श्लिष्टार्थ की उपेक्षा करदी थी। इसमें सन्देह नहीं कि उपमा की अपेक्षा परिसंख्या अधिक चमत्कारवती है।

(छ) उपगीयमानकाव्यकथासु रथ्यासु। (वासवदत्ता)
अर्च्यमानहरिहरपितामहम्, वाच्यमान विविध पुस्तकम्, विचार्यमाण सकलशास्त्रार्थम्।
(कादम्बरी)

विचारमान ब्रह्म, देव अर्चमान मानिए।
अदीयमान दुःख, सुख दीयमान जानिए।
अदंडमान दीन, गर्व दंडमान भेदय।
अपठ्यमान पापग्रंथ, पठ्यमान वेदय॥ (राम०)

सुबन्धु ने जिस बात का संकेत भर किया था उसको बाण ने प्रसार प्रदान किया केशव की विशेषता प्रसार के साथ-साथ क्रम भी है। उच्चतम कर्म 'ब्रह्मविचार' से लेकर सामान्य नित्यकर्म 'स्वाध्याय' तक का क्रमिक वर्णन तपोवन के समस्त जीवन का चित्र उपस्थित कर देता है।

(ज) अनपजन भोग्यतामुपनीतयाप्यसाधारणया राजलक्ष्म्या समालिङ्-गितदेहम्। (कादम्बरी)
का गन कितने पुरुष की हैं कहत सब ससार सू। (राम०)

बाणकवि ने 'भोग्यतामुपनीता' वाक्यांश द्वारा जिस भाव की व्यंजना की है वह भाषा में आकर अधिक शिष्ट न रह सकता था, इसलिए केशव ने 'पुरुष कीन्हें' लिखकर अधिक परिमार्जित भाव की व्यंजना की है; संस्कृत-कवि राजलक्ष्मी को कुलटा नायिका बना देता है परन्तु भाषा-कवि ने उसको एक पति के बाद दूसरे को वरनेवाली पतिव्रता माना है।

(झ) नक्षत्रमालामिव चित्रश्रवणाभरणभूषिताम्। (कादम्बरी)

× × ×

शशि समीप सोहत मनो, श्रवण मकर नक्षत्र। (राम०)

संस्कृत के कवि ने मातंग कन्या को नक्षत्रमाला के समान माना है; परन्तु केशव ने मुख को शशि मानकर कान को श्रवण और कुण्डल को मकर नक्षत्र घोषित कर दिया। इस परिवर्त्तन के कारण सौन्दर्य में वृद्धि ही गई है।

मौलिकता—केशव ने अपनी अप्रस्तुत सामग्री में प्रशंसनीय परिवर्त्तन ही नहीं किये प्रत्युत अनेक स्थलों पर मौलिकता का भी परिचय दिया है। सर्वप्रथम उस मौलिकता को देखिए जो संस्कृत की ही छाया से आई है —

(क) रावण द्वारा अपहृता सीता का चित्र सभी कवियों का ध्यान आकृष्ट करता है, और वे अपने-अपने ढंग से कल्पनाएँ किया करते है। आदिकवि ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है —

पीतेनैकेन संवीतां क्लिष्टेनोत्तमवाससा।
सपङ्कामनलंकारां विपद्मामिव पद्मिनीम्॥
व्रीडितां दुःखसंतप्तां परिम्लानां तपस्विनीम्।
ग्रहेणाङ्गारकेणेव पीडितामिव रोहिणीम्॥
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव।
संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम्॥
सा प्रकृत्यैव तन्वङ्गी तद्वियोगाच्च कर्शिता।
प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता॥

'पद्मिनी', 'रोहिणी', 'विद्या', 'वाक्' आदि को उपमान बनाकर आदि कवि ने जिस सौन्दर्य का संकेत किया था,वह केशव ने अधिकार तथा मौलिकता से व्यक्त किया है—

धूमपुर के निकेत मानो धूमकेतु की,
शिखा, को धूमयोनि मध्य रेखा सुधाधाम की।
चित्र की सी पुत्रिका की रूरे बगरूरे माँहि,
संबर छोड़ाइ लई कामिनी को काम की।
पाखंड की श्रद्धा, की मठेश बस एकादशी,
लीन्ही के स्वपचराज साखा शुद्ध साम की।
केशव अदृष्ट साथ जीवजोति जैसी, तैसी
लंकनाथ हाथ परी छाया जाया राम की॥

यह कहना आवश्यक नहीं कि केशव के उपमान अधिक प्रभावशाली हैं, उनसे

रावण की क्रूरता, कुत्सा, भयंकरता तथा हीनता की व्यंजना भी होती है और सीता का सौन्दर्य, तेज, पवित्रता तथा गौरव भी सूचित है। 'पाखंडी के बस में यहाँ' यह अप्रस्तुत वाक्य भाव के अमूर्त उपमान के लिए भी आदर्श है, 'दुर्दैव के वश में जीव' भी मौलिक तथा व्यंजक योजना है।

(ख) पाण्डवा इव दिव्यचक्षु कृष्णागुरुपरिमिलिता। (वासवदत्ता)
भारत समर भूमिरिव वृषभदाजु नाम। (वासवदत्ता)
दुर्योधन इवोपलक्षित शकुनि पक्षिपात। (कादम्बरी)
भीष्ममिव शिखण्डिदाग्रुम। (कादम्बरी)
पाण्डव की प्रतिमा सम लेखी।
अर्जुन भीम महामति देखी॥ (राम०)

संस्कृत के कवियों ने महाभारत की कथा से कुछ नाम लेकर उनका श्लिष्ट प्रयोग किया और राजपुत्रों को पाण्डवों के समान या विन्ध्याटवी को किसी पात्र के समान बना दिया, केशव ने पञ्चवटी को पाण्डव प्रतिमा कह दिया, 'अर्जुन' वृक्ष के सादृश्य पर और भीम को विशेषण बनाकर। इसमें सन्देह नहीं कि पञ्चवटी को पाण्डव प्रतिमा सुबन्धु के प्रभाव से ही कहा गया है, फिर भी 'प्रतिमा' शब्द के प्रयोग से कल्पना को जो एक आधारभूमि मिल जाती है उसकी प्रशंसा करनी ही होगी—पंचवटी पाण्डुकुल का अवतार है, उसमें अर्जुन भी है तथा भीम तो वीरता में ये दो ही तो अग्रणी हैं।

(ग) चक्रवाक चक्र-वाड कामिन सन्तापतयेव मंदिमानमुद्वहन्,
सिन्दूरारुण-सुरगजकुम्भि कुम्भ विभ्रम बिभ्राणः,
वारुणी-वारविलासि सदृश मणि-कुण्डल-कान्ति
काल करवाल कृत-वासर महिष स्कन्ध चक्राकार,
मधुसूदन कौस्तुभमणिमिव कान्त कयानित भगवान दिनमणि। (वासवदत्ता)
अरुण गात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय।
मानहुँ केशवदास कोकनद कोक प्रेममय।
परिपूरण सिंदूरपूर कैधौं मंगलघट।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यो मानिक मयूख पट।
कै शोणित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनि के भाल को॥ (रामचन्द्रिका)

केशव की प्रथम दो पंक्तियाँ सुबन्धु के प्रथम वाक्य की छाया में लिखी गई हैं, परन्तु पद्मिनी को 'अरुण-गात' बनाने में अधिक चमत्कार आ गया है। संस्कृत में अप्रस्तुत है ऐरावत का गण्डस्थल परन्तु केशव ने उसके स्थान पर जिस मंगलघट की योजना की है वह सब हिन्दी का है। संस्कृत का कवि जब मणिकुण्डल से तुलना करने बैठा तो उसको वारविलासिनी की याद आई परन्तु केशव कुछ आदर्श उपस्थित करते हैं और सामान्या के स्थान पर 'दिग्भामिनी' की प्रतिष्ठा हो जाती है। काल को कापालिक दोनों ने माना है, फिर भी संस्कृत के समान यहाँ महिष-वध का दृश्य उपस्थित

नहीं होता। संस्कृत-साहित्य केशव का सर्वत्र प्रेरणा-स्रोत रहा है, परन्तु पुरानी सामग्री में उन्होंने पर्याप्त सुधार किये हैं, जिनका महत्त्व संस्कृत-ज्ञान-शून्य आलोचक अंकित नहीं कर सकता।

(घ) कबरी कुसुमालि सिखीन दयी।
गज-कुंभनि हारनि शोभमयी।
मुकुता शुक सारिक नाक रचे।
कटि केहरि किंकिरण सोभ सचे॥
दुलरी कल कोकिल कंठ बनी।
मृग खंजन अंजन भांति ठनी।
नृप हंसनि नूपुर शोभ भिरी।
कल हंसनि कंठनि कंठसिरी॥

वन-विहार के समय जब सीता वीणा बजाती हैं तो विपिन के पशु-पक्षी घिर कर पास आ जाते हैं और तब रिपुकुल-दूषण राम उनको यथायोग्य आभूषण पहिनाकर प्यार करते हैं। भाव बिलकुल नया है। इस वर्णन का एक अर्थ तो यह हो सकता है कि राघवेन्द्र उन पशु-पक्षियों के भोलेपन पर मुग्ध होकर उनको आभूषण पहिनाते हैं; यह सामान्य भाव है। दो अन्य अर्थ भी देखने योग्य हैं। एक यह कि राम उन पशु-पक्षियों को आभूषण नहीं पहिनाते प्रत्युत उनके समान सीता के अंगों को सजाते हैं; शिखी के समान चोटी में कुसुम लगा दिये, गजकुम्भ के समान पयोधर-आभोग को रत्नहारों से सजा दिया आदि। अन्य अर्थ विशेष सुन्दर है; शिखी, गज-कुंभ, शुक, केहरी, कोकिल, मृग-खंजन आदि कान्ति में सीता के अंगों चोटी, स्तनाभोग, नासिका, कटि, वाणी, नेत्र आदि से स्वभावतः हीन हैं; अतः उनको संकोच होता है, क्योंकि सीता के अंग आभूषण-सहित हैं और ये पशु-पक्षी आदि आभूषण-रहित हैं; राम इनका संकोच दूर करने के लिए उनको भी आभूषण पहिनाकर उनको सीता के अंगों के समान कर देते हैं। कहा जा सकता है कि विपिनवासिनी सीता आभूषण धारण नहीं कर सकती, अत सभूषण अंगों से अभूषण उपमानों की लज्जा का प्रश्न ही नहीं आता। तब यह माना जायगा कि सीता के अभूषण अंग भी उन उपमानों से अधिक सुन्दर हैं, ये उपमान सभूषण होकर ही उन अभूषण अंगों की कुछ-कुछ समानता कर पाते हैं। यदि यह माना जाय कि वनचारिणी सीता के लिए आभूषण निषिद्ध है, इसलिए राम उन अंगों को आभूषणों से सजाकर अपने मानस का उल्लास तथा अनुराग व्यक्त नहीं कर सकते, अतः उन अंगों के समान पशु-पक्षियों को आभूषण पहिनाकर अपने हृदय की कामना पूरी करते हैं तो यह अर्थ अधिक मनोवैज्ञानिक होगा। केशव की अलंकार-राशि में इतने सुन्दर भाव अनेक स्थलों पर उपलब्ध हो जाते हैं।

सादृश्य-विधान—कवि-कर्म-विधान में जिस अप्रस्तुत सामग्री की योजना की जाती है उसका प्रस्तुत वस्तु से सादृश्य रूप, गुण, क्रिया तथा नाम इन चार में से किसी एक या अधिक के आधार पर कल्पित होता है। रूप-सादृश्य (रंग-सादृश्य आकार-सादृश्य आदि के सहित) अत्यन्त स्वाभाविक तथा नितान्त स्थूल है; यह प्रायः आंशिक ही होता है

सम्पूर्ण नहीं, यथा मुख को चन्द्र कहने में कवि की दृष्टि केवल रंग पर है आकार (गोलाई) आकृति (नासिका, कान आदि की विद्यमानता) पर नहीं, इसी प्रकार मुख को कमल कहने में सादृश्य का आधार न आकार है, न आकृति (कमल के भिन्न-भिन्न दल, मृणाल आदि) प्रत्युत उसकी मसृण आभा ही है। ग्रामीण स्त्रियाँ जब 'सुरचना से हाथ' और 'डेल सी आँख' वाक्यांश का प्रयोग करती हैं तो उनके सामने सुरचना तथा हाथ का या डेल तथा आँख का आकार ही होता है, कठोरता आदि गुण तथा आरक्त रंग नहीं। यदि गुण-साम्य रूप-साम्य का सहायक हो सके तो अहोभाग्य, परन्तु सर्वत्र ऐसा सम्भव नहीं इसलिए कतिपय स्थलों पर गुण रूप की अवहेलना करके कल्पना में प्रवेश कर जाता है, गुण साम्य की उर्वर भूमि प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से एक का अमूर्त होना है यद्यपि यह सर्वथा आवश्यक नहीं। वाणी को कोकिल के स्वर से समानता बताते हुए नायिका और कोकिल का रूप साम्य कवि की दृष्टि में नहीं आता (भले ही कोई नायिका रूप में भी कोकिलवर्णी हो), प्रत्युत उनकी वाक् का माधुर्य ही रहता है यहाँ दोनों ही अमूर्त हैं, निशाचर हस्तगता वैदेही को अर्थान्तरगता वाक् या प्रतिपन्थाठनीलस्य विद्या', या 'पाषाणी की श्रद्धा' कहने में प्रस्तुत तो मूर्त है परन्तु अप्रस्तुत मूर्त नहीं है। क्रिया साम्य एक वाक्य में सम्भव नहीं, क्योंकि साम्य क्रियाओं में है और जहाँ क्रियाएँ हैं वहाँ एक से अधिक वाक्य होंगे। क्रिया-साम्य के लिए तुलसी का प्रसिद्ध वर्णन 'सेवत लखन सिया रघुबीरहिं। ज्यों अविवेकी पुरुष शरीरहिं॥" लीजिए। सेवक लक्ष्मण की अविवेकी, सव्य सीता-रघुवीर को अविवेकी-शरीर से कोई भी समता बढ़ाना साहित्य की अनभिज्ञता है। साम्य का आधार तो 'सेवत' क्रिया है जो प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों वाक्यों में प्रयोज्य है। यहाँ क्रिया-साम्य ही नहीं क्रिया का अभिन्नत्व या आवृत्ति भी है, परन्तु प्रतिवस्तूपमा निदर्शना आदि अलंकारों में क्रियाएँ भिन्न होती हुई ही समान दिखाई देती हैं। सादृश्य विधान' के इन तीन आधारों रूप, गुण तथा क्रिया को उत्प्रेक्षा के प्रसंग में आचार्य विश्वनाथ ने जाति गुण, क्रिया तथा द्रव्य[२] इन चार वर्गों में रखा लगता है परन्तु ये चार सादृश्य के आधार नहीं प्रत्युत उत्प्रेक्ष्य वस्तु के गुण हैं अर्थात उत्प्रेक्ष्य वस्तु कहीं जाति होगी कहीं गुण कहीं क्रिया और कहीं द्रव्य—जाति और द्रव्य में तो केवल इतना भेद है कि जाति बहुवाचक[३] है और द्रव्य व्यक्तिवाचक[४]।

अब नाम-सादृश्य अथवा शब्द-साम्य पर विचार कीजिए। शब्द-साम्य अत्यन्त ही बाह्य है क्योंकि वस्तुओं के नाम किसी गुण विशेष के निश्चय ही द्योतक नहीं हैं। नायिका के मुख को देखकर जब यह कहा जाय कि नाक (=स्वर्ग) का श्रुति (=वेद) से अदूरत्व आज स्पष्ट हो गया' तो इस वाक्य या अभिव्यक्ति में कोई दोष नहीं

---

१ देखिए 'भावना और समीक्षा' में हमारा लेख 'साधर्म्य अथवा उपमा'।

२ जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्य द्वयोरपि। (साहित्यदर्पण)

३ अत्र विजयस्य बहुवाचकत्वात् जात्युत्प्रेक्षा। (वही)

४ अत्र चन्द्र इत्येकव्यक्तिवाचकत्वात् द्रव्यमात्रं। (वही)

फिर भी प्रस्तुत (नायिका के मुख) के प्रति कवि की उदासीनता लक्षित हो जाती है; कवि-तात्कालिक प्रभाव से अछूता रहकर अति दूर की बात कर रहा है। इसलिए कवियों ने प्रायः शब्द-चमत्कार को साधन बनाया है, साध्य नहीं। बाणकवि के साक्ष्य पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भरत-द्वारा[1] आदि-वर्णित दीपक और उपमा अलंकारों के अनन्तर पाठक श्लेष को बहुत पसन्द करते थे और 'निरन्तर श्लेष घन'[2] कथाओं का समाज में स्वागत था—कथा जैसे लोकप्रिय साहित्यांग में श्लेष की निरन्तरता तथा घनता का आदर उसके महत्त्व का द्योतन करता है। 'आयतलोचनमपि सूक्ष्मदर्शनम्, महादोषमपि सकलगुणाधिष्ठानम्, कुपतिमपि कलत्रवल्लभम्[3], या 'असंयतोऽपि मोक्षार्थी, सामप्रयोगपरोऽपि सततावलम्बितदण्डः, सुप्तोऽपि प्रबुद्धः, संनिहितनेत्रद्वयोऽपि परित्यक्तवामलोचनः'[4], अथवा 'यत्र च मलिनता हविर्धूमेषु, न चरितेषु, तीक्ष्णता कुशाग्रेषु न स्वभावेषु, आन्तिरनलप्रदक्षिणासु न शास्त्रेषु, रामानुरागो रामायणेन न यौवनेन'[5] आदि का सौन्दर्य शब्दों की खिलवाड़-मात्र ही नहीं माना जा सकता। 'आयतलोचनमपि सूक्ष्मदर्शनम्' में शारीरिक सौन्दर्य तथा बुद्धि-तीक्ष्णता की अत्यन्त सफल व्यंजना है, इसी प्रकार 'असंयतोऽपि मोक्षार्थी' या 'सुप्तोऽपि प्रबुद्धः' वाक्यों से वर्ण्य व्यक्ति के आचरण का निश्चित ज्ञान हो जाता है। यदि शब्द-सौन्दर्य को साध्य न बनाकर साधन-रूप में उसका उपयोग किया जाय तो उससे अभीष्ट भावों की भी सफल व्यञ्जना हो सकती है। इसीलिए शब्द-सौन्दर्य या शब्द-सादृश्य सभी बड़े-बड़े कवियों में भी मिल जाता है।

अन्य प्रतिष्ठित कवियों के समान केशव में भी सादृश्य के रूप, गुण, क्रिया तथा नाम चारों आधार पर्याप्त मात्रा में प्राप्य हैं और क्योंकि उनके व्यक्तित्व में कवित्व के साथ-साथ आचार्यत्व का भी पूर्ण योग था, और संस्कृत की अपार राशि तक जनता को ले जाना चाहते थे, इसलिए संस्कृत के अपार पाण्डित्यपूर्ण साहित्य की छाया में केशव का साहित्य शब्द-सादृश्य में विशेष सिद्धहस्त है। केवल शब्द-साम्य पर कल्पना का निर्माण करनेवाला यह प्रकृति-चित्रण देखिए—

सेव बड़े नृप की जनु लसैं।
श्रीफल भूरि भाव जहँ बसैं॥
बेर भयानक सी अति लगै।
अर्क-समूह जहाँ जगमगै॥
राजति है यह ज्यों कुलकन्या।
धाइ विराजति है सँग धन्या॥

१. उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा। (नाट्यशास्त्र)

२. हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैः पदार्थैरुपपादिताः कथाः।
निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पक कुड्मलैरिव॥ (कादम्बरी)

३. कादम्बरी, पृ० १६।

४. वही, पृ० ८१।

५. वही, पृ० ८६।

यहाँ यद्यपि 'श्रीफल' 'बल समूह' तथा 'धाइ' श्लिष्ट शब्दों का उपयोग इनको साधन बनाकर सादृश्यमूलक अलंकारों के लिए किया गया है, फिर भी क्योंकि ये श्लिष्ट शब्द वस्तु हैं गुण नहीं इसलिए इनमें कल्पना में अभीष्ट वस्तु उपस्थित नहीं होती और अभीष्ट सौन्दर्य मन को प्रभावित नहीं करता, यदि श्लिष्ट शब्द गुणों के नाम होते तो कवि का प्रयत्न असफल न रहता। अमूर्त गुण में पाठक कवि के निर्देश को स्वीकार कर सौन्दर्य को हृदयगम कर लेता है, जैसे "अधोगति मूलों की ही है, अजातों की नहीं", इस वाक्य में श्लिष्ट अधोगति शब्द अमूर्त है, अतः पाठक उस अमूर्त निर्माण में कवि-कल्पना का ही अनुसरण करता है। दूसरी ओर 'यह वन कुलटा के समान है, क्योंकि इसके निकट हर समय भाव उपस्थित है' इस वाक्य में श्लिष्ट भाव शब्द एक वन (मूर्त) का नाम है और एक स्त्री (मूर्त) का भी नाम है, वृक्ष (मूर्त) के स्थान पर कवि कल्पना का अनुसरण करते हुए भी हम स्त्री (मूर्त) का चित्र नहीं बना पाते। यही कवि की असफलता है। कारण कुछ भी हो, केशव में इस प्रकार के शब्द साम्य भी हैं जो पाठक की कल्पना को कवि कल्पना तक पहुँचने का आधार नहीं दे पाते, ये श्लिष्ट शब्द मूर्त वस्तुओं के नाम हैं, अमूर्त गुणों के नहीं।

'रामचन्द्रिका' में शब्द सादृश्य के स्वस्थ उदाहरण अनेक हैं, परन्तु संयोगवश उनका निकट या दूरारूढ़ सम्बन्ध संस्कृत के किसी-न किसी आधार से जुड़ जाता है। केशव को परिसंख्या तथा विरोधाभास का विशेष मोह था और इसमें मनमेद को स्थान नहीं कि इनका सौन्दर्य केशव के हाथ से जितना खिला है उतना किसी अन्य हिन्दी-कवि के प्रयत्न से नहीं। श्लेष का उपयोग न जाने कितने कवियों ने किया परन्तु केशव में उसका उपयोग है अपना बनाकर इस कवि ने श्लेष को खिला दिया और दूसरे कवियों को आकृष्ट करने की अपूर्व आभा प्रदान कर दी। परिसंख्या केशव से अलग पनप ही न सकी, और विरोधाभास अन्यत्र हरा भरा न रह सका। केशव की अधिकांश सम्पत्ति अन्य धनियों से निराली है उसका सिक्का पुराना है उत्तराधिकार में मातामही से आया हुआ जिसका मूल्य इस युग में भले ही कम आँका जाय परन्तु जिसकी आभा और ताल किसी भी प्रकार कम नहीं। अर्जित सम्पत्ति जिन आलोचकों की दृष्टि में चकाचौंध उत्पन्न कर देती है उन्हें यह भी जानना चाहिए कि वर्षा की नदी के समान बाह्य प्रेरणा के कारण व्यक्तित्व का सामोद प्रकाशन करके अर्जित सम्पत्ति तितर बितर हो जाती है वह क्रमशः वृद्धिमती शारदी राका के समान कुलागत सम्पत्ति के सम्मुख एक स्फुलिंग ही है, क्योंकि उसका उत्तराधिकार सन्तति को प्रायः नहीं मिल पाता।

अतः यदि स्थूल रूप का सादृश्य देखना हो तो भी केशव हमको निराश नहीं करते। 'रामचन्द्रिका' में कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं। दुखिनी सीता का वर्णन करते हुए कवि ने मूर्त और अमूर्त दोनों ही प्रकार के अप्रस्तुत प्रस्तुत किये हैं और निश्चय ही उनका पाठक की कल्पना में अभीष्ट चित्र बन जाता है। सीता को 'मृणाली मनो पंक तें काढ़ि डारी' तथा 'असी बुद्धि-सी चित्त चिन्तानि मानी' कहकर मूर्त तथा अमूर्त अप्रस्तुतों की इतनी सुन्दर योजना करने वाला कवि सर्वांशतः 'हृदयहीन' न

रहा होगा। इसी प्रकार वृद्धावस्था का वर्णन करते हुए यह निरीक्षण कि शरीर पर झुर्रियां इसलिए पड़ गई हैं कि उसके भीतर से वासना[1] निकल चुकी है, सामान्य सहृदय का काम नहीं।

योगदान--आचार्य कवि केशव के विषय में आलोचकों में बहुत मतभेद है--उनके आचार्य रूप को लेकर भी और उनके कवि रूप के विषय में भी। जो विद्वान् अर्जित सम्पत्ति से ही वैभव का अनुमान लगाते हैं उनको केशवदास कबीर से भी गरीब दिखाई पड़ेंगे, क्योंकि केशव को कुलागत निधि का रहस्य ज्ञात था और उस अपार राशि में से थोड़ा-थोड़ा देकर वे पाठकों को उसके प्रति आकृष्ट करना चाहते थे, यदि वे आजीवन मजदूरी ही करते रहते उस अपार कोष की उपेक्षा करके तो उत्तराधिकार में कितना छोड़ पाते--यह संदिग्ध ही है। वस्तुत: कोई भी कवि स्वकीय अर्जित सम्पत्ति से भावी सन्तति को धनी नहीं बना पाया। सूर और तुलसी का महत्त्व अर्जित सम्पत्ति के कारण नहीं, प्रस्तुत: कुलागत संचय के संरक्षण से ही है। अस्तु, केशव की मुख्य विशेषता कुलागत सम्पत्ति का संरक्षण तथा वितरण है, उन्होंने पुराने सिक्कों को मांज-धोकर दान में दे दिया और अधिकारियों के मन में उसके प्रति लालसा जगा दी। केशव की कविता यत्र-तत्र सामयिक प्रभावों को अभिव्यक्त करती हुई भी स्थायी आधार संस्कृत के क्लासिकल साहित्य को ही बनाती है, उनकी अप्रस्तुत सामग्री न घरेलू जीवन से आई है और न सामाजिक परिस्थितियों से, उसका उद्‌भव-स्थल तो संस्कृत भाषा का साहित्य है।

केशव की दूसरी विशेषता सादृश्य-विधान के रूप, गुण, क्रिया तथा नाम चारों प्रकारों का सदुपयोग है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि प्रथम तीन की अपेक्षा अंतिम का आग्रह केशव में इतना अधिक है कि वे उसके विशेषानुरागी माने जा सकते हैं। साधन श्लेष और साध्य परिसंख्या तथा विरोधाभास उनके प्रिय आभूषण हैं। कवि के हृदय का उल्लास चमत्कार का वेष धारण कर पाठकों को उत्साहित करता है, उसका कम्पित स्वर दूसरों की सहानुभूति का याचक नहीं। केशव की व्यक्तिगत परिस्थितियों ने उनको ओज तथा उक्ति का कवि बना दिया करुणा तथा भक्ति का नहीं। उनकी कला का महत्त्व उल्लासपूर्ण हृदय से ही समझा जा सकता है, अव्यवस्थित मानस से नहीं।

केशव का व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन आत्मविश्वास तथा पूर्णता की कहानी है, वे जन्म से ही आदर और सम्मान का भोग करते रहे। उनका जीवन सुखी था, इसलिए संसार से उनकी कोई शिकायत नहीं थी, वे सुख को आनन्द का रूप देने तथा दूसरों को सुख का उपदेश देने में व्यस्त रहते थे। उनके काव्य की प्रेरणा आन्तरिक चीत्कार नहीं, प्रत्युत सामाजिक कर्त्तव्य है। यदि शिष्यों पर दया न आती तो वे कविता भी न करते केवल संस्कृत साहित्य का रसास्वादन करते रहते; यदि प्रवीणराय को पढ़ाना न होता तो वे आचार्य-कर्म का मार्ग न खोलते।

---

१. तनु वलित पलित जनु, सकल वासना निकरि गई थल-थल की।

: ७ :

शृंगार-काव्य

उत्तर-पश्चिम से देश पर विदेशियों के जो आक्रमण हुए वे कमर में भोंके हुए खंजर के समान थे। यूनानियों के समान यदि मुसलमान एक साथ सेना लेकर युद्ध-क्षेत्र में आ जाते तो राजपूती लोहे से उनका सिर छिन्न हो जाता और देश को दासता का अभागा दिन न देखना पड़ता। परन्तु मुसलमान कितने ही मार्गों से कितनी ही बार देश के कतिपय भागों में आये और दीमक के समान समाज की जड़ों को खोखला करने लगे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि व्यापार आदि के लिए उनका भारत में आगमन किसी दूरदर्शिता से गर्भित था, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि यदि वे युद्ध से पूर्व कभी दिखाई न दिये होते तो उनको प्रश्रय न मिलता। यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि राजपूतों ने इन विदेशियों के साथ मैत्री के कुफल का अनुमान भी लगाया होता तो देश में इस विकार का प्रवेश न होता। दुर्भाग्य ही था कि मुसलमान भारत में आ गये और देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक पतन के कारण बने। आक्रमणकारियों से अधिक घातक देशी मुसलमान थे। यह कहना कठिन है कि प्रारंभ में धर्म-परिवर्तन का क्रम किस गति से चला और केवल सम्प्रदाय-दीक्षा से ही अपना व्यक्ति किस प्रकार पराया होता गया और अन्त में आक्रमणकारियों की अनुपस्थिति में प्रायः उनसे अधिक भयंकर बनकर, यह देशी-विदेशी भारत की श्री का ध्वंसक दस्यु सिद्ध हुआ।

विदेशी मुसलमान जब एक हाथ में खंजर और दूसरे में स्वर्ग का प्रमाण-पत्र लेकर ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों की प्रेरणा से भारत में आया तो उसे समाज के अधिकारियों से लोहा लेना पड़ा। इसीलिए उसका विरोध अभिजात-वर्ग से था। समाज का निम्न-वर्ग इस उथल-पुथल से अप्रभावित था, विदेशियों ने उसको लोभ दिया और अपने में मिलाया। अस्तु, आक्रमणकारियों का वर्ग बढ़ता ही रहा और कालान्तर में देश में एक स्थायी ध्वंसक समाज का निर्माण हो गया। विदेशियों के पैर जम गये और तब उनका प्रयत्न अभिजात-वर्ग को फोड़ने का रहा। क्षत्री उस समय राज्यश्री का भोग करते थे, उनसे प्रतिद्वन्द्विता ही मुसलमानों का ध्येय बना। कई बादशाहों ने क्षत्रियों के साथ मैत्री, विवाह आदि करने का प्रयत्न किया अन्त में भारत की श्री विदेशी संस्कृति से विकृत हो गई और 'त्यागपूर्वक भोग' का आदर्श 'छीनकर भोग' में बदल गया, इसी को अधर्म कहते हैं। जब तक मुसलमान निम्न वर्ग को निगलने का प्रयत्न कर रहे थे तब तक उनके आश्रय में कला के अभ्युदय का प्रश्न ही नहीं आता। परन्तु जब वे अभिजात-वर्ग को पचाने में लगे तो वातावरण में विलास की दुर्गन्ध फैली और वासना-पंकिल कलाकृतियाँ समाज के सम्मुख आने लगीं। हिन्दुओं ने उस वातावरण को दिव्यता के छींटों से पवित्र करने का प्रयत्न किया, परन्तु वह प्रवञ्चना मात्र ही था; विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी से भारतीय समाज में वासना का जो जाल फैलने लगा वह कर्मण्यता के स्थान पर स्त्रैणता तथा अमृत के स्थान पर मदिरा का प्रचार

कर गया। हिन्दी साहित्य की दृष्टि से मुसलमानों के पहिले प्रयत्न ने भक्तिकाव्य का वातावरण प्रस्तुत किया और दूसरे ने शृंगार काव्य का।

अकबर से शाहजहाँ तक का शासन-काल राजनीति में स्वर्ण शान्ति का युग है। पारस्परिक लड़ाई-झगड़े तो रूठने और मनाने के रूप में चलते रहते थे परन्तु युद्ध नामक भाव का निपटारा करने वाली बात उस समय समाप्त हो चुकी थी। राजपूतों का बल क्षीण हो रहा था, और विदेशियों के पैर जम चुके थे, अतः देश में किसी भारी परिवर्तन की आशा अब न रह गई थी। शासकों ने देश विदेश के उन कलाकारों को आश्रय देना प्रारम्भ कर दिया जो अपनी माया से पौरुष को मुग्ध कर सकते थे। ईरान और भारत की सामान्य भोगप्रियता अपने सम्पूर्ण दोषों के साथ जीवन में प्रतिबिम्बित हुई। शासक स्त्रियों के साथ क्रीडा करने के लिए बाजार लगाने लगें, या प्रेयसी को छीनने के लिए उसके पति की हत्या करने लगें तो प्रजा पर अच्छा प्रभाव न पड़ सकता था। इन्द्रिय भोग का ऐसा भूचाल आया कि संयम की जड़ें ढीली पड़ गईं। अधरों पर शराब का प्याला, हाथ में प्रेयसी का हाथ और स्वर में मन्मथ का मन्त्र ही उस युग की सामान्य संस्कृति थी। पर नारी को छीनने में पौरुष की अभिव्यक्ति और मानिनी नायिका को मनाने में जीवन का सुख इस युग का सामान्य ध्येय था। अस्तु पुरुष और स्त्री सभी पाशव वृत्तियों में उलझकर इन्द्रियों के दास बन गये और उच्च आकांक्षाएँ सिसक सिसककर प्राण त्यागने लगीं।

बादशाहों का जब यह हाल था तो उनके अधीन सामन्त तथा सामन्तों की प्रजा कब पीछे रहने वाली थी। उस युग में शासक भूतल पर ईश्वर का प्रतिनिधि था और अपनी ओर से अपने प्रिय व्यक्तियों को वह मनसब देकर प्रतिनिधि घोषित कर देता था। प्रायः बादशाह के बदलने पर उसके चेले बदल जाते थे जो इस बात का प्रमाण है कि राजकीय प्रसाद व्यक्तिगत पुरस्कार था गुणाश्रित नहीं। बादशाह के आश्रित रहन-सहन में उसका अनुकरण करने लगे, प्रत्येक ग्राम आगरा की नकल बनने में अपना सौभाग्य समझता था। अस्तु यथा राजा तथा प्रजा की कहावत इस काल में सर्वतोभावेन चरितार्थ होने लगी। जो दुर्गुण राजा या बादशाह में अदल थे उनको अपने में उतारकर ही कोई कृपापात्र बन सकता था उन दुर्गुणों के प्रति घृणा का तो प्रश्न ही नहीं आता। धर्म की मर्यादा को छोड़कर सारा समाज इन्द्रिय-सुखों के योग में दिन काटने लगा तो कुशल और क्षेम भी दुर्लभ बन गये, देश पर जो दैवी प्रकोप हुए वे भी उस वासना निद्रा में स्वप्न देखनेवालों को न जगा सके। जनता के पतन की यह चरम अवस्था थी जिसको बादशाही आश्रय भी भरपूर मिल रहा था। इस राजनीतिक तथा सामाजिक दुरवस्था में धार्मिक द्वेष तो कुछ कम हो गया, परन्तु जनता परवश होकर पतन की ओर जाने लगी। शृंगार-काव्य का प्रणयन इन्हीं परिस्थितियों में हुआ था।

मध्यकालीन शृंगार-काव्य विरोधी संकेतों की भूमि है। विलास के कतिपय उपकरणों की अधिकता से ही जीवन में सम्पन्नता का अनुमान लगानेवाला कलाकार उस काव्य की सौन्दर्य-भावना पर मुग्ध हो सकता है। परन्तु विशाल जीवन की दय-

नीय रिक्तता का प्रतिबिम्ब देखकर इस काव्य को निर्जीव कह देना भी अनुपयुक्त नहीं है। वस्तुतः इस काव्य में शृंगार रस भी तो नहीं है; 'रस' का गुण उद्वेगहीन आनन्द है, परन्तु यह काव्य कामातुर व्यक्तियों के मन में उद्वेग, तृष्णा, अशान्ति तथा निरुत्साह उत्पन्न करता है। 'शृंगार' का भी प्रश्न नहीं आता, शृंगार रसराज है जो उज्ज्वल वर्ण से युक्त होकर व्यक्ति को आत्म-विस्तार की ओर ले जाता है; परन्तु यह काव्य धर्मविरुद्ध काम की यज्ञस्थली है, जो धूम्रधूसरित होने के कारण उज्ज्वल वर्ण नहीं मानी जा सकती। यदि काव्यशास्त्र की शब्दावली का ही प्रयोग आवश्यक हो तो इस काव्य को शृंगार-रसाभास से ओत-प्रोत माना जायगा। सदाचार को छोड़कर ही आचार के शेष रूपों अनाचार, कदाचार, व्यभिचार आदि का वर्णन सर्वत्र मिलता है। प्रेम, प्रीति या स्नेह के नाम पर नग्न कामाचार की लहरें ही इस काव्य का प्राण हैं। जीवन का इतना खोखला चित्र भारतीय साहित्य में अन्यत्र नहीं है, कदाचित् इसी-लिए उन कलाकारों ने बाहरी आवरणों की चमक-दमक में भीतरी रिक्तता को आच्छादित करके अपने मन को प्रवंचना से मुग्ध बनाया और समाज के पतन में परोक्ष योग दिया।

कामुकता का यह काव्य क्षणिक जीवन को सुख-संचय में बहलाने का जब बार-बार प्रयत्न करता है तो उस मद्यप की सहसा याद आ जाती है जो अपने हताश एवं पर-वश अस्तित्व को रंगीनी से चमकाकर वास्तविकता को भूलने में प्रयत्नशील हो। और जब इस युग की कविता कौशेय को फहर-फहर तथा अलंकारों की छम-छम-छम से उत्साह की आकृष्ट करके अपने आसव से बेसुध एवं पौरुषहीन बना देती है तो हम उस मूल्य की कुछ कल्पना करने लगते हैं जो मध्यकालीन कला के लिए हमारे समाज ने दिया था। वस्तुतः इस युग की कला वेश्या के समान सजधजकर बाजार में बैठ गई और मनचले युवकों को फँसाकर उनका सर्वस्व लूटने लगी। रस के स्थान पर चम-त्कार तथा आनन्द के स्थान पर उद्वेग इसका प्राण है। यह वह आसव है जिसका सेवन करने वाला फिर कभी होश में नहीं आता, इसकी चसक जिसको लगी उसको बर्बाद कर छोड़ती है। इसीलिए इस युग में प्रेम नाम से जिस वस्तु का वर्णन किया गया है, उसका चसका पीनेवाले को अन्त में मिटा ही डालता है। विरह के ब्याज से जिस निराशात्मक भाव का वर्णन इस काव्य में है वह अपनी करुणा तथा दयनीयता में ही आकर्षक है। मृत्यु का इतना सस्ता वरण उस युग के जीवन का कुछ मूल्य अंकित कर सकता है।

इस युग के कवि या तो राजाश्रय में जीवन बिताते थे और आश्रयदाता के विलास में अपनी कविता को नित्य-प्रति भेंजा करते थे, या किसी प्रेयसी के नाम पर जीवन की रिक्तता को कविता में बहाया करते थे। बिहारी के समान जिसको कोई स्थायी आश्रय मिल गया वह "चमक, तमक, हाँसी, सिसक, मसक, झपट, लपटान" की कल्पना में अपनी सरस्वती को नचाता रहा। परन्तु देव के समान जो "केते नरनाहनि की नाँही सुनि, नेह सों निहोरि हारि" वदन निहारता रहा उसने भिन्न-भिन्न जाति और प्रदेश की कामिनियों के रूप और यौवन का खुला वर्णन करके कामियों को

आकृष्ट करते-करते अन्त में ज्ञान ध्यान से ही शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। व्यक्तिगत वेदना को समष्टि के हृदय में लपेटकर दूसरों को पटाने वाले विरहिया ने अपनी आग से उस पेय को चाशनी में बदल दिया है, फिर भी वह किसी रोग की औषधि नहीं बना प्रत्युत हृद्रोग का सवर्धन मात्र करता रहा।

तथाकथित काव्य जब मन को झूमने की प्रेरणा न दे सका तो शब्द क्रीडा ने नृत्य और वाद्य के स्थानापन्न होकर पाठक पर जादू करना चाहा। अनुप्रास और यमक की अजस्र वर्षा उन्मत्त गुणग्राहकों की आँखों में गुलाल फेंक गई, फलत अर्थ की अनुपलब्धि म भी इधर उधर हाथ-पैर मारते हुए वे मनोरजन करने लगे। किसी भी कवि में इतना धय न था कि वह जीवन पर एक चलती हुई दृष्टि भी डालता और उसको सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता। काव्य की कसौटी सस्ती वाह-वाह थी। ग्राम ग्राम में दरबार बन गय और प्रत्येक आश्रयदाता रसिक-शिरोमणि बनने के लिए कामिनियो के कटाक्षो से विद्ध होकर तडपने लगा। इस कामुक काव्य की वास्तविकता उसकी अप्रस्तुत-योजना में सफलतापूवक प्रतिबिम्बित हुई है।

इस विलासी काव्य में जीवन को आघात प्रभावित करने की शक्ति नहीं थी, इसलिए इसका प्रणयन बिखरे बिखरे बुद्बुदों के रूप में ही हुआ। यह मुक्तक है, प्रबन्ध नहीं, प्रबन्ध काव्य के लिए जिस धर्य एव पूणता की आवश्यकता होती है वह इस मदिर युग में सभव न थे। प्रत्येक कवि अपने आप में तो स्वतन्त्र है ही, अपने काव्य में भी असम्बद्ध है। फलत उसके एक से अधिक ग्रन्थ किसी तारतम्य के सूचक नहीं माने जा सकते। शृंगार काव्य कर्त्ता अनेक हैं, परन्तु कितने प्रथम कोटि के हैं—यह विवादास्पद ही रहेगा। बिहारी के विषय में तो मतैक्य हो सकता है, परन्तु देव, मतिराम, घनानन्द आदि का स्थान निर्धारित करना आसान काम नहीं। प्रस्तुत अध्ययन में हमने कालक्रम का ध्यान रखते हुए बिहारी का प्रथम विवेचन किया है, तदनन्तर दूसरी प्रवृत्ति के एक प्रतिनिधि घनानन्द का, मतिराम, देव, पद्माकर आदि बिहारी की ही जाति के ह, उनका अलग अध्ययन करने की आवश्यकता नही समझी गई।

बिहारीलाल

कविवर बिहारीलाल ने अपने समस्त जीवन में सम्पूर्ण राजकीय सुविधाओं का उपभोग करते हुए भी केवल ७०० से कुछ अधिक दोहे लिखे हैं जो कवि की मीनाकारी का सुन्दर उदाहरण ह। एक दोहे की रचना धय और परिश्रम के एक सप्ताह में हुई हो तो भी उसका मूल्य कितना अधिक है—यह कल्पना कठिन नहीं। मुक्तक के विषय में यह सोचना तो व्यर्थ है कि उसकी रचना के १२ वर्षों में कवि की विचार भाव धारा या जीवन-दर्शन में कोई एकरूपता खोजी जा सकती है। परन्तु आद्यन्त सौन्दर्य का विश्लेषण हमको कवि के सूक्ष्म व्यक्तित्व का कुछ आभास अवश्य दे सकेगा।

बिहारी की मुख्य व्यक्तिगत विशेषता उनकी 'नागरता' है जो उनके काव्य को 'गँवई गाँव' के वातावरण से सहज पृथक कर देती है। उनकी दृष्टि में समाज के दो अग हैं—नागर तथा ग्रामीण। ग्रामीण समाज सभी प्रकार की कलाओं से अछूता

अतः अपरिष्कृत है, उसमें 'तन्त्री-नाद, कवित्त-रस सरस-रस, रति-रंग' की चर्चा भी व्यर्थ है क्योंकि वह गुलाब को "करले सूंघि, सराहि हूँ" (दो० ६२४) अपने को अब में असमर्थ जानकर, मौन रह जाता है। जहां तक कला का प्रश्न है ये ग्रामीण तो प्रत्यक्ष 'पशु-नर' हैं जिनके लिए सुन्दर-से-सुन्दर गुलाब भी 'फूल्यौ, अनफूल्यौ' है—बेचारे धोबी, ओड़ तथा कुम्हार !! यदि प्रश्न किया जाय कि क्या ये गँवार कभी नागर हो सकते हैं तो उत्तर निषेधात्मक ही होगा, हींग को कपूर में मिलाकर रख दीजिए फिर भी क्या वह अपनी गन्ध को छोड़कर कपूर की सुगन्ध ग्रहण करेगी (दोहा २२८)[1]। जिस व्यक्ति को नगर के इस सभ्य समाज का चसका लग गया है वह गाँव में जाने का कभी नाम न लेगा—जिसने एक बार अंगूर को चख भर लिया है उसकी जीभ को निबौरी क्षणभर भी अच्छी कैसे लग सकती है (दोहा, १९७)। अस्तु, गर्व और गुण की निधि (दोहा, २७६) नगर के ये विविध विलास अपूर्व है, परन्तु गँवारों में इनका कोई आदर नहीं, वे तो इन पर व्यंग्य से हँसते है(दोहा, ५०६)। बिहारी को अपने कलापूर्ण विलासी जीवन का बड़ा गर्व था, वे दरबारी चमक-दमक से वंचित समाज में टिकना भी पसन्द न करते थे। संभव है उनको कुछ कटु अनुभव हुए हो, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह भावना उस समय के शिरोमणि कलाकारों में बसी हुई थी।

'नगर' और 'ग्राम' से सर्वदा किसी भौगोलिक क्षेत्रफल आदि का संकेत नहीं मिलता। आश्रयदाता का सम्पन्न निवास-स्थल ही 'नगर' है, और विपन्न सामान्य जनता के घर ही ग्राम हैं। संभवतः किसी कलाकार या पारखी को अयोग्य सिद्ध करने के लिए 'गँवार' शब्द का प्रयोग आज तक उसी परम्परा में चला आरहा है। प्रत्येक आश्रयदाता अपने को रसिक-शिरोमणि समझता था और प्रत्येक कवि कला का अवतार माना जाता था। फिर भी बिहारी को इस 'नागरता' की ऐसी लगन थी कि मंगलाचरण के प्रथम दोहे में अपनी इष्टदेवता को 'राधा-नागरी' के नाम से उन्होंने सम्बोधित किया है। सामान्यत. उस समय कवि अपने कवित्व के गर्व में चूर-चूर रहता था। अतएव खुले दरबार वह इस प्रकार की चुनौती प्रायः दे दिया करता था कि 'गिन लीजिए इस कविता में अनेक अमूल्य अलंकार[2] हैं', या 'आप आँख खोलकर[3] देखिएगा तो सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाइएगा', या 'लोग समझते है कि 'कविता आसान[4] काम है, परन्तु यह प्रतिभा का विषय है' या 'मेरी कविता को वही समझ सकता है जिसकी आँखो में स्नेह[5] रँजा हुआ हो'। बिहारी ने भी अपनी कविता के विषय में 'वह

---

१. दोहों की संख्या 'बिहारी-रत्नाकर' (१९५१) के आधार पर है।

२. संख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक यामें। (सेनापति)

३. ज्यौं-ज्यौं निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यौं-त्यौं खरी निकरै सी निकाई।
(मतिराम)

४. लोगन कवित्त कीबो खेल करि जान्यो है। (ठाकुर)

५. समझै कविता घन आनन्द की, जिन आँखिन नेह की पीर तकी। (घनानन्द)

चितवन और कछू जिहि बस होत सुजान' लिखकर उसकी अन्तःस्थ अपूर्वता का संकेत दिया है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं।

'नागरता' से बिहारी का काव्य कला के सम्बन्ध में, अभिप्राय ध्वन्यात्मकता से है। युवती के अंगों में लावण्य, पाटल में सौरभ, तन्त्री में नाद, या काव्य में रस एक ही प्रकार की वस्तुएँ हैं। इनका स्थूल रूप इदमित्थम् नहीं परन्तु अमूर्त प्रभाव निर्विवाद है—स्थूल रूप भी उस अमूर्त प्रभाव का वाहक मात्र है। अंग अंगों का वर्णन करते हुए भी बिहारी उनके मोहक प्रभाव को ही लक्ष्य समझते हैं। रति आदि का वर्णन उन्होंने संकेता से किया है स्थूल चित्रण द्वारा नहीं। यदि विद्यापति से तुलना की जाय तो अधिक स्पष्ट हो जाता है। विद्यापति ने नायक और नायिका की रति का चित्रण करते हुए उनके चुम्बन[1], आलिंगन आदि का वर्णन स्पष्ट शब्दों में दे दिया है। इसके विपरीत बिहारी अपने प्रथम दोहे में ही सम्भोग शृंगार का वर्णन करते हैं परन्तु इस कौशल के साथ कि सामान्य पाठक उसे देख ही न सके—श्याम ने राधा को देखा और उनका मन खिल उठा, तत्काल ही पर्दा गिर गया और आगे की सारी चेष्टाएँ नेपथ्य में हुईं। रति का इतना नागर वर्णन हिन्दी के किसी भी शृङ्गारी कवि ने नहीं किया। बिहारी की यही कला उनको सजातीयों में उच्च स्थान प्राप्त कराती है। काव्य कला के इस आदर्श का स्पष्ट संकेत बिहारी के निम्नलिखित दोहे में है—

सुरत न कुच बिच कचुकी चूपरी, सारी सेत।
कवि आँकनु के अरथ लौं प्रगटि दिखाई देत ॥१८८॥

[चोवा आदि से चुपड़ी हुई कंचुकी तथा श्वेत साड़ी में ढके हुए नायिका के कुच छिपे नहीं रहते, कवि के अक्षरों में अर्थ भी स्थूलतः आवृत्त परन्तु सूक्ष्म दृष्टि के लिए प्रकट रहता है—यह व्यंग्यार्थ जो है।]

इसी हेतु इस कवि के अक्षरों में सांकेतिकता सर्वत्र है, जो भी कहा है प्रायः संकेता से ही। नायिका के अंगों पर इस सिद्धान्त का प्रभाव यह पड़ा कि संकेत के आधार नेत्र और उनके कटाक्ष वर्णन का विषय अधिक बने हैं, स्तन आदि स्थूल अंग कम। बिहारी के काव्यादर्श में विद्यापति के काव्यादर्श से यह भिन्नता सर्वत्र लक्षित हो जाती है। विद्यापति वर्णन करेंगे तो उत्तुंग उरोजों का, क्योंकि वे उद्दाम यौवन के स्थूल प्रतीक हैं, परन्तु बिहारी कटाक्ष से ही गहरी-से गहरी बात कहलवा देते हैं—उनमें तो 'चितवन' ही तन और मन की सारी उमंगों की वकालत करती है। कटाक्ष के बाद संकेत का दूसरा साधन है 'मुसकान', जिसको 'सुजान' ही समझ सकते हैं। नेत्र और मुस्कान परिचय की सामान्य भूमियाँ और मन मिलने से पूर्व की आवश्यक भूमिकाएँ हैं प्रायः इनका कार्य साथ-साथ ही होता है, मन को फुसलानेवाले ये दोनों सहचर हैं। बिहारी ने प्रथम मिलन से सम्भोग तक की सारी परिस्थिति का चित्रण एवं

---

[1] सुपक सेजोपरि नागरि-नागर बइसल नव रति साधे।
प्रति अंग चुम्बन, रस अनुमोदन, पर थर काँपइ राधे॥

ही दोहे में कितने कौशल से किया है—

उन हरकी हँसि कै इतै, इन सौंपी मुसकाइ।
नैन मिलें, मन मिलि गए, दोऊ मिलवत गाइ ॥१२८॥

'गो' शब्द का एक अर्थ इन्द्रिय भी है—यह न भूलना चाहिए।

बिहारी ने धोबी, मोड़, कुम्हार आदि गँवारों को दुत्कारा है परन्तु कातन-हारी (दो० ६४७), बिलोवनहारी (दो० २४५) आदि गँवारिनों में रुचि दिखलाई है। देव के समान प्रत्येक जाति की नायिका के रूप-सौन्दर्य में डूब-डूबकर तो उन्होंने काव्य-रचना नहीं की, परन्तु कुछ गँवारिनों से वे अपने मन को दूर न कर पाये। ग्रामीणा का भी अपना सौन्दर्य है, पारखी उसको भी पहिचानता है। ग्वालिनों (दो० ६०६) में विचरण करनेवाला ग्रामीणा में अरुचिमान हो भी कैसे सकता है? उनकी कुछ ग्रामीणाएँ नागर-नरों पर अपने कामतचारी नेत्रों से प्रहार कर देती हैं (दो० ४५)। उस ग्रामीणता में भी आकर्षण है—

गदराने तन गोरटी, ऐपन-आड़ लिलार।
हूठ्यौ दै, इठलाइ, दृग करै गँवारि सुवारि ॥६३॥

उसके दृगों का वार अचूक है—परिपक्वपूर्ण यौवन और गोरा शरीर, फिर कमर पर हाथ रखकर इठलाना! जब वह खड़ी होकर खेत रखाती है तब कितने लोग उसके यौवन पर मुग्ध हो जाते हैं (दोहा २४८)। सत्य तो यह है कि रूप और कुरूप का कोई प्रश्न नहीं, मन की जिधर रुचि हो जाय (दोहा ४३२), जहाँ जिसकी प्यास बुझ सके (दोहा ४११) वही उसके लिए सुन्दर है। इसीलिए रीझनेवाले नेत्र और रिझाने वाला रूप जहाँ मिल जाते हैं वहीं आकर्षण हो जाता है, (दोहा ६८२) भले ही नायिका गँवारि हो सुलकिरवा की बिन्दी लगाने वाली :—

गोरी गदकारी परै, हँसत कपोलन गाड़।
कैसी लसत गँवारि यह, सुनकिरवा की आड़ ॥७०८॥

बिहारी ग्रामीण नायिका को, हरी-हरी अरहर का खेत दिखाकर, धैर्य बँधाते हैं (दोहा १३५) या कपास बीनती हुई स्मृति दुःखिता पर दयार्द्र हो जाते हैं (दोहा १३८)। ध्यान देने की बात यह है कि उनकी ग्रामीणा सर्वत्र सहज सौन्दर्य से आलोकित एवं अपने व्यवसाय के कार्य में रत रहती है; नागरियों के समान उसका जीवन केवल विलास के लिए ही नहीं है। नागरियाँ कहीं अंगों को सजा रही हैं, कहीं वारुणी का सेवन कर रही हैं, और कहीं विरह में तड़प रही हैं—वे विलास-विदग्धा हैं, जीवन का रस लूटने वालीं। ग्रामीणाएँ अपना-अपना काम कर रही हैं, बिना बनाव-शृंगार के ही; और उनका जीवन इतना व्यस्त है कि नागर-रसिक उन पर रीझते हैं परन्तु विनिमय में उनसे कुछ नहीं पाते। ग्रामीणा का शृंगार उसका स्वस्थ शरीर और उसका प्राकृतिक वातावरण है, जो अंगूर खानेवालों को निबौरी[1] चखने के लिए आकृष्ट करता है। बिहारी धोबिनि, कुम्हारिनि, मनिहारिनि आदि के रूप पर नहीं

---

१. जीभ निबौरी क्यों लगै, बौरी चाखि अंगूर। (दोहा १६७)

रीझे—यद्यपि उनके समकालीन कवियों ने इन नायिकाओं को भी नहीं छोड़ा—मालिनि (दोहा ३५, ४४ तथा ६८७) आदि सेविका के रूप में आती हैं, नायिका बनकर नहीं। दरबारी कृत्रिम वातावरण के विलास से क्षणभर ऊबकर बिहारी का मन अनैसी-दुकैली कृषक-पत्नी, (दोहा २४८), घर में व्यस्त ग्वालिनी (दोहा ६६६) या परिश्रम से कातकर जीविका चलानेवाली (दोहा ६४७) युवती को छिपकर देख लेता है मानो इस आशंका से कि नागर कविता हारकर शिथिल श्रृंगार की कलाओं से रली करने के अपराध में (दोहा १४) 'रसिक' के पद से च्युत न कर दिया जाय। नागर-ग्रामीणा की इस काम-कथा में शृंगार नहीं है, केवल एकांगी कामुकता है, क्योंकि ग्रामीणा रस का आश्रय नहीं मानी गई, रसिक जिस प्रकार पशु-पक्षियों से मन बहलाकर अपने को गुणग्राही समझते हैं उसी प्रकार ग्रामीण-नायिका पर रीझकर उसको अपनी भोगलिप्सा का आलम्बन बनाते हैं, यह एकांगी आकर्षण साधारण लम्पटता से आगे नहीं चलता अतः रति आदि का प्रश्न भी इस वर्णन में नहीं है।

राधा-नागरी की कलावती शिष्याएँ बिहारी का मुख्य वर्ण्य विषय हैं। उनके जीवन को कवि ने विभिन्न परिस्थितियों में देखा है यहाँ तक कि गर्भवती का सजीला सौन्दर्य भी उसकी कामुक दृष्टि से नहीं छिप सका—'सुरति-मुखित-सी देखियत, दुखित गरभ के भार' (दोहा ६६२)। बालिका और वृद्धा का तो प्रश्न नहीं आता, परन्तु किशोरी स्वकीया और परकीया अनेक अवस्थाओं और दशाओं में कवि के सामने आई है। बिहारी के मन में नायिका 'दीपसिखा सी देह' वाली (दोहा ६६, २०७, २६६ तथा ५६५) होनी चाहिए—उसके शरीर का अंग-अंग जगमगाता हो (दोहा ६६), राधा भी अपने तन की झाँई (दोहा १) से ही नायक के मन को हरा-भरा करती है। अपनी द्युति से वह ज्योत्स्ना में मिलकर (दोहा ७) एक हो सकती है क्योंकि उसके शरीर पर यौवन की ज्योति (दोहा ४०) है, उसके मुख की आभा शशि का परिहास (दोहा ५३) करती है, मुहल्ले के लोग प्रतिदिन ही पूर्णमासी के भ्रम में रहते हैं (दोहा ७३)। रंग की दृष्टि से नायिका को चंपकवर्णी (दोहा १०२) कहा जा सकता है परन्तु यौवन की उचित ज्योति, (दोहा १०१) जिसके समक्ष ज्योत्स्ना उसकी छाया-सी लगती है आकर्षण का प्रथम हेतु है। इस ज्योति में रंग का उतना महत्त्व नहीं जितना कि अंगों की यौवन-जन्य दीप्ति का और सांस्कृतिक विलास ललित परिवेश का, पुरुष के मुख पर जिसे तेज कहते हैं किशोरी के वदन पर उसी दीप्ति का बिहारी ने 'ज्योति' कहकर वर्णन किया है। सामान्यतः इसी को 'रूप' कहते हैं। बिहारी ने इस रूप में नागर परिवेश को भी महत्त्व दिया है और नागरी को इसी के आधार पर नायिका माना है, नागर परिवेश से वंचित युवती को गोरी या 'गोरटी' (दोहा ६३) कहकर उसके भोग्य शरीर की प्रशंसा की है परन्तु उसे रस विलास में भागी नहीं बनाया। नायिका विलास-कला में कुशल होनी चाहिए उसकी ज्योति उसके आन्तरिक उल्लास, उसकी नागरता (कला-कुशलता), तथा उसके शारीरिक विकास तीनों की ही समवेत द्योतक है आन्तरिक उल्लास और शारीरिक विकास तो सहचर हैं—जुड़े रहेंगे, साथ-साथ ही परन्तु नागरता नारी का वह गुण है जिससे जीवन

'रसमय' (दोहा ४२)हो जाता है ।

वर्णन के तीन विषय और हैं—स्तन, नेत्र तथा मुसकान। जिस प्रकार मुख रूप का सामान्य प्रतिनिधि है, उसी प्रकार स्तन यौवन-जन्य शारीरिक विकास के सामान्य द्योतक हैं। इसी हेतु शृंगारी कवि कामुकता की उमंग में स्तनों की प्रशस्ति भाँति-भाँति की कल्पनाओं के द्वारा गाया करते हैं; बिहारी ने स्तन और नितम्ब का इजाफा करा दिया है (दोहा २) परन्तु केवल इसी अंग की स्तुति पर उनका ध्यान केन्द्रित नहीं रहा। यदि काव्यशास्त्र की शब्दावली का प्रयोग करें तो यौवन-रस की अभिव्यक्ति में ज्योति-वर्णन ध्वनि-काव्य है, नेत्र-मुसकान-वर्णन गुणीभूतव्यंग्य, और स्तन-वर्णन चित्र-काव्य। जिस प्रकार चित्र-काव्य अधम काव्य है उसी प्रकार स्तनों का स्थूल वर्णन यौवन-रस का विशुद्ध आस्वाद नहीं करा सकता। गुणीभूत व्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहता, उसी प्रकार नेत्र और मुसकान का वर्णन और यौवन-रस का वर्णनोत्तर आस्वाद समान भाव से ग्राह्य है। गुणीभूत व्यंग्य काव्य के लक्षणामूलक और अभिधामूलक व्यंग्य के समान क्रमशः नेत्र-वर्णन और मुसकान-वर्णन को समझना चाहिए। ज्योति-वर्णन और स्तन-वर्णन की चर्चा ऊपर हो चुकी। नेत्र और मुसकान में से नेत्रों का वर्णन बहुत अधिक और मुसकान का अपेक्षाकृत कम है। मुसकान की व्यंजना कुछ स्थूल होती है, इसलिए उससे मन का भाव ही नहीं उसकी गहराई भी ज्ञात हो जाती है। गोरे मुख की मुसकान (दोहा ३०५), दुलहिनि का सलज्ज हास (दोहा ३४६), मुसकान के बिना वचन (दोहा ३६४), रिस-सूचक मुसकान (दोहा ३७६) तथा मान की मुसकान (दोहा ३८३) आदि के अन्तर्भुक्त भाव नायक और सखी दोनों पर प्रकट हैं। परन्तु नेत्रों की कहानी कुछ भिन्न है। उनकी स्थिति, गति, रंग, आकार आदि में एक समय एक ही भाव नहीं रहता,; इसीलिए उनकी व्यंजना दुर्बोध्य है। बिहारी ने नेत्रों का वर्णन 'ज्योति' से भी अधिक किया है। विशाल नेत्र सुन्दर होते हैं, उस युग में तीक्ष्णता या नुकीलापन (अनियारे) आकर्षण माना जाता था, कजरारी आँखें (दोहा ६७०) स्वयं शृंगार हैं, बिहारी ने इन तीनों प्राकृतिक गुणों को स्वीकार किया है, परन्तु सबकी मुकुटमणि है 'चितवनि'—वह सबमें नहीं होती, उसका वर्णन भी संभव नहीं। सुजानों को वश में करनेवाली इस 'चितवनि' को 'औरै कछू' कहकर ही बताया जा सकता है—'वह चितवनि औरै कछू जिहि बस होत सुजान' (दोहा ५८८) 'चितवनि' से अनुराग तो द्योतित होता ही है, मान भी जनाया जाता है (दोहा २६); यहाँ तक कि कथन, निषेध, रीझ, खीझ, मिलन, उल्लास, लज्जा आदि अनेक भाव एक साथ ही नेत्रों से प्रकट कर दिये जाते हैं (दोहा ३२)। भरे समाज में आँखें चल जाती हैं (दोहा १७७) अनुमति प्राप्त किये बिना मन को दूसरे के हाथ बेच भी देती हैं (दोहा १६५), और न जाने कौनसा जादू है उनमें कि नायक बेसुध हो जाता है—'कहा लड़ेते दृग करे, परे लाल बेहाल' (दोहा १५४)। सचमुच नेत्रों की महिमा अकथनीय है!

'बिहारी की नागरी का शारीरिक गुण सुकुमारता है। काम-काज के बिना विलास में पलकर किशोरियाँ रंग-रूप में अलग-अलग होते हुए भी सौकुमार्य में समा-

सीय है। मध्यकालीन संस्कृति में सौकुमार्य नारी के सामाजिक स्तर को माप था। तुलसी की सीता भी पर्यक, पीठि, खाट और हिंडोले से नीचे पग नहीं रखतीं, उन्होंने अनुभव ही नहीं किया कि कठोर अवनि का स्पर्श कैसा है। मुगल शासन में यह सौकुमार्य सामाजिक स्तर के साथ-साथ भोग्यता का भी पदक बन गया। पुरुष का पौरुष जिस प्रकार तन और मन की कठोरता और विलासिता में अन्तर्निहित था, उसी प्रकार नारी का नारीत्व तन के सौकुमार्य और मन की भीरुता में संचित माना जाता था। पुरुष भोगी था और नारी भोग्या, भोग के लिए जिस प्राप्ति की आवश्यकता थी वह बाहुबल पर निर्भर थी, इसलिए जो बली था वही नारी रत्न की प्राप्ति कर सकता था, दूसरे लोगों को उनके बल के अनुसार ही मूल्यवती नारियाँ प्राप्त हो सकती थीं। यों तो वसुन्धरा की सभी वस्तुएं वीरभोग्या हैं, परन्तु निर्जीव और सजीव लक्ष्मी के लिए यह नियम विशेषतः लागू होता है। राजपूती शासन भी पुरुष और नारी के सम्बन्ध में इस विलासिता को महत्व देता था, परन्तु इस्लामी शासन ने एक विशेष परिस्थिति के कारण इसका मूलमन्त्र बना लिया, क्योंकि वहाँ भोग के अतिरिक्त, उससे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रक्षा का था—भोग तो आपका विषय है परन्तु जब 'सलीम' शाहंशाह होते ही आप पर चढ़ आवेगा तो क्या आप अपने बाहु बल से रक्षा करके 'मेहर' को अपनी कह सकेंगे ? इस स्थिति ने पुरुष और नारी के जीवन में जो पाशवता भर दी वह इतिहास की लज्जास्पद एवं बर्बर कहानी है। नारी सौकुमार्य से ही परखी जाती रही और सौकुमार्य का फल था भोग्यता। अस्तु, बिहारी की नायिका विलासी सुकुमारता की मूर्ति है। इस दृष्टि से उसके शरीर में अंगों की अल्पता, कोमलता और भीनापन देखने योग्य है (विलास की मुख्य भूमि पद्मिनी नायिका सामन्तशाहियों के यहाँ इन्हीं शारीरिक गुणों के कारण मूर्धन्य मानी जाती है)। बिहारी ने इन गुणों की व्यंजना संयोग और वियोग दोनों ही परिस्थितियों में की है। गुलाब की पंखुड़ी से गात्र में खरोंट पड जाती है (दो० २५६), हाथ इतने छोटे हैं कि देवसुर महाशय वधू को वस्त्र देने का काम सौंपते हैं (दो० २६५), पान खाते हुए जब वह पीक निगलती है तो त्वचा में से झलककर लाल रेखा सखी को कण्ठाभूषण सी प्रतीत होती है (दो० ४४०), एक दिन बेचारी सहेट से वापिस आ रही थी कि सुगन्ध से आकृष्ट मधुपों ने उसे घेर लिया (दो० ४५६), अगर वह गुलाब के झावें से पैर मलवावे तो निश्चय ही छाले पड़ जायेंगे (दो० ४८३), और उसकी कमर तो तीन चार बाँस की छडी के समान लचकती है (दो० ५३२)। कारण यह कि नायिका 'नाजुक कमला' (दो० ४०५) अर्थात् सुकुमारी पद्मिनी है, बिल्कुल ऐसे समझिए जैसे कुसुम हो (दो० ५१६), इसी लिए तो कहा था कि उसको आभूषण मत पहिनाइए—सुकुमार कलेवर उस व्यथ के भार को कैसे सहन करेगा (दो० ३२२)? वियोग में यह फूल-सी सुकुमारी क्षीण निश्वासों के साथ ही आगे पीछे खिसकती रहती है (दो० ३१७)। यही खैर है कि वह किसी दिन उड न गई, कुम्हला तो ऐसे जाती है जैसे हाथ से मला हुआ कुसुम—'करके मीड़े कुसुम लौं, गई बिरह कुम्हिलाइ' (दो० ५१६)। यह नागरी उसी सामग्री से बनी है जिससे कि जायसी आदि की नायिका, दोनों पर इस्लामी जीवन के

अकर्मण्य विलास का निष्क्रिय प्रभाव है।

नागरी का दैनिक कार्यक्रम भी कम खेदोत्पादक नहीं। वह विलासिनी है, इसलिए उसका सारा दिन काम-क्रीड़ाओं के संग्रह में बीत जाता है—कभी प्रेमिका और कभी प्रेयसी बनकर बड़े कौशल से वह नायक की प्राप्ति और तदनन्तर उसके साथ सुखभोग में भूली रहती है, कभी नायक की छाया से उसने अपनी छाया को छुवा दिया (दो० १२), कभी रूक्ष नैत्रों से उसने मान की सूचना दी (दो० २६), कभी बाल ब्योरने के बहाने कच और अँगुलियों के बीच नेत्रों से उसने नायक को देखा (दो० ७८), कभी चाले की बातें सुनकर अपने मन का उल्लास प्रकट किया (दो०१३४)। एक नायिका हार के व्याज से दिन-रात अपने वक्षस्थल को ही देखती रहती है (दो० २५२), तो दूसरी टट्टी की ओट में दीर्घ निश्वासें निकालकर दूसरों के हृदय को पिघलाती है (दो० २६२)। अगर उसकी वीरता देखना चाहें तो तीरन्दाजी देखिए, क्या मजाल कि चंचल लक्ष्य भी उस बंक बाण-प्रहार से बच जाय (दो० ३५६)? एक लजीली वारुणी का सेवन करके (दो० ३६८), अपनी ढिठाई में मीठी लगी तो दूसरी प्रेम में ही मतवाली होकर प्रेमी की पतंग की परछाईं को छूती हुई दौड़ती रही (दो० ३७३)। नायक की मुरली छिपाकर उसे छकाने के लिए प्रयत्नशील नायिका बड़ी व्यस्त मालूम (दो० ४७२) पड़ती है। मुँह मोड़कर मुसकाना (दो० ४६३), बैठकर आराम से मेंहदी सुखाना (दो० ५००), कभी उभकना और कभी छिपना (दो० ५२७), या आलसभरी जम्हाई लेना (दो० ६३०) इन कामों में वह सिद्धहस्त है। मदिरा-पान का तो अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। कहीं रूप-गर्व है तो कहीं बनावटी मान, कहीं प्रेम की ज्वाला है तो कहीं सपत्नी से ईर्ष्या, कहीं गुरुजनों से चालबाजी है तो कहीं झूठा बहिनापा (दो० ६५४)। इस प्रकार इन्द्रिय-रस की भूमिका, क्रिया तथा अवसिति में नागरी को तल्लीन करके बिहारी अपने युग का तरल चित्र अंकित कर रहे हैं, उस यथार्थ का समर्थन ऐतिहासिक तथ्यों से भी होता है।

बिहारी की अधिकतर नायिकाएँ लज्जाशीला हैं, परन्तु सबकी सब नहीं; कितनी ही कुलटा भले ही न हों, उससे कम भी नहीं हैं। देवर के कुमन्त्रों और घरेलू कलह के बीच सूखने वाली कुलस्त्री (दो० ८५) तो एक-दो ही मिलेंगी, परन्तु देवर के विवाह पर विषाद में डूबनेवाली (दो० ६०२) अनेक हैं। आती है जामन लेने और मन में स्नेह जमा जाती है (दो० १४४)। देवर ने स्वभावतः जो फूल मारे थे (दो० २४६) वे ही उसके शरीर में रोमांच करने लगे। मिश्र जब पुराण में पर-नारी-गमन के दोष सुना रहा था तो नागरी जी निर्लज्जता से (दो० २६४) हँस दी। ऐसी ही एक इठलानेवाली नायिका से खीझकर सखी बोली—इधर क्यों लगती है जिधर तेरा दिल लगा है उधर ही जा (दो० ३८२)। और जब गोद में बच्चे को चढ़ाते हुए किसी युवक का हाथ नायिका की छाती से लग गया तो वह उस गरीब को भी कीचड़ में घसीटने लगी (दो० ३८६)। ऐसी कलावती ही तो छायाग्राहिणी (दो० ४३३) है, जो किसी भी पुरुष को सहज भव-सागर पार नहीं करने देती। बिहारी ने स्त्री के दो रूप देखे हैं—नायिका और दूती। दूती वयोवृद्धा हो, या अन्य

किसी कारण से नायिका-पद के अयोग्य हो, अन्यथा वह स्वयं नायिका बनने का प्रयत्न करेगी। नायिकाएँ भी दो प्रकार की हैं—कुलस्त्री और कुलटा। इन दोनों में अन्तर केवल लज्जा का है। कुलस्त्री लज्जा के अवगुण्ठन में पति या उपपति में अनुरक्त होती है, उसकी कामुकता हृदय की किसी स्थिरता में पगी रहती है। कुलटा ने लज्जा त्याग दी, अतः प्रत्येक पुरुष उसका नायक है और उसकी समस्त चेष्टाएँ कामादृगार से प्रेरित हैं। कुलस्त्री को कुलटा बनाने में ही उस युग का प्रयास था, बिहारी में आता प्रायः कर से ब्रजबल्लभ ब्रज के इतिहास की सामाजिक स्थिति सदा रूप प्रति फलित हो गई है। सभी कुलटाएँ किसी-न-किसी समय कुलस्त्रियाँ थीं, परन्तु दूतों की सीख या किसी अन्य भूल में वे अपने को गिरा बैठीं और उन्होंने अपना मन सम माया कि जब तक अवसर नहीं आता तब तक सब कुलस्त्री बनती हैं परन्तु एक बार स्वर्णावसर प्राप्त करने पर फिर कोई इस मिथ्या गरिमा की परवाह नहीं करती—

> रही न गोकुल कुल-बधू, काहि न केहि सिर बोर।
>
> कौनें तजी न कुल गली, ह्वै मुरली-सुर लीन ॥६५२॥
>
> जो लौं लखौं न कुल-कथा तौ लौं ठिक ठहराइ।
>
> देख आवत देखि हौं, क्यौं हू रह्यो न जाइ ॥७०६॥

नागरी-सम्बन्धी इन वर्णना में समाज का प्रतिबिम्ब नहीं, आदर्श है, समाज की नारियाँ ऐसा जीवन व्यतीत न करती थीं, परन्तु इस बात का पूरा प्रयत्न हो रहा था कि वे ऐसे जीवन को ग्रहण कर लें। पाँच शताब्दी पूर्व देश के भाग भाग से प्रभावित, एक कोने में किसी विलासी कवि ने कुलटा बनने पर पश्चात्ताप करती हुई कुलकामिनी को छट पटाते देखा था और कुलकामिनि छलौं, कुलटा होइ गेलौं, तिलकर बचन लोभाई की समस्त कहानी का सरस वर्णन करके उसके परिणाम में निराशा दिखाकर दूसरों को सावधान किया था। कालान्तर में वही पश्चात्ताप-वाक्य समस्त उत्तर भारत के राजा श्रित समाज का आदर्श-वाक्य बन गया। पतन की यह यात्रा समाज की भाव भूमि पर जो चरण चिह्न अंकित कर गई है वह साहित्यिक कृतियों के रूप में आज भी अतीत का प्रत्यक्ष करा सकते हैं।

यद्यपि सुकुमारी आभूषण को व्यर्थ का भार या दर्पण का मोरचा (दो० ३३५) समझती है, फिर भी उसकी दिनचर्या इस सौन्दर्य साधना के अभाव में पूरी नहीं मानी जा सकती। बिहारी ने 'नागरी' के जिन भूषणों का वर्णन किया है उनसे तत्कालीन राज्याश्रित संस्कृति की एक झलक सुलभ हो जाती है। यौवन स्वयं शृङ्गार है, परन्तु बाह्य आभूषण उस सौन्दर्य को और भी आभा प्रदान करते हैं। नायिका का 'सहज शृङ्गार' भाल पर बेंदी, मुख में पान, स्निग्ध केश और नेत्र का अंजन है (दो० ६७९) इससे अधिक नागरी की स्थिति, दशा, अवस्था आदि पर निर्भर समझना चाहिए। नायिका दुकूल (दो० २२३) और जरी के वस्त्र (दो० ३०४) पहिनती थी प्रायः वस्त्र बहुत झीने होते थे। (दो० १६ तथा १६८) आबेरवाँ नामक वस्त्र की साड़ी तौल में केवल पाँच ताने (दो० ३४०) थी, उसमें से तन ज्योति बाहर जगमगाकर जलचादर के दाप का उपमेय प्रस्तुत किया करती थी। स्त्रियों के वस्त्र तीन थे—सारी, कंचुकी

और चुनरी। साड़ी या तो श्वेत (दो० १०६) हो, या नील (दो० ५० तथा २०७), क्योंकि श्वेत को पहिनकर ज्योत्स्ना में अभिसार हो सकता था और नील कृष्णाभिसार में उपयोगी थी। कंचुकी का रंग रुचि पर निर्भर है, सामान्यतः चटकीला लाल रंग (दो० १६०) यौवन में अच्छा लगता है, परन्तु शरीर के अंग की (दो० १८९) कंचुकी भी पहिनी जाती थी, और उसे चोवा आदि से (दो० १८८) सुघड़ लिया जाता था। चुनरी मुन्दर और मच्या का विशेष वरन है, यह श्याम भी होता था। (दो० ३२६) और लहरदार भी (दो० ६२६)। वधुएँ अवगुण्ठनवती होतीं थी (दो० ६४६), जो अब सुन्दरता का वर्धक बन गया था और हर युवक घूंघट के अन्दर के रूप की एक झलक (दो० ५२) पाने को आतुर रहा करता था; अंचल इतना बड़ा न होता था अतः जल्दी में अवगुण्ठन के लिए खींचा हुआ वस्त्र त्रिबली आदि को अनावृत कर सकता था (दो० ४२४) शरीर पर अंगराग (दो० २३४) तथा केसर (दो० ३५९) का प्रयोग किया जाता था, नाखूनों की लाली के समान उस समय हाथ के नाखूनों पर मेंहदी (दो० ४४८ तथा ५००) लगाई जाती थी, पैरों पर महावर (दो० ३५, ४४, २३६, २८७ तथा ५०७) शोभा का वर्धक था। केश स्निग्ध होने चाहिएँ, उनका द्योरना (दो० ४३६) पूर्व-प्रसाधन था, बाल मुख पर आ जाते थे और चतुरा नागरी उनके बीच मे अँगुली डालकर (दो० ७८) अपने उपपति को देख सकती थी; दोनों ही रूप थे वेणी (दो० ५८७) तथा जूड़ा (दो० ६८७)। केशों की सघनता, श्यामता तथा दीर्घता पर उस समाज में अधिक ध्यान न दिया जाता होगा।

नागरी के मुख की शोभा आँखों के काजल (दो० ५) या अंजन (दो० ४६, २३६ तथा २६७), कान के तरौना (दो० २० तथा ८२) खुभी (दो० ६) या मुरासा (दो० ६७३), और नाक की बेसरि (दो० २० तथा १७३), नथ (दो० ३०६) या सींक (दो० १४३ तथा ६८५) पर निर्भर थी। बेसरि में मोती लगा रहता था जो अधर पर टिक जाता था (दो० ७०६) कान में भी मणि धारण करने (दो ११३) की प्रथा थी। माथे पर आड़ी बेंदी लगती थी, नागरी की आड़ केसर (दो० ४२ तथा १०४) की होती थी और ग्रामीणा की आड़ ऐंपन (दो० ६३) या सुन किरवा कीड़े के (दो० ७०८) पंख की। बेंदी का वर्णन बिहारी ने बड़े उत्साह (दो० ३२७) से किया है। इसके दो नाम हैं—टीका और बिन्दु। गोरे मुख पर (दो० २७१) अरुण, पीत, श्वेत तथा श्याम सभी रंगों की बेंदी (दो० ६२६) अच्छी लगती है; सिन्दूर का बिन्दु लाल (दो० ३५५), केसर का पीत (दो० ४२), चंदन का श्वेत (दो० १८०), और कस्तूरी का श्याम होता है; धनियों की बेंदी में हीरा भी जड़ा (दो० ७०७) रहता है; ग्रामीण सन की (दो० २४८) बेंदी लगाती है। बिहारी ने एक दोहे में चिबुक पर (दो० २७०) गुदे हुए लीला का वर्णन किया है। पान खाना उस युग का प्रिय विलास था, पान की पीक (दो० ६६, ११३, २६७, ४४० तथा ४९८) खंडिता का प्रथम लक्ष्य था; प्रिया (दो० ६२७) और प्रियतम (दो० ६३२) एक-दूसरे को अपने हाथ से पान का बीड़ा खिलाकर प्रेम की अभिव्यक्ति किया करते थे। स्त्री के सौन्दर्य को कुदृष्टि से बचाने के लिए काजल आदि का जो एक विशेष टीका लगाया जाता था उसे दिठौना

(दो० २८ तथा ४३) कहते थ।

गले में नायिका माला पहिनती थी जो फूल (दो० १२२) मुक्ताफल (दो० ३६२) या घुघुची (दो० ६०) की होती थी पुन्ना में मौलसिरी (दो० २०४ तथा ५१३) और चपक (दो० ६६५) इस काम के लिए अधिक पसन्द किय जाते थे। गले का दूसरा प्रिय अलंकार हार है नागरी का हार मुक्ताफल (दो० ३७६) का और ग्रामीणा का पहुता (दो० २४८) का होता था अज्ञात यौवना बालिका सीप (दो० २४२) का हार भी पहिनती थी। एक दोहे में नायिका के गुजा (दो० २३७) धारण करने का वर्णन है। गले का गुलूबद (दो० ४४०) मारिणक्य का भी बना होता था। विहारी ने उरवसी (दो० २५ तथा ३३६) नामक आभूषण का वणन किया है यह माणिक्य-जटित होता था और गुलूबन्द के समान चिपटा हुआ नहीं प्रत्युत हार के समान ढीला होता था। वस्तुत माला हार उरवसी और गुजा माल रतना के अलकार ह गुलूबद गल का। बिहारी की नायिका इनमें से केवल एक को एक समय धारण करती है।

आरसी (दो० ३३४ तथा ५१२) किशोरी का प्रिय अलकार है इसके बीच में अपना मुख देखकर मुग्धा और मध्या दोनों ही 'दपण' का व्युत्पत्त्यय सत्य सिद्ध करती ह—अपन रूप पर स्वय मुग्ध होकर मन में अभिमान स भर जाती हैं। स्निग्धा नायिका आरसी में गुरुजन को चकमा दकर (दो० ३४) प्रिय को देख सकती है या प्रिय के जाने बिना भी (दो० ६११) उसका प्रतिबिम्ब निधड़क निहारती है एक भावमुग्धा तो (दो० ५८३) प्रिय के ध्यान में अपना रूप देखकर स्वय पर ही रीझती रही। अँगुली में पहिनने का दूसरा आभूषण छला (दो० १२१) है जो प्राय कनिष्ठिका में (दो० १३६ तथा ३३८) धारण किया जाता था आजकल की अँगूठी के समान इसका उपयोग प्रम सम्बन्ध की दृढता (दो० ३७६) के लिए भी होता था। कमर में किंकिणी (दो० १२९) तथा परो में पाइल (दो० २१२ तथा ४४१) पहिने जात थ। पैर की अगुलियों में अनवट (दो० २०६) बिछुआ (दो० ४१८) तथा मजीर (दो० १२६) धारण किये जाते थे। बिहारी की नायिका आभूषणों में अधिक रुचि नहीं रखती परन्तु जो भी पहिनती है व मदु मधुर तथा दिखाई पडनेवाले होते ह अल-कार कुसुम धातु तथा रत्नों से निर्मित ह उनमें विलास तथा सम्पन्नता दोनों की ही झलक मिलती है।

बिहारी ने दनिक जीवन का वर्णन किया है। हिंदू जनता उस समय 'निगम मग' (दो० ८७) पर चलने में अधिक गौरव का अनुभव न करती थी क्योंकि श्रुति सेवन (दो० २६) की अपेक्षा रसिकों की सगति को बडा लाभ समझा जाता था, वेदोक्त माग पर चलकर जो मुक्ति काम्य है वह 'चमक तमक हाँसी ससक मसक, झपट लपटानि (दो० ७६) में सहज ही मिल जाती है और उसका साधन सजन' (दो० ७५) है, जप माला छापा तिलक (दो० १४१) आदि नहीं। स्त्रियों के

---

१ तन भूषन अजनु दृगनु पगनु महावर रग।
नहिं सोभा कौं साजियतु कहिब ही कौं अग ॥२३६॥

मुख्य त्यौहार तीज (दो० ३१५), चतुर्थी (दो० २६८) और द्वितीया (दो० ३८५) थे; चतुर्थी के व्रत में चन्द्र को अर्घ्य देकर भोजन किया जाता था (दो० २६६)। नारियाँ रात्रिभर जागरण करके रतिजगा (दो० ५११) मनाती थी, और इसी व्याज से अपने प्रेमियों के घर भी रात बिता दिया करती थी। मृतकों के लिए दो सप्ताह तक श्राद्ध किया जाता था, जिसमें वायस को सादर (दो० ४३४ तथा ४३०) भोजन मिलता था। संक्रान्ति को सब लोग पुण्य-पर्व (दो० २७४) समझते थे। होम (दो० ५४) तथा सत्संग (दो० २३०) दोनों का ही अप्रस्तुत रूप से बिहारी ने वर्णन किया है। अद्वैत (दो० १३), सुरसरि (दो० १०६ तथा ५७६) आदि सम्बन्धित सम्प्रदायों तथा सीता (दो० ७४), दुर्योधन (दो० १५) आदि पात्रों की उस समय चर्चा चल जाती थी; कवि ने उन सबके लिए शृंगार-परक प्रस्तुतों की योजना की है। ज्योतिष में लोगों का विश्वास था (दो० ५ तथा ५७५); जादू-टोना (दो० ४७) मन्त्र-तन्त्र (दो० ७७) तथा नजर-गुजर (दो० ६३६) भी अहित कर सकते थे। सतसई में भूत-प्रेत का कोई प्रसंग नहीं है, परन्तु चुड़ैल (दो० १२५) का वर्णन किया गया है।

बिहारी का युग विनोद और विलास का युग था; उसमें जीवन की सफलता 'तन्त्री-नाद, कवित्त-रस, सरस-राग, रति-रंग' (दो० ६४) के 'अनेक संवादों' (दो० ७१३) में मानी जाती थी; नेत्र किशोरी को देखकर ही (दो० ५३) कृतकार्य होते थे; किसी की भी अलकों में उलझकर मन पथ को भूलकर (दो० ६५) अपथ को लक्ष्य बना लेता था और किसी के जूड़े में बँधकर (दो० ६८७) तड़पता रहता था। दिन-रात्रि का मुख्य व्यवसाय अभिसार (दो० ७ तथा २७६) था, काम्य कर्म रति (दो० २३, १८३ तथा ४६३) में तथा परोपकार दूती-कर्म (दो० ३१३ तथा ३६६) में निहित था। राजा उस समय भी थे परन्तु प्रजा-पालन के लिए नहीं, भोग के लिए (दो० ५); इजाफा उस समय भी होता था परन्तु लगान का नहीं स्तन, मन, नैन और नितम्ब का (दो० २); विजय होती थी परन्तु नागरी के तन की (दो० २२०), देश की नहीं; रण प्रिय विषय था परन्तु विपरीत रति का (दो० १२६), युद्ध भूमि का नहीं; कामिनी के नेत्र ही तलवार (दो० २४७) थे जो सुभट के समान (दो० १७७) समाज-सेना (दो० १६८) को पराजित करके लक्ष्य तक बे रोकटोक चले जाते थे। गढ़-रचना (दो० ३१६) का रहस्य जानने वाले अपनी कमनैती (दो० ३५६) के कारण नाविक के तीर (दो० ५७०) चलाकर मतंगों (दो० ६७) और मुँहजोर (दो० ६१०) एवं खूँद करने वाले (दो० ५४२) रौहालों (दो० १४५) की सहायता से गढ़ को जीतते और उस पर अपना ध्वज (दो० १०३) फहराकर अधिकार जताते थे। कभी-कभी सुरंग लगाकर (दो० ३०६) जय संभव थी। तब विजयी चौगान (दो० १७८) या गेंद (दो० ४६१) का खेल खेलता था, और पराजित के हृदय में नटसाल (दो० ६, ३७५ तथा ६०६) चुभती रहती थी। विजयी का न्याय बड़ा अद्भुत था उसमें कजाकी (दो० ६७०) और खूनी (दो० ३२५) खुशहाल रहते थे, और बाँध लिए जाते थे नाहक (दो० ४०७) दूसरे ही। बिहारी ने यह समस्त वर्णन स्नेह-पुर (दो० ४०७) का किया है, जहाँ का शासक स्मर है, और जहाँ नेत्र ही आक्रमण करते हैं।

उस राज्य में ध्रुव गिरि (दो० २६) पर नैन बटोही (दो० १७) चढ़ते थे और रूप ठग उनको लूटकर (दो० १७४) मार डालता था। अहेरी (दो० ५०) और मीना (दो० ८७) जातियाँ इसी प्रकार पहाड़ों पर लूटमार किया करती थीं।

नागर जनों का सामान्य जीवन वन विहार (दो० १६२ तथा ४०३), जलकेलि (दो० १५२ तथा १५३) या कुंजभवन (दो० ८४ तथा १२७) में बीतता था—कभी स्नानपरा (दो० ६४५, ६६६ ६६३, ६६७ तथा ७००) किनारी को देखकर मन की साध पूरी करते हुए, कभी पुरानी प्रेम-कथा के स्मरण में (दो० ६८१)। धवल धाम (दो० १६७) धनियों ने विश्राम के लिए बनवा लिये थे। सामान्य जनता नट (दो० १६३ तथा १६४) की चतुराई पर मुग्ध होती थी। किशोरियाँ हिंडोले (दो० ६६ तथा ३१७) में झूलकर उल्लसित होती थीं, जो विनोद का सफल साधन (दो० ५५४ तथा ६८६) था। किशोर प्राय पतंग (दो० ५७, ३७३ तथा ४२८) उड़ाते थे या कबूतर (दो० ३७४) पालते थे, अवस्था में कुछ कम बालक-बालिका घोर मिहोचनी (दो० ५३०) के व्याज से अज्ञात-यौवन का आलिंगन जन्य सुख खोजा करते थे, अँधेरी गली (दो० २५३) में मिलकर किसी अपरिचित नागरी का आलिंगन-लाभ पूर्व सत्कर्मों का ही फल था। होली ही उस समाज का मुख्य उत्सव था, इस अवसर पर दोनों के नैन प्रेम रंग (दो० ५१४) से एक-दूसरे को सराबोर कर देते थे आँखों में जो गुलाल (दो० २८०) भर जाता था वह प्रेम की प्रथम स्वीकृति थी, होली खेलने पर नारी पुरुष से फगुवा (दो० ३५३) माँगती थी और जब तक प्राप्त न कर लेती थी तब तक उसको छोड़ती न थी, पुरुष गुलाल की मुट्ठी भर कर नारी को छकाया करते थे (दो० ५०३)।

बिहारी की सतसई में पक्षियों का वर्णन अधिक परन्तु पशुओं का कम है। पशुओं में गाय दो० ११, १२८ तथा ५२१), घोड़ा (दो० १४५ ३१६ ५४२, ६१० तथा ६८४) और हाथी (दो० ६७, ३८८ तथा ४३६) प्रमुख है, बाघ (दो० ४८६) और मृग (दो० ४५, ५० ४८६, ६२८ तथा ६७१) गौण। अश्व का इतना अधिक वर्णन सामयिक प्रभाव का द्योतक है, इसके तुरग (दो० ३१६ तथा ६८४) और रोहाल (दो० १४५) दोनों ही नाम है दो गुणों पर विशेष ध्यान दिया गया है—खूँद करना (दो० ५४२) और मुँहजोर होना (दो० ६१०)। घोड़े की विशेषता और ऊँट का नितान्त अभाव इस तथ्य की ओर संकेत करते है कि इस्लामी शासन में भारतीय कला पर जितना ईरानी फारसी प्रभाव पड़ा, उतना अरबी का नहीं। इन दोहों में बिल्ली (दो० ८५), चूहा (दो० १३१), सर्प (दो० १६६ तथा ४८६), मछली (दो० ५५, २७७, ५७६ तथा ६२८), चींटी (दो० ६१५) और बीरबहूटी (दो० २४३ तथा ४०४) आदि जीव अप्रस्तुत रूप से आ गये हैं। कीटों में मधुप (दो० १४, १२७, १४३, २५५, २८२, ३६६ ३८८, ४५६ तथा ४६६) भृंगी (दो० ५८६) और जुगनू (दो० ३६६) है। सतसई में चकवा चकवी का वर्णन तो, भारती परम्परा पर है, परन्तु जुराफा नामक पशु भी उसी अनन्य प्रेम के लिए अप्रस्तुत बनकर आया है (दो० ४६७)।

पक्षियों में हंस (दो० १२४), मयूर (दो० ४६६ तथा ४८६), चकोर (दो०

२५८, ३४२ तथा ५४७), खंजन (दो० ४६, ४८७ तथा ६२८), पिक (दो० ४७५) चक्रवाक (दो० ४८४ तथा ४६२) और शुक (दो० ८५, ४३५ तथा ५३७) तो भारतीय परम्परा से आये हैं। परन्तु बाज (दो० १२४ तथा ३५५), कबूतर (दो० ३७४ तथा ६१६), चील (दो० ६५४), कुलिंग (दो० २५७), चटक (दो० ११५), गीध (दो० ३१), श्यामा (दो० ७१०) और काग (दो० ४३४, ४३५ तथा ४४७) पर सामयिक प्रभाव ही अधिक है। बाज के अनेक नाम हैं—श्येन, शाहीं, फ़तहबाज़ (दो० ७१०), संचान (दो० १२४) आदि। उस युग में बाज और कबूतर का जितना महत्त्व था उतना हंस और चकोर का नहीं। चातक, बक और सारस की नितान्त उपेक्षा तो बिहारी के सांस्कृतिक व्यक्तित्व के विषय में कुछ कल्पनाओं को जन्म देती है।

यदि वनस्पति-जगत् की ओर ध्यान दें तो सबसे अधिक वर्णन कमल और गुलाब का है। कमल (दो० ३४, ४६, ५३, ५५, १६६, ३३१ तथा ४८७), भारतीय परम्परा में, मुख (दो० ५३ तथा ४८७) नेत्र (दो० ४६, ५५ तथा १६६) और चरण (दो० ३४) सबके लिए अप्रस्तुत है; बिहारी ने मन (दो० ३३१) के लिए भी इसका उपयोग किया है। गुलाब मुगलकालीन संस्कृति का प्रधान कुसुम था, इसकी विशेषताएँ रूप, रंग तथा सुगंध के अतिरिक्त कोमलता और शीतलता भी हैं, बिहारी गुलाब की पँखुड़ी (दो० २५५,२५६, तथा ६६४) से अनेकशः आकृष्ट हुए हैं और उसके प्रसून (दो० २७०, ४३१, ४३७ तथा ४३८) से नायिका के शरीर (दो० ३५४) की उन्होंने तुलना की है; कोमलांगिनी नायिका के चरणों की सफाई भी गुलाब के ही झँवा (दो० ४८३) से होती है; प्रातःकाल फूलते हुए गुलाब की कली ने (दो० ८४) जो चट-चट शब्द किया वह भी कवि की कुंजवासिनी परकीया ने सुन लिया। शीतलता के लिए गुलाब-जल आजकल अमोघ माना जाता है; नायिका का विरह-जन्य ताप या तो पनकपड़ा (दो० ६६७) लपेटने से कम हो सकता है या गुलाब-जल की शीशी (दो० २१७) औंधाने से—जो नायिका इस उपचार से भी स्वस्थ न हो वही सच्ची विरहिणी है (दो० ४८ तथा ३०८); गुलाब-जल में कपूर (दो० ५२६), भी मिला दिया जाता था। चम्पक (दो० १४३, ४६६, ५४४ तथा ६६५), सोनजुही (दो० ८ १६०, ३३० तथा ६१३), मालती (दो० ८ तथा १२७), चमेली (दो० १३३), नवमल्लिका (दो० १७५) और मौलसिरी (दो० २०४ तथा ५१३) से सतसई सजी हुई है। कहीं सुरतरु (दो० १६) है, कहीं चन्दन (दो० १८०), कहीं केसर (दो० १०२, १५२ १६६, ३५६) है, कहीं कपूर (दो० ५६, ८६, ६०, २२८ तथा ५२६)। अर्क (दो० १४), इन्द्रायन (दो० ४४), तमाल (दो० १२७), सन (दो० १३५ तथा २४८), वन (दो० १३५, १३८ तथा ३३०), ईख (दो० १३५ तथा ५०४), अरहर (दो० १३५), केला (दो० २१०), अंगूर (दो० १६७), कदम्ब (दो० ४७० तथा ६७२), पलाश (दो० ५६७), निबौरी (दो० १६७), दाड़िम (दो० ५४६), गुड़हर (दो० २८२ तथा ५६५), जवासा (दो० ३२६), सौंफ (दो० ३६०), मतीर (दो० ३६६ तथा ३६७), जौ (दो० ३२६), रसाल, (दो० ४६६), सेहुँड़ (दो० ७४५ बन्धुजीव (दो० ४६०), गुल्लाला (दो० ४६६), पान (दो० २६७ तथा

४८०) आदि का प्रासंगिक संकेत है। ये प्रासंगिक अप्रस्तुत तत्कालीन जीवन से लिये गये हैं और इनका उपयोग सादृश्य के लिए नहीं किया गया अप्रस्तुत उक्तियों के सदर्भ में कर लिया गया है। मलीर की चर्चा मरुभूमि के सहारे आ गई है तो कदम्ब की व्रजभूमि के कारण। अँगूर पर विदेशी प्रभाव है तो सन, बन और अरहर में ग्रामीणता, वनस्पति जगत् के ये प्रासंगिक अप्रस्तुत कवि के समसामयिक वातावरण की सीमा का संकेत करते हैं।

इधर द्रव्यों में स्वर्ण (दो० १०२, १६१ १६२, ३३३, ३३५ ३५१ तथा ४७०), मोती (दो० १५६, १७३, ३०६, २६२ ३७६ तथा ३८०) आरसी (दो० ३६८, ५३६ तथा ६५०) और गुलाल (दो० २८०, ५०३, तथा ६३३) अधिक हैं। स्वर्ण और मोती वैभव के लिए और आरसी तथा गुलाल विलास के लिए सामान्यत प्रयुक्त समझने चाहिए। कुप्पा (दो० २४६) उसीर (दो० २४४), मरकत (दो० १८६), चूना (दो० १७३) गोरोचन (दो० १४३), मणि (दो० ११३, तथा ३६२), मधु (दो० ३८ तथा ५०४), सीप (दो० २२५) अभ्रक (दो० ४४१), सोरा (दो० ५६) पारद (दो० ४७६) आदि नगर के जीवन की दैनिक सामग्री है तो घुँघुची (दो० ६०, २३७ तथा ३१२) कौड़ी (दो० २३०) पहुला (दो० २४८), हींग (दो० २२८), नवनीत (दो० ४१६), गुड़ (दो० ७७) सूरन (दो० ३६६ तथा ३६७) आदि ग्रामीण जीवन का—हींग आदि का उपयोग काव्य-साहित्य में कम ही होता है।

सामाजिक जीवन की दृष्टि से सतसई में जिन व्यवसायियों की चर्चा है उनमें से मुख्य हैं शासक (दो० २, ५ तथा २२०), वैद्य (दो० ११६, ४८६ तथा ५५७) ज्योतिषी (दो० ५७५), भिषग (दो० २६४), गान्धी (दो० ६२४), नट (दो० १६३ तथा १६४) धोबी (दो० ४३६), बढ़ई (दो० ४४४) आदि। स्त्री का मुख्य व्यवसाय जगत् को 'रसयुत' करना है, यह ऊपर कहा जा चुका है, परन्तु बिहारी ने नायिका-पद केवल नागरी को दिया है ग्रामीणा को नहीं। ग्रामीणा या तो लम्पट युवकों का कामुक चर्चा का विषय बनी है या नागरी के सेवा-कार्यों में व्यस्त दिखाई गई है। प्रथम वर्ग में खेत रखनेवाली, कातनेवाली और बिलोनेवाली गृहिणियाँ हैं। दूसरे वर्ग से नाइन-स्त्री कवि को अधिक पसन्द है, वह भोली जब नायिका के पैरों में महावर लगाने बैठी तो स्वाभाविक लाली के कारण (दो० ४४) एड़ी को ही महावरी समझ बैठी और उसी को रंग के लिए मीडने लगी (दो० ३५)। स्त्री के लिए दो व्यवसाय और थे नर्तकी-कर्म और दूती कर्म। नर्तकी को 'पातुर' (दो० २८४) कहा जाता था, वह अपनी अंग भंगिमा के द्वारा रसिकों का मनोरंजन किया करती थी। दूती तो शृंगार काव्य का प्राण है, प्राय वह नाइन, रजकी आदि होती है क्योंकि अपने व्यवसाय के लिए उसका प्रवेश कुल-कामिनियों के अन्तःपुर तक हो जाया करता है, ऐसी दूती वयस्का होनी चाहिए, अन्यथा मुग्धा कुलकामिनी पर उसका जाल सफल नहीं हो सकता। विद्यापति ने इसी दूती का प्राय साहाय्य लिया है। परन्तु बिहारी की दूती नायिका की सखी है, वहाँ भी उसको समाजिक स्तर पर नीचा नहीं

दिखाया गया। कारण यह जान पड़ता है कि विद्यापति के युग में इन्द्रियजन्य भोग का उद्दाम लास्य समाज में हेय समझा जाता था, केवल वेश्या और कुलटा ही इसको पसन्द करती थी नागरियाँ नहीं, अतः इसको अप्रच्छन्न चर्चा संभव न थी, इसीलिए रजकी आदि बनकर ही प्रौढ़ा कुलटा इस छूत को समाज के अभिजात वर्ग में प्रविष्ट करा सकती थी। विहारी के युग में समाज के अधिकारी वासना-पंकिल हो चुके थे, न युवकों को लम्पटता में संकोच था, न युवतियों को कामुकता में लज्जा; शील नामक गुण केवल उस वर्ग में संचित था जिसने अपने को वाह्य जीवन से खींचकर घर में घुट-घुट कर जीना स्वीकार कर लिया था। विदेशियों का यह विष-वेध इतना सफल हुआ कि स्फूर्ति और उत्साह वासना से रंग गये, पवित्रता और सद्-गुण एक कोने में सड़कर क्षीण होने लगे। उच्छृंखल वासना का ऐसा प्रवाह आ गया था कि समाज का प्रत्येक अधिकारी इसमें मग्न होकर अपने को सुखी समझने लगा। विहारी-सतसई में वेश्या का वर्णन नहीं है, इसका कारण यह नहीं कि उस युग में वेश्यागमन कुकर्म समझा जाता था, प्रत्युत यह कि नागर जनों को रूप-यौवन के क्रय की आवश्यकता उतनी न थी—जब सद्भाव ही इस भोग को सुलभ कर सकते थे तो धन का व्यय करने पर नायिका को नागरीपद से च्युत करके पण्यस्त्री बनाते हुए यौवन-रस का अजस्र आस्वाद क्यों किया जाता ?

विहारी की नायिका इन्द्रिय-सुख के संचय में व्यस्त रहती है। उसके अनेक रूप हैं और नायिका-भेद के अनुसार उसको भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ प्रदान की जा सकती हैं। परन्तु उस नागरी की मुख्य विशेषता असंयम है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि कुलटा और कुलकामिनी में अन्तर लज्जा का ही है, जिस क्षण कुलकामिनी ने लज्जा का आवरण समेट लिया उसी दिन वह यौवन के रंग-मंच पर कुलटा बनकर प्रकट हो सकेगी।अब—सर और सुविधाएँ तो उस युग में सर्वसुलभ थी ही। विलास-कक्ष में स्वकीया वर्णन तो नायिका की नहीं, प्रत्युत कवि की निर्लज्जता का द्योतक है; परन्तु गली-गली के कामोद्दीप्त अभिनयों में नायिका की मनोदशा ही प्रकट हुई है; सखियाँ परस्पर में जो परिहास करती हैं उससे उनके कुल-शील का पतन द्योतित हो जाता है। ऐसी नायिकाओं को सिद्ध कुलटा मत कहिए, परन्तु कुल-कानि का उल्लंघन करके बाहर निकलने को उद्यत तो मानना ही पड़ेगा। विहारी की मुग्धाएँ प्रायः इसी प्रकार की हैं, या तो वे अविवाहिता हैं भावी पति की प्रतीक्षा में कल्पना-प्रसूत अभिनय करनेवाली, या वे अनास्वादितरसा हैं प्रणय-रस को अधरों में लगाती हुई संकोचशीला। सखी का वाग्जाल उनको उकसाने के लिए—उद्दीप्त करने के लिए ही है। एक सखी ने उसके कटीले नैत्रों की सराहना की (दो० ४५), दूसरी ने और भी स्पष्ट कह दिया कि आज किसके भाग्य जग गये है आज किस पर कामदेव की कृपा होना चाहती है (दो० ५८), तो तीसरी ने नायिका के कजरारे नेत्रों को 'कजाकी' करते पाया (दो० ६७०)—नेत्रों में कामुकता का उल्लास जब सखी पर प्रकट हो गया तो उम्मीदवारों पर क्यों छिपा रहा होगा ? सखियों के ये लक्ष्य-विषयक प्रश्न सामान्य रली मात्र भी माने जा सकते हैं परन्तु इनमें

लोक-लज्जा का त्याग भी प्रतिबिम्बित है जो कुलटा का प्रथम चिह्न है। दो दोहे इस मत के समर्थन में प्रस्तुत देखिए—

> रही अचल सी ह्वै, मनौ लिखी चित्र की आहि।
> तजे लाज, डरु लोक को, कहौ, बिलोकति काहि ॥५३३॥
> पलन चलै, जकि सी रही, थकि सी रही उसास।
> अबही तनु रितयौ, कहौ, मन पठयौ किहि पास ॥५३४॥

मध्ययुगीन लज्जा और लोक का भय नारी के सामान्य गुण हैं इसलिए पति को देखने वाली दृष्टि भी इन्हीं झरोखों में से झांकती है परन्तु लोक-लज्जा का भय अवैध सम्बन्ध में ही अधिक सम्भव है इसलिए हम नायिका को कुपथगामिनी मानना उतना संगत नहीं। वस्तुतः सखी का नायिका से प्रिय-विषयक, प्रश्न—'काहि', 'किहि पास', 'कौन पर', कौनु', 'कित' आदि—या तो विशेष ध्वनिगर्भित है या उसके भावी कुलटात्व का अनिष्ट हेतु है।

बिहारी के युग में नायिकाएँ तो गुण-कर्म स्वभाव से भाँति भाँति की थीं परन्तु उन सबका प्रेमी (भोक्ता) नायक नन्दकिशोर (दो० ५८१) एकरस ही है। वह कामुक भी उतना नहीं जितना कि लम्पट। अपना बोल सुनाकर दूसरों का राग बिगाड़ना (दो० ५५२) मानो उसका व्यसन है किसी के 'बिथुरे-सुथरे' केशों में फँस कर उसका मन (दो० ६५) प्रायः पथ को भूलकर अपथ पर चला जाता है। कभी रास्ता चलती हुई सयानी नायिका उसको नागिनी के समान (दो० १६६) डस गई, कभी उसकी पायल की ध्वनि पर मुग्ध (दो० २१२) होकर वह ललचाने लगा, कभी नायिका की भोली चितवनि (दो० ३०५) ही उसके चित्त में खटकने लगी और कभी उसकी श्याम चुनरी (दो० ३२६) पहिने देखकर नायक के मन पर स्नेह ने अपना अधिकार कर लिया। यदि अवगुण्ठनवती नायिका जिज्ञासावश वस्त्र को हटाकर देखने लगे तो नायक समझता कि वह उससे प्रेम करती है (दो० ३५०), और फिर सखी मुख से प्रार्थना करता कि मुख पर से वस्त्र हटाया जाय जिससे नेत्र सफल हो सकें (दो० ५३), यदि नायिका का मुख अनावृत है, तो उसकी द्युति नायक के हृदय को छेद देती (दो० ४४३)। यदि नायिका हड़बड़ी में बाहर खेलती हुई अपने घर घुसी तो नायक ने समझा कि वह अनेक शृंगारिक चेष्टाएँ करके (दो० २४२) अपने प्रेम का प्रमाण दे गई उसका दृढ़ विश्वास है कि नारी से समाज को अन्य कोई लाभ हो या न हो उसका एकान्त उपयोग शिशिर के शीत से मोक्ष (दो० ३४३) अवश्य है। एक दिन किसी कार्यवश नायक नायिका के घर गया और भला आदमी समझकर नायिका शिष्टाचार-स्वरूप उसको पान देने लगी तो नायक उस पर रीझ गया (दो० २६५), उस दिन से उसने नायिका के पड़ोस में मकान ले लिया और उसकी एक झलक पाने के लिए (दो० २६३) झरोखे के पास आसन जमाकर बैठ गया। यह साधना सफल उस दिन हुई जब अवसर देखकर एक दिन नायक सूने घर में जान पहिचान के कारण घुस गया और लज्जाशीला अबला का उसने बलपूर्वक हाथ पकड़ लिया (दो० ५८२)। इसी प्रकार के राहुओं से भयभीत होकर इन्दुकलाएँ अपने अगम-गृह

के भीतर जा छिपी थी (दो० ६६०)। बिहारी का काव्य तत्कालीन जीवन की वास्तविक स्थिति का यथार्थ संकेत देता है। विदेशी शासन के उस विलासी वसंत में मर्यादा का परित्याग किये बिना कोई भी व्यक्ति राजप्रसाद रूपी दल, फल-फूल का अधिकारी न बन सकता था (दो० ४७४)। पतन की यह कहानी सुन्दर रंगों से चित्रित होकर भी विचारशील नेत्रों के सम्मुख घृणास्पद चित्र ही उपस्थित कर सकती है।

सतसई में सामयिक प्रभाव के कारण कुछ नवीन अप्रस्तुतों का प्रयोग हुआ है। मुख्य है, 'कबिलनवी', (दो० ३०), चश्मा (दो० १४० तथा १५१), हमाम (दो० २८१), कालबूत (दो० ३६६), पायन्दाज (दो० ४१३), फानूस (दो० ६०३) तथा नटसाल (दो० ६०६)। 'कबिलनवी' शब्द का अर्थ 'मंत्र की कटोरी' हो या 'दिक् प्रदर्शक यन्त्र', इसमें सन्देह नहीं कि यह कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का द्योतक है, नायिका की दृष्टि सब पुरुषों के सामने जाती है परन्तु ठहरती है केवल एक ही नायक की ओर पहुँचकर, यन्त्र के समान उसकी यह गति गुप्त शक्ति से परिचालित परन्तु निश्चित है। नेत्र पर चश्मा देने (बिहारी ने चश्मा 'दिया' है, 'लगाया' नहीं) से लघु भी बड़ा दिखाई पड़ता है, याचक-लोग छोटे-छोटे लोगों के सामने हाथ फैलाने लगते हैं उनको बड़ा समझकर मानो उनकी आँखों पर चश्मा लगा हो लोभ का (दो० १५१); इस दोहे में नीति की गम्भीरता है। एक दिन विरहणी को लेने के लिए मृत्यु आगई और क्षीणा नायिका की खोज करने लगी, उसने जेब से चश्मा निकाला और आँखों पर लगा लिया, फिर भी विरहकृशा नायिका उसके दृष्टिपथ में न आई (दो० १४०), विरह की अत्युक्ति इस दोहे को गंभीर नहीं रहने देती परन्तु सूझ निश्चय ही प्रशंसनीय है। अतिथि के स्वागत के लिए हम लोग अर्घ्य मधुपर्क आदि जुटाकर उसकी शारीरिक और मानसिक विश्रान्ति का प्रबन्ध करते हैं, अरबी लोग सुखस्नान को सबसे बड़ा आतिथ्य मानते हैं हम्माम या कृत्रिम स्नानागार में, भक्त का हृदय भौतिक, दैविक और आत्मिक तापों से तपकर हम्माम ही बन गया जहाँ करुणेश को क्षण भर सुखाकास मिल सकता है—भगवान् संतप्त हृदय में जितनी तुष्टि प्राप्त करते हैं उसकी अल्पांश भी सुखोपचित मानस में नहीं (दो० २८१)। फारसी शब्द 'कालबुद' का अर्थ है 'ढाँचा', या 'फरमा', जूते और टोपी बनाने वाले एक सामान्य कालबुद पर चढ़ाकर जूते या टोपी की रचना करते हैं वही उस माप के लिए आदर्श है, यदि जूता कहीं से दबाता हो तो उसी कालबुद पर चढ़ाने से ठीक हो जाता है। मकान की मेहराब, छत या दरवाजा बनाने के लिए भी लकड़ी के एक ढाँचे की आवश्यकता होती है, जब तक ईंट का यह काम गीला है तब तक कालबुद उसमें लगा रहता है, जब वह पक्का (मजबूत) हो जाता है तब कालबुद को हटा दिया जाता है—उसको हटाये बिना इमारत में सौन्दर्य नहीं आता। प्रेम-भवन का निर्माण भी इन्हीं सिद्धान्तों पर होता है, नायिका की सखी-दूती नायक के अनुनय से तुष्ट होकर सूची के समान उन दोनों के हृदयों को प्रेम के धागे से जोड़ती है और जब जुड़कर पक्के हो गये तो वह बिल्कुल अलग हो जाती है। बिहारी ने दूती के लिए कालबुद अप्रस्तुत का प्रयोग किया है (दो० ३६६), जिसमें ध्यान दो बातों पर है—कच्ची हालत में सहारा देना और

पकड़ा होते ही बहिष्कृत हो जाना। यहाँ प्रेम की गति सरल नहीं है, समाज का भय और परम्परा की मर्यादाएँ उसकी दृढ़ता को सुसाध्य नहीं रहने देतीं, इसीलिए कार-बूद की अधिक आवश्यकता है। और जब प्रेम दृढ़ हो गया तो दूती व्यर्थ ही नहीं, बाधक भी है, क्योंकि दूतियाँ दूसरे की वकालत करते-करते अपनी अर्जी भी पेश कर दिया करती थीं, इसलिए दूती को हटा देना चाहिए—अब ही नायिका का काम चलने लगे वह सबसे पहिले उस गली का भगत करदे जिसने उसको साथ सहारा दिया था। 'पायंदाज' फारसी में उस जूते झाड़ने के टुकड़े को कहते हैं जो पैर पोंछने के लिए दालान के पास बिछा रहता है नायिका के आभूषण अपना अपना अंग के पांव बिछे हुए पायन्दाज़ ही हैं (दो० ४१३) दृष्टि उनसे पैर साफ करके ही उन अंगों पर पहुँच सकती है—मुगलकालीन संस्कृति की एक झलक के अतिरिक्त इस दोहे में पाय-दाज को अप्रस्तुत बनाकर भूषणों की अतिमाननीयता तथा अंगों की भव्यता का भी सफल संकेत है। फानूस शब्द भी फारसी का है दीपक या मोमबत्ती को काँच के घेरे में रखने से उसकी ज्योति और भी आकर्षक हो जाती है नायिका जब सुन्दरियों के घेरे में (दो० ६०३) बैठती है तो उसकी आभा अधिक शोभित होती है और वह ज्योति-केन्द्र सी दिखाई पड़ती है—अन्य सुन्दरियाँ काँच के समान सामान्य हैं परन्तु नायिका दीपक-ज्योति के समान झिलमिली। 'नटसाल' का प्रयोग बिहारी ने उस टीस की व्यंजना के लिए किया है (दोहा ६०६) जिसको प्रेम का प्राण कहना चाहिए। कटक (दो० २११ तथा ४०६) की नोक उतनी तेज नहीं होती जितनी नटसाल की, क्योंकि नटसाल में लोहे का फल होता है काँटा तो पैर में गड़ता है परन्तु शल्य प्रायः हृदय में ... और सूची की भी कोई तुलना नहीं। बिहारी में नसनीर (दो० ३२१ तथा ३४१) अप्रस्तुत बन कर आया है। ताफ्ता (दो० ७०), छुहगीर (दो० २३१) रकम (दो० २२०) सरताज (दो० ४) कबूल (दो० ५१) बदराह (दो० ६३), तथा घरी (दो० ३०७) शब्दों के प्रयोग से भी उस युग की संस्कृति का कुछ संकेत मिलता है। तम्बाकू पीने का वर्णन (दो० ६१४) शायद बिहारी के अतिरिक्त किसी दूसरे बड़े कवि ने नहीं किया, बिहारी के युग में यह भी विलास का एक अंग समझा जाता था और उस क्रिया में ओष्ठ, दृग तथा भ्रू का कुंचन निरीक्षण तथा वर्णन का विषय बनने लगे थे।

बिहारी सतसई एक मुक्तक काव्य है, उसका प्रत्येक दोहा स्वतन्त्र एवं स्वतः-पूर्ण है प्रत्येक दोहे की पृष्ठभूमि में तत्कालीन समाज की एक *झाँकी छिपी हुई है।* यदि अप्रस्तुत सामग्री का ही विश्लेषण किया जाय तो उसके अनेक वर्ग दर्शन में आते हैं। कवि का व्यक्तित्व जिन झीने सूत्रों से बुना हुआ है उनके कुछ चिह्न इन दोहों में अप्रस्तुत सामग्री के रूप में उपलब्ध हो जाते हैं। देशी और विदेशी, शास्त्रीय और *लौकिक,* चिरन्तन और तत्कालिक द्रव्य गुण और कर्म बिहारी के काव्य में अप्रस्तुत बनकर आये हैं। कृष्ण ने दावानल पिया था यह पुराण-गाथा है भारतीय जीवन की कवि ने इसी घटना को अप्रस्तुत बना दिया (दो० ३१२)। दूसरी ओर यह तो प्रसिद्ध है कि काम शिव का शत्रु है और शिव योगीश्वर हैं परन्तु इन कथाओं से काम का

शत-चन्द्र-शेखर बना देने में कवि की मौलिक एवं हृद्य संभावना है (दो० ४१६); इस सौन्दर्य की विशेषता यह है कि प्रथम तो नन्दनन्दन को कामदेव मानने में ही संभावना थी, फिर कामदेव को भी शत-चन्द्र-शेखर कल्पित करना इस उपेक्षा में दो गुना सौन्दर्य समाविष्ट कर देता है। विद्यापति की कल्पना प्रसंगों के निर्माण में सिद्ध है, तो विहारी की संकेतों के प्रदान में। सभी लोगों ने नायक के कुण्डल मकराकृति वाले बताये हैं, और पुराणों के अनुसार रतिपति मीनकेतन हैं, परन्तु विहारी की सखी ने गोपाल के मकराकृत कुण्डलों को जय का ध्वज कल्पित किया तो (दो० १०३) वह नायिका को यह भी बता देना चाहती है कि 'यदि नायक ने तुझको नहीं देखा तो भी कोई बात नहीं, तेरे गुणों को तो उसने हजार कानों से सुना है, और वह तुझ पर रीझ गया है, तू विश्वास कर कि वह तुझे प्यार करता है—उसके हृदय में प्रेम का देवता तेरे गुणों के ही कारण बस चुका है; अब तेरी बारी है, देखूँ तू बदले में क्या करती है।' ज्योतिष और गणित, वैद्यक और रसायन से सम्बन्ध रखने वाले अप्रस्तुत कवि के समन्तात् वातावरण से उद्भूत हैं, व्यक्तिगत प्रयास से नहीं (दो० ६६०, ३२७, ४२, १२०, तथा ४५७ आदि)। विहारी को खिलवाड़ का शौक जरूर था, परन्तु उनकी कला किसी सूक्ष्म व्यंजना के बिना तृप्त नहीं होती।

ऊपर कहा जा चुका है कि विहारी पर विदेशी साहित्य और संस्कृति का आजानु प्रभाव था, कुछ बातें तत्कालीन वातावरण से आ गई थीं और कुछ सहयोगी कलाकारों की संगति से। जिस सामग्री का प्रवेश विदेशी प्रभाव के कारण है उसका यथास्थान संकेत कर दिया गया है। यहाँ कवि की शैली पर विदेशी छाप देखना अभीष्ट है। प्रेम नाम से जिस वस्तु का कवि ने वर्णन किया है वह भारतीय नहीं है। प्रेम रूप से उत्पन्न होता है, हृदयों की सघनता का नाम नहीं है; अतः प्रेम का अर्थ हुआ वासनात्मक मोह। प्रेमी को बेसुध बनाकर निर्दय प्रेम-पात्र उसको तरसाता है। उसका रूप ठग (दो० १७) है, नैन लुटेरे (दो० १७४) हैं, और प्रेम का आड़तिया कामदेव साक्षात् वधिक (दो० १०४) है। प्रेम-पात्र ऐसा खूनी है जो दूसरे को मारकर खुशहाल (दो० ३२५) रहता है, यह निर्दयता (दो० ३७०) की चरम सीमा है। मन में उत्पन्न होनेवाली आत्माभिव्यक्ति की सामान्य इच्छा ही काम है, वस्तु-विषयोन्मुख काम का नाम रति है, संसार के समस्त विषयों में से नारी और पुरुष सर्वोत्तम हैं, इसलिए इनका पारस्परिक काम ही प्रायः रति नाम से वर्णित किया गया है। यह आवश्यक नहीं कि रति उभयपक्ष में समान हो, परन्तु जब तक दूसरे का व्यक्तित्व हृदय के सामने न होगा तब तक रति की संभावना नहीं। कवियों ने इसी व्यक्तित्व के साक्षात्कार को मिलन, मैत्री या घनिष्ठता मान लिया और दुहाई देकर प्रेमपात्र को कोसने लगे। विहारी ने रति को 'चाह' कहा है (दो० १२५) और उसे चुड़ैल के समान ग्राहिणी अपदेवता माना है; साथ ही प्रेमपात्र को सदा मिलकर दगा करने वाला (दो० ३७०) सिद्ध किया है। इन कथनों में व्यक्तिगत खीझ नहीं, प्रत्युत विदेशी प्रभाव है, फारसी काव्यों में स्नेह-पुर की अनीति का वर्णन बड़ी चतुराई से किया जाता था। प्रेम-पात्र पर खीझता हुआ प्रेमी अपने पर और समस्त

संसार पर भी शीघ्र उठता है, उसमें रोष नहीं, झुंझलाहट है। बिहारी की नायिका ने प्रेमपात्र पर खीझ करके उसे 'बरी' (दो० ५५२) कहा है, जिसका अभिधेय अर्थ तो शत्रु है परन्तु लोक में स्त्री अपने निकट सम्बन्धी पति-पुत्र आदि पर जब खीजती है तो उसे 'बरी' विशेषण से ही सम्मानित करती है—तात्पर्य होता है उस व्यक्ति से जो ऐसा दीर्घ दुःख दे गया जिसे हम भूलना नहीं चाहते। अपने पर खीज कर नायिका ने अपने नेत्रों को 'निगोड़े' (दो० ५६८) कहा, जिसका वाच्य अर्थ कुछ भी हो ब्रज और पंजाब प्रदेश में इसका प्रयोग 'अभागे'—'घृणणीय तथा दयनीय'—के अर्थ में होता है। समस्त संसार पर खीझ 'ववराह' (दो० ६३) आदि विशेषणों के प्रयोग में स्पष्ट झलकता है।

विदेशी प्रभाव बिहारी की अभिव्यक्ति पर भी पड़ा है। उर्दू के समान इनकी ब्रजभाषा में भी मुहावरों की सुन्दर छटा पाई जाती है। एक ही शब्द को लेकर उसके अलग अलग रोचक प्रयोग काव्य को लाक्षणिकता में मधुर बना देते हैं। क्रिया है 'लगना', इसका शरीर के ४ अंगों के साथ, ४ भिन्न भिन्न प्रकार से, प्रयोग देखने योग्य है—

> लोहूं मौं बातनु लग, लगो जीभ जिहिं नाइ।
>
> सोई स उर लाइये, लाल, लागियनु पाइ ॥५६६॥

(मैं आपके पैरों लगती हूँ, मुझसे भी बातों में लगने पर आपकी जीभ जिसके नाम से लगी हुई है, उसी को लेकर छाती से लगाइए।)

इसी प्रकार जूड़ा बाँधने वाली मन को बाँध लेती है (दो० ६८७), नेत्रों के मिलने पर मन मिलते हैं और गायें मिलाली जाती है (दो० १२८) या तो नजर किसी से लगता है या किसी की लगती है (दो० ६३६), दृष्टि लगने से दृष्टि निर-खिपी हो जाती हैं (दो० ६४), किसी से पल भर आँख लग जाय फिर पल भर भी आँख नहीं लगती (दो० ३६८), इस इच्छा से आँख नहीं लगाती कि आँख से आँख लगी रहे (दो० ६२)। इन तथा इस प्रकार के अन्य प्रयोगों में चमत्कार लक्षणा शब्द शक्ति का ही है, कुछ स्थलों पर शब्द का एक प्रयोग अभिधा का है तो दूसरा लक्षणा का, परन्तु कुछ स्थलों पर सारे प्रयोग लक्षणा पर ही आश्रित हैं। बिहारी के इन प्रयोगों में उर्दू के मुहावरों से अधिक चमत्कार है—ये खिलवाड़ मात्र न होकर भाव-व्यञ्जना में भी सफल हैं। इसे सब जानते हैं कि प्रेम की बातें मुख से नहीं कही जातीं, प्रायः नेत्रों से व्यञ्जित की जाती हैं। परन्तु क्यों? व्यञ्जना में जो सौन्दर्य है वह वार्ता में नहीं—इसीलिए कुछ आचार्य (भामह आदि) वक्रोक्ति को ही काव्य मानते हैं स्वभावोक्ति को नहीं। बिहारी ने इस नेत्र-व्यापार की ग्राह्यता का एक मनोरम कारण दिया है। आपके पेट में बहुत सुन्दर-सुन्दर व्यञ्जन हैं परन्तु उनको मुख के मार्ग से निकालिए क्या वे संग्रह के योग्य बने रहे? कदापि नहीं, वे तो घृण्य और त्याज्य हैं—भक्त लोगों ने इसीलिए माया की तुलना इस वमन से की है जिसको सन्तों ने उगल दिया है परन्तु अज्ञानी लोग जिसे कुत्ते के समान चाटते रहते हैं। मुख से बाहर उगले हुए वचन भी इसी हेतु झूठे, घृण्य, अतः संग्रह के अयोग्य हैं और इसी

हेतु प्रेम के वचन नेत्रों से कहे जाते है—ये चाक्षुष वचन कर्ण और नासिकेतु के समान पवित्र एवं निष्कलंक हैं :—

झूठें जानि न संग्रहे, मन मुँह-निकसे बैन।
याही तें मानौ किये, बातन को विधि नैन॥३४१॥

संग्रह शब्द का श्लिष्ट प्रयोग चमत्कार को और भी मनोज्ञता प्रदान कर देता है।

सतसई में कुछ अप्रस्तुत मौलिक तथा दैनिक व्यवहार के हैं। इनसे कवि की निरीक्षण-शक्ति का कुछ अनुमान लग सकता है। अल्हड़ देवर रूपसी भौजाई पर मुग्ध था और अनेक कुचेष्टाएँ करके उसे अपने पाप में भागी बनाना चाहता था, नायिका को अपने मन पर पूरा विश्वास है कि वह डिग नहीं सकता परन्तु, प्रश्न है देवर की कुप्रवृत्तियों को रोकने का। यदि वह पति को इस दिशा का कोई संकेत भी दे तो भाइयों के सिर फूट जायेंगे और समाज के लोग अनेक कल्पनाओं का आधार लेकर देवर-भाभी के इस प्रसंग की निन्द्य चर्चा करने लगेंगे। बेचारी सुलक्षणी देवर की कुप्रवृत्ति और गृह-कलह के बीच पिसकर दिन-दिन सूखती ही चली जाती है। कवि ने उसकी तुलना उस शुक से की है जो पञ्जर में सुरक्षित हो परन्तु बाहर एकटक दृष्टि गाढे हुए बैठनेवाली बिल्ली से सदा आशंकित रहे (दो० ८५) 'कुल-कानि' की पंजर से तुलना यह संकेत भी देती है कि यह नियन्त्रण सभी प्रकार से अस्वाभाविक तथा असह्य होते हुए भी चारित्र्य का एकमात्र रक्षक है। प्रियमिलन के लिए व्याकुल विरहिणी का तन और मन ताप से जल उठा, अब दूसरे उपचार तो व्यर्थ हैं केवल प्रिय ही तपन को दूर कर सकता है नायिका के शरीर से पनकपड़े के समान लिपटकर (दो० ६६७); यद्यपि वस्त्र और प्रिय का लिपटना एक-सा ही नहीं है फिर भी उपचार की दृष्टि से वे समान हैं। जामाता दूसरे घर से आने वाला कुटुम्बी है इसलिए उसे सदा आतिथ्य और सत्कार मिलता है, परन्तु जामाता घर का ही एक सदस्य बन जावे तो आतिथ्य का प्रश्न कहाँ रहा, इसीलिए 'घर-जमाई' सदा अपमान का अनुभव करता रहता है। बिहारी ने 'मान' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग करके (दो०१७१) इस स्थिति को सुन्दर अप्रस्तुत का रूप दिया है। रमणी का मन नवनीत के समान मृदु होता है परन्तु जिस प्रकार ऋतु के गुण से माघ मास का शीत बढ़ने पर नवनीत कठिन हो जाता है उसी प्रकार पति के अवगुण से मान बढ़ने पर रमणी का मन भी कठोर हो जाता है; बिहारी की साम्य-वैषम्य-गर्भ की तुलना कितनी रोचक है—

पति-रितु अवगुन-गुन बढ़त, मान-माह-कौ-सीत।
जात कठिन ह्वै, अति मृदौ, रमनी-मन-नवनीत॥ ४१६॥

बिहारी के युग में छेड़छाड़ सजीवता का एक लक्षण मानी जाती थी, प्रायः सखी नायिका के मनोगत भावों को पढ़कर उससे विनोद के लिए परिहास किया करती थी। उस वातावरण ने सुन्दर उक्तियों को जन्म दिया और समाज का जीवन हास-विलास से भर दिया। नायिका के नेत्रों में प्रेम की उमंग देखकर सखी ने पूछा था कि आज किसके भाग्य जगना चाहते हैं (दो० ५८)। देवर

के विवाह पर उससे गुप्त प्रेम करनेवाली भौजाई के मन का भाव वृद्धाओं ने पढ़ लिया और एक पूछ उठी कि आज सब लोग उत्साह-मग्न हैं परन्तु तू क्या खिन्न सी हुई सी दिखाई दे रही है (दो० ६०२)। नायक जब कबूतर उड़ा रहा था तो नायिका उल्लसित हो गई परन्तु उस उल्लास को प्रकट करने लगी कबूतर की प्रशंसा पर, फिर भी सखी समझ ही गई (दो० ३७४)। नायक को देखकर नागरी को कम्प और रोमाञ्च हो गया परन्तु सखी से छिपाना चाहती थी अतः बोली—काला काला यह मनुष्य हमारे घर क्या आता है इसको देखकर मैं भयभीत हो जाती हूँ और मेरा शरीर काँपने लगता है (दो० ५१५)। एक दिन सबेरे जब सखी घर आई तो उसने देखा कि नागरी के शरीर में आलस्य और नेत्रों में लाली है, वह पूछना ही चाहती थी कि चोर की दाढ़ी में तिनका निकल आया—नायिका का अपराधी हृदय स्वयं ही सफाई देने लगा—मैं गत रात्रि किसी के यहाँ रतिजगे में गई थी, इसलिए मुझे नींद सता रही है', सखी भी कितनी विनोदिनी है—अवश्य ही रंगीली तू रति-जगे से थकी हुई है, तेरे हँसौंहें नेत्र उसी आलस्य की सूचना दे रहे हैं' 'रतिजगा' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग (रात्रि+जागरण तथा रति+जागरण) इस परिहास का रसरंग से भर देता है (दो० ५११)। उमंग में नायक का मन कुछ कच्चा हो गया और वह सखा को अपने गुप्त प्रेम का रहस्य बताने लगा—'दिन भर और अर्द्ध रात्रि तक तो घर पर रुकी रही परन्तु अर्द्ध रात्रि में किसी प्रकार से आकर वह मेरे हृदय से लगी और दिन भर का सारा ताप दूर कर दिया,' सखा चौंका—कौन, कोई तुम्हारी प्रेयसी ?, तब नायक सावधान हुआ—'नहीं प्रिय वयस्य, ग्रीष्म ऋतु की शीतल वायु' (दो० ३८६)। सतसई में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जो काव्य की दृष्टि से अवश्य ही चमत्कार-पूर्ण माने जावेंगे, परन्तु साथ ही समाज की विकारग्रस्त मनोदशा के भी द्योतक हैं। आशा और उत्साह के स्थान पर मन का दासत्व जिस धूमिल उल्लास में प्रकट हुआ है उसमें आत्मा की ज्योति छिप सी गई है अमृत के स्थान पर मदिरा उत्साह के स्थान पर विनोद और शिव सङ्कल्प के स्थान पर खीझ उस वातावरण में अङ्कित है। मन की परवशता से विलास-पङ्क को अपनाकर नवनीत की व्यर्थ खोज इस भाव-सागर की सामान्य प्रवृत्ति है। 'चटपटी' शब्द का प्रयोग कवि ने कई बार किया है। (दो० ३३, ५६० तथा ५६७) और प्रत्येक बार आतुरता (कामातुरता, उत्कट अभिलाषा, घनी विह्वलता) के अर्थ में नायक का प्रधान गुण धैर्य तो मानो लुप्त हो गया था, उसके बदले बलिपशु के समान युवक युवतियाँ मन के वश्य होकर इन्द्रिय रस की उपभुक्ति से ही तृप्ति का अनुभव करते थे। बिहारीलाल नायिका के भोग्य रूप पर मुग्ध होकर उसका वर्णन करने लगते हैं परन्तु उपयुक्त शब्द नहीं पाते यौवन की उस ज्योति में भी उनको एक अपूर्व अलौकिकता के दर्शन होते हैं भौतिक और अलौकिक का यह समन्वय अद्वितीय है ऐसे स्थलों पर 'और' शब्द द्वारा भेदकातिशयोक्ति का अवलम्ब लेकर कवि ने स्वगत भाव को अङ्कित किया है—

(क) पिय आगम और चढ़ी, आनन ओप अनूप। (दो० १६३)
(ख) राति रमी रति देत कहि, और प्रभा प्रभात॥ (दो० २३)

(ग) वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान ॥ (दो० ५५८)
(घ) छुटे पीक, औरै उठी, लाली अधर अनूप ॥ (दो० ६६)
(ङ) नाउँ सुनत ही ह्वं गयो, तन औरै, मन और ॥ (दो० ५६६)

सतसई के सात सौ दोहों में कवि ने तत्कालीन समाज की झलक तो उपस्थित की है, ऐसे संकेत भी दिये हैं जिनसे उसके व्यक्तित्व का कुछ अनुमान लग सकता है। केशव के समान जाति एवं कुल का अभिमान तो बिहारी में नहीं पाया जाता और न प्रतिष्ठा एवं पाण्डित्य का ही गर्व है; वे एक बार (दो० ८५) 'कुलतिय' की प्रशंसा करते हैं तो दो बार उसका मजाक भी बना लेते हैं (दो० ६५२ तथा ७०६)। उनका शैशव व्यवस्थित रूप से एक स्थान पर नहीं बीता, यह प्रसिद्ध[1] है, और कैशोर में वे श्वशुरालय[2] आ गये परन्तु उनको अनुदिन सम्मान का अभाव खटकने लगा, जिसका संकेत एक दोहे (दो० १७१) में है। जयपुर आने से पूर्व उनको कतिपय स्थानों पर आश्रय खोजना पड़ा होगा परन्तु इनके गुण-ग्राहक उदार नहीं थे, बहुत प्रशस्तियाँ लिखने पर भी (दो० ७१) इनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया, और जब ध्यान दिया तो वे कवि पर रीझ (दो० ६८) न सके, कवि को अपनी मन्दमति पर खेद हुआ—ये तो सब धोबी-कुम्हार हैं, ये हाथ का व्यापार क्या करेंगे (दो० ४३९), अरे मूर्ख गन्धी तू इन गँवारों को इत्र दिखाकर इनसे खरीदने की दुराशा रखता है ? इस गामड़े में गुलाब का ग्राहक कोई नहीं है (दो० ६२४); रे गुलाब, तेरा फूलना भी अनफूलने के समान (दो० ४३८) ही रहा। वे लोग गरीब थे, ऐसी बात नहीं, वे कृपण थे जो खाते-खरचते नहीं जोड़कर रखते हैं (दो० ४८१), और जितना सचय करते हैं उतना ही उनका लोभ बढ़ता जाता (दो० १११) है, वे गुणवान् की उपेक्षा इसलिए करते थे (दो० ५४५) कि रीझकर कहीं धन न देना पड़े। अन्योक्तिमूलक अनेक दोहे इसी काल की प्रसूति हैं, उनमें बिहारी की कला विलासिनी नहीं प्रत्युत क्षुब्धा है, उसको अपने राग-रग का होश नहीं है अपनी अनिश्चित परिस्थिति में उलझी हुई बेचारी ! यह अव्यवस्था कितने दिन रही, इसका अनुमान कठिन है, परन्तु पूरा तारुण्य मथुरा में बसकर बिताने से ऐसा लगता है कि जयपुर आने पर बिहारीलाल प्रौढ़ थे—कला की दृष्टि से भी और अनुभव की दृष्टि से भी। जो कविता-नागरी ग्रामीणाओं के उपहास का भाजन (दो० २७६ तथा ५०६) बन रही थी, उसे अपनी चितवनि से सुजानों को बस में करने का अवसर मिला और कृपण गुण ग्राहकों के बदले प्रत्येक दोहे पर अशरफी देने वाला आश्रयदाता मिल गया; यही अन्तर है अर्क-तरु तथा अर्क (दो० ३५१) में, यह धतूरा नहीं, वास्तविक कनक था जिसमें बिरद के साथ-साथ गहना गढ़ाने (दो० १६१) की शक्ति भी थी। फिर तो बिहारी का जीवन ही बदल गया, सारा दिन हास-विलास में बिताकर अनुभव संचय करते और 'रसिक', 'नागर', 'गुनी', 'रंगीलो' आदि की संगति को काव्यबद्ध कर देते। बाणकवि के समान किशोरावस्था तथा तारुण्य अव्यवस्था में बिताने से बिहारी अनुभव-धनी हो गये और भटकने के बाद गुणी

(१) जनम ग्वालियर जानिये, खंड बुन्देले बाल।
(२) तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुराल ॥

आश्रयदाता मिल जाने से, देवकवि के विपरीत, उनका मन निराशा के दमन से बचा रहा।

ग्वालियर, बुन्देलखण्ड और मथुरा के अनिश्चित जीवन ने बिहारी की कला को दो विशेष गुण प्रदान कर दिये—निरीक्षण-सम्पत्ति तथा मर्मस्पर्शिता। यदि कवि में धन का अभाव होता तो वह उखड़ जाता और उसका काव्य निन्दा एवं स्तुति का सामान्य क्रीडा-क्षेत्र मात्र बना रहता परन्तु वह प्रतिभा एवं आत्मविश्वास (दो० ५६) की गोद में पला था, बाद अज्ञात आशा उसके दृष्टिकोण को सनुलन से दुलराती रही, और कालान्तर में उसका काव्य 'अपरत्वपूर्ण' सिद्ध हुआ। जयपुर आते ही उसने एक सवाविदि लिखी जो उसकी प्रथम रचना नहीं मानी जा सकती सम्भव है इसकी कथ जाएँ आज अपना भौतिक अस्तित्व में पाठकों के दृष्टिपथ से ओझल हो चुकी हों परन्तु यह असम्भव नहीं कि पुराने कलेवर के नाश पर उनके संचित संस्कार जयपुर के नवीन जीवन में अन्योक्तियों का रूप धारण कर प्रकट हुए हों। अस्तु, बिहारीलाल नागर वातावरण में आकर निश्चिन्त जीवन बिताने लगे। पुरानी स्मृतियाँ जब हृदय के किसी कोने में पुनर्जीवित हो जातीं तो गँवारों अरसिकों, कृपणों और गुणवेत्ताओं से इतर व्यक्तियों पर व्यंग्य की पिचकारी से कुछ रंगीन छींटे फेंक जातीं। समस्त प्रौढ़ वयस कवि ने 'विविध विलास' (दो० ५०६) और 'अनेक सवादों' (दो० ७१३) में व्यतीत कर दी उनके स्वप्न पूरे हुए जयपुर राज्य सभा के वे अमूल्य रत्न माने जाते थे। अब कवि के ध्यान (दो० ४१) में मन का मतवाला हाथी (दो० २१) आता जो सबका कुचलता हुआ स्वच्छन्द गति से बढ़ता चला आता है, उसने नरहरि के गुण गाये और मयनाय से सत्पथ मानस (दो० २८१) में विश्रान्ति निमित्त ठहरने के लिए श्याम को निमन्त्रित किया। भक्ति (दो० ३६१) और कतिपय नीति के दोहे इसी काल में रचे गये हैं। इस प्रकार सतसई के दोहों में कवि का व्यक्तित्व तीन भिन्न-भिन्न परन्तु अविरोधी रूपों में झलकता हुआ लक्षित होता है।

हिन्दी के शृंगार-काव्य में बिहारी का स्थान सर्वोपरि है वे नैसर्गिक शक्ति को लेकर जन्मे जीवन की विषम तम परिस्थिति ने उनकी प्रतिभा को परिपुष्ट किया। यदि तुलना आवश्यक ही हो तो यह कहा जायगा कि संस्कृत-साहित्य में जो स्थान बाणकवि का है हिन्दी में लगभग वैसा ही बिहारी को मिलना चाहिए। दोनों प्रतिभा-वान् कवि थे दोनों का निरीक्षण विशाल था, लोक-संग्रह उनका उद्देश्य नहीं, परन्तु उनका काव्य बाह्य चमत्कार के भीतर एक दिव्य सौंदर्य को छिपाये हुए है। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि बिहारी बाण के बराबर थे, प्रत्युत यह कि दोनों का व्यक्तित्व एक ही प्रकार का है उनकी उत्तुंगता तथा सामयिक स्थिति में तो अंतर रहेगा ही। बिहारी ने अपने दोहों में प्रकृति, गुण-दोष तथा गुणग्राहकता पर प्रासंगिक रूप से विचार किया है। गुण की स्थिति गुणी और गुणवेत्ता के मध्य में है और क्योंकि ये दोनों ही मनोयुक्त जीव हैं इसलिए गुण विषयक कोई भी निर्णय इन दोनों के व्यक्तित्वों से नितान्त स्वतन्त्र नहीं हो सकता यह कहना भी अनुचित न होगा कि गुण का अस्तित्व इन दो मनों के पारस्परिक सम्पर्क पर ही निर्भर है। अस्तु यदि सामान्य रूप

से कहा जाय तो संसार में न कुछ सुन्दर है और न कुछ असुन्दर; मन की रुचि हुई तो एक वस्तु सुन्दर लग गई और मन की रुचि न हुई तो दूसरे समय वही वस्तु सुन्दर न लगी (दो० ४३२)। सौन्दर्य की सम्भावना के लिए दो स्थानों पर नैसर्गिक गुण (प्रतिभा) आवश्यक है—रूप रिझानेवाला हो और नेत्र रीझनेवाले हों (दो० ६८२) यह रूप-गुण प्राकृतिक है, इसमें परिवर्त्तन सम्भव नहीं, अर्थात् यह उत्पाद्य नहीं है, जिसमें प्रतिभा नहीं है उसमें कोटि प्रयत्नों से भी उत्पन्न नहीं हो सकती—आप आँखें फाड़-फाड़कर देखिए फिर भी आपके लोचन दीर्घ और विशाल नहीं हो सकते (दो० ५६०); और जहाँ प्रतिभा है वहाँ उसका छिपा रहना सम्भव नहीं—अनिन्द्य सुन्दरी को दूसरी स्त्रियों के बीच में छिपा दीजिए फिर भी अलग फानूस में स्थित दीपक के समान प्रकट हो जायगी (दो० ६०३); बिहारी भी चिरकाल तक गँवारों में छिपे रहे परन्तु अन्त में चमके और अपूर्व आभा के साथ चमके। यद्यपि यह कहा गया है कि प्रकृति में अन्तर नहीं आता (दो० ३४१) जो नीच है वह नीच ही रहेगा, परन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि गुण उत्पाद्य नहीं है, उसका ह्रास तो सम्भव है, कुसंगति से उसकी प्रकृति पर प्रभाव न पड़े परन्तु बाह्य कलंक तो लग ही सकता है (दो० ३०३); हींग को कपूर में मिलाकर रख दीजिए वह कपूर की सुगन्धि ग्रहण न करेगी (दो० २२८) और कपूर को भी दूषित नहीं कर सकती, फिर भी लोक को कपूर की अमिश्रित सुगन्ध मिलने में तो बाधा हो ही जायगी। गुण-उत्पादन के लिए लोग बाहरी सज्जा अलंकार आदि का अवलम्ब किया करते हैं, परन्तु आभूषण या तो अभाव को आवृत्त करते हैं या आभा को चमकाते हैं—आभा की उत्पत्ति या वृद्धि नहीं करते; इसलिए सुन्दर अंग पर अंगराग वैसा ही है जैसा आरसी पर वाष्प (दो० ३३४), वाष आभूषण भी दर्पण पर लगी हुई काई (दो० ३३५) के समान ही लगते हैं। अस्तु, शृंगार का फल है शरीर की शोभा परन्तु गुणवेत्ता सुजान के मन पर तो (दो० ६४०) किसी और ही स्वाभाविक गुण का असर पड़ता है। बिहारी ने इसीलिए कहा है कि जिसमें स्वाभाविक शोभा है उसके लिए आभूषण तो भार (दो० ३२२) ही है। वस्तुत: रूप-गुण की विशेषता यही है कि सुजान के मन में रुचि उत्पन्न कर दे, वही रूप उज्ज्वल है जिसको देखकर आँखें भी उज्ज्वल हो जावें (दो० ५१२), फिर भी दर्शक जितनी रुचि से देखेगा उतना ही रूप उसे दिखाई पड़ेगा—दीपक में जितना स्नेह भरेंगे उतना ही उससे प्रकाश (दो० ६५८) पा सकेंगे; जब तक बिहारी को सुजान गुणवेत्ता न मिला उनकी प्रतिभा एक कोने में पड़ी रही, परन्तु पात्र को पाकर इतनी चमकी कि विलासी वातावरण से लाञ्छित होकर भी वह मनोज्ञ एवं हृद्य है।

घनानन्द

हिन्दी-साहित्य में जिस प्रकार 'साँवरि' शब्द से विद्यापति, 'ऊधौ' से सूरदास और 'रघुवंश-मणि' से तुलसीदास के साहित्य का बोध होता है, उसी प्रकार घनानन्द की कविता 'सुजान' और 'बिसासी' शब्दों से अंकित है। घनानन्द विद्यापति, चन्द-बरदाई, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा और बिहारी की कोटि के नहीं हैं फिर भी

साहित्यिकों के मन में उनके लिए एक विशेष स्थान है। उनके नाम और उनके साहित्य की पहचान के विषय में आलोचक एकमत नहीं हैं परन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि घनानन्द के काव्य का एक विशेष अंश मर्मस्पर्शी है साथ ही कुछ अंश अत्यन्त सामान्य भी है—कवित्त-सवैये जितने हृदयस्पर्शी हैं पद उतने ही सामान्य कोटि के। घनानन्द के काव्य में उनके जीवन के दो रूप से अधिक रूप प्रतिबिम्बित मिलते हैं।

यदि घनानन्द के ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर विचार न किया जाय तो उनके साहित्य में उनके जीवन के दो रूप हैं और यद्यपि उनमें कालक्रम का सम्बन्ध है इस लिए उनको पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध कहा जा सकता है। साहित्यिक जीवन के पूर्वार्ध में कवि किसी सांसारिक प्रेम में असफल होकर उसकी टीस से तड़पता बिलबिलाता हुआ करुण क्रन्दन कर रहा था। साहित्यिकों की दृष्टि में प्रेम की पीड़ा का यही काव्य घनानन्द को शृंगारी फुटकल कवियों का मुकुट मणि सिद्ध कर देता है। 'सुजानहित' के ५७० छन्द इसी अन्तर्मुखी व्याकुलता के संतप्त उद्गार हैं। उत्तरार्ध में कवि दार्शनिक बन गया। उसने सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली और विरह की कटुता को गले से नीचे उतारकर उसे सार्वभौम रूप में देखने लगा। 'कृपाकन्द', 'वियोग बेलि', 'इश्कलता', 'प्रेमपत्रिका', 'ब्रजप्रसाद' आदि की रचना इसी जीवन में हुई। फुटकल पद भी इसी परिस्थिति में रचे गये होंगे। यह कहना कठिन है कि यदि घनानन्द केवल उत्तरार्ध की ही कविता लिखते तो साहित्य में उनको वह स्थान मिलता या नहीं जो पूर्वार्ध की कविता से सहज ही मिल गया है।

विरह के दारुण आघात से जर्जर कलेजे को थामे हुए घनानन्द जब जीवन से भाग खड़े हुए तो उनके मन में अतीत स्मृतियों का संचित तनिक सा पाथेय मात्र ही अवशिष्ट था। वे प्रेमपात्र की क्रूरता पर आँसू बहाते गर्म साँसें लेते और किसी निष्फल आशा के सहारे उसे विघलाने का प्रयत्न करते। अन्त में एक ओर उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया और वे प्रेम को नादानी समझने लगे दूसरी ओर गुरु का उपदेश मिला कि वास्तविक प्रेम तो उस श्याम सलोने से होना चाहिए जिसके रूप पर अनेक गोपियाँ ही नहीं प्रत्युत कोटि कामदेव भी निछावर हैं और जिसमें रूप के साथ रिझाने वाले गुण भी हैं। यहीं घनानन्द के व्यक्तित्व में भारतीय और अभारतीय तत्त्वों का मिश्रण हो गया है। भारतीय साधक यह तो सम्भव है कि संसार से अतृप्ति के कारण उस अनन्त शक्ति के निकट जाय परन्तु जब उधर चला गया फिर उसके मन में संसार की वासनात्मक गन्ध नहीं रह सकती वह तो उस चकाचौंध में अपना नया जन्म देख कर स्वयं को भी भूल जाता है। इसके विपरीत सूफी साधक जब मजाजी से निराश होकर हकीकी प्रेम की चर्चा करने लगता है तब भी उसके मन से मजाजी रूप लुप्त नहीं हो जाता—उसे प्रतिक्षण हकीकी के लिए मजाजी का ही आश्रय लेना पड़ता है। अस्तु घनानन्द के उत्तर जीवन में भी 'रिलपतन्द दिलदार यार' कायम ही रहा यद्यपि उसका एकीकरण 'हलधर के बीर' या 'महबूब नन्द के' के साथ हो गया लगता है। वस्तुतः जब कवि 'रिलपतन्द दिलदार यार तू मुजनूँ की तरसान्दा है' कहता है तो साथ ही 'मनूँ ध्यान आन नहिं जानी तू घन-कुंज बिहारी है' भी लिख देता है या

'तेंडे मुख पर तिल अबे प्रति खूत करन्दा' कहकर उसे 'बन्दा गोविन्द सुनेंद दे धन आनंद-फन्दा' लिखने की जरूरत महसूस होने लगती है। उत्तर जीवन की ये कवितायें कवि को शुद्ध भारतीय परम्परा में नहीं बैठने देती।

घनानन्द के पूर्व-काव्य को, सुविधा के लिए, प्रेम-काव्य और उत्तर-काव्य को दीक्षा-काव्य कहा जा सकता है। साहित्य की दृष्टि से प्रेम-काव्य का मूल्य इतना अधिक है कि उत्तर-दीक्षा-काव्य अनिवार्यतः आलोचक का ध्यान आकृष्ट नहीं करता। इस प्रेम-काव्य की मुख्य विशेषता एकांगिता है, जिसके दो रूप उपलब्ध है। एक तो गीत-गोविन्दकार जयदेव के समान घनानन्द का प्रेम निभृत है, उसमें संसार या समाज न बाधक है और न साधक, प्रेमी और प्रेमपात्र दो से ही दुनिया आबाद है, न परिजन-पुरजन है, न दूती-सखी, इसलिए न बचाव है और न सहायता। जयदेव ने संभोग शृंगार का भी वर्णन किया था और प्रेम का प्रारम्भ भी दिखाया था इसलिये उनको सहचरी की पार्टटाइम सहायता लेनी पड़ी, परन्तु घनानन्द की कविता वियोग से ही जन्मती है, अतः उस निर्दय एकान्त तड़पन में किसी सदय उपचारकर्त्ता की आवश्यकता नहीं। घनानन्द का यह काव्य शुद्ध वेदना-का ही उद्‌गार है, तीसरे की अनुपस्थिति ने चीत्कार को अनावृत्त कर दिया और मुख से शिकायत के स्थान पर भी कराह निकलने लगी। एकांगिता का दूसरा रूप इस काव्य की सूर-काव्य से तुलना करने पर स्पष्ट हो सकेगा। सूर अपने 'संसारी' जीवन से विरक्त होकर जब भगवद्भजन में आ गये तब भी उनकी वाणी में पिछले जीवन की छाप लगी रही (इसका संकेत यथा-स्थान किया जा चुका है) और मुगल शासन की शब्दावली में वे अपने उद्‌गारों को प्रकट करते रहे। घनानन्द का शासन के साथ सूर की अपेक्षा अधिक एवं निश्चित सम्बन्ध था, फिर भी उनके काव्य में उसकी अधिक छाप नहीं मिलती। ऐसा लगता है कि विरहविह्वल घनानन्द अपने पिछले जीवन को बिल्कुल भूल गये, और उनके शरीर में विरह के सबल आघात से नये व्यक्तित्व का उदय हो गया; शारीरिक या मानसिक आघातों से व्यक्तित्व में विकार या इस प्रकार का आमूल परिवर्तन सम्भव है। एकांगिता, प्रेम की तरंगों में बहनेवाले कवियों का स्वाभाविक गुण है; घनानन्द का काव्य इस गुण के कारण महार्घ बन गया है—विरह का वह आघात बड़ा सशक्त रहा होगा जिसने घनानन्द जैसे सांसारिक जन के व्यक्तित्व में ऐसा विकारस्पर्शी परि-वर्त्तन कर दिया।

यह काव्य जिस प्रेम से ओत-प्रोत है उसका वर्णन कवि ने निम्नलिखित शब्दा-वली में किया है—

रूप-चमूप सज्यौ दल देखि, भज्यौ तजि देसहि धीर-मवासी।
नैन मिलें उर के पुर पैठतें, लाज लुटी न छुटी तिनका सी।
प्रेम-दुहाई फिरी घनआनंद, बाँधि लिये कुल-नेम गढ़ासी।
रीझ-सुजान सची पटरानी, बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी॥

(सुजान-हित, ४८)

पहिले मन पर धैर्य का शासन था परन्तु जब महावीर नायक रूप ने अपने

दल-बल का सजाकर गढ़ पर आक्रमण किया तो मानव धैर्य भयभीत होकर भाग गया, फिर नायक ने विजयोल्लास से हृदय रूपी नगर में प्रवेश किया और प्राकाला नेत्र नागरिक नेत्रों से मिले, तब उच्छ हाल भाव से लज्जा की लूट मची, तदुपरान्त नगर में प्रेम का राज्य घोषित कर दिया गया, उसकी कुन नियमों का बन्दी बनाया गया, रानी महारानी बनी और बुद्धि को दासी बनाकर जीवित रहने दिया गया। घनानन्द ने प्रेम का प्रारंभ रूप-दर्शन' से माना है, और यह रूप प्राकृतिक न होकर प्रसाधित है—वह मानो दल बल सहित ही आक्रमण करता है। रूप की चमू का क्वचित् संकेत है—

'सहज बनी है घन आनंद नवेली नाक, अनखनी नथ सौं सुहाग की मरोरतें'
(सुजान हित, ३०)

सुकर्यो न उरस्यो बनाव लखि जूरे को' (सुजान-हित, १०६),

और कहीं सामान्य वर्णन है—

पानिप-पूरी खरी निखरी, रस रासि निकाई को नीवेंहि रोप।
लाज लड़ी बड़ा मील-नमोली सुभाय हँसीली चितचित लोप।
अंजन अंजित-श्री घन-आनंद मंजु महा उपमानि हूँ ओप।
तेरी सौं एरी सुजान तो आँखिन दखि न आँखि न भावति मोपै॥

(सुजान हित, १८५)

जब सुसज्जित रूप को देखकर धैर्य का लोप हो गया तब नेत्र उसके नेत्रों से मिले और यह आश्चर्य की बात है कि उन भोले नेत्रों ने स्वागत ही किया प्रतिरोध नहीं फिर क्या था प्रेमी के हृदय से लज्जा भी खो गई—घनानन्द की यही स्थिति है। पीछे की घटनाएँ परवशता में हुई, क्योंकि इसी समय मन पागल हो गया था या शराबी के समान किसी नशे में छका हुआ था, उसने सुधि-बुधि खोकर प्रेम का तिलक मस्तक पर लगा लिया।

ध्यान देने से जान पड़ेगा कि इस तूफानी प्रेम में दो ही तो कदम हैं—रूप दर्शन और नेत्र मिलन रूप-दर्शन बिल्कुल एकपक्षीय है, उसमें दर्शक ही सचेष्ट है दर्शनीय

---

१ रूप निधान सुजान सखी जब तें इन नैननि नेकु निहारे। (सुजान हित १)
रूप-छकी, निन ही थिथकी, अब ऐसी अनैरी पत्याति न नैरी। (वही २)
दीठि कौं और कहूँ नहि ठौर, फिरी दृग रावरे रूप की दोही। (वही, ७)
निरखि सुजान प्यारे रावरो रुचिर रूप । (वही, ३५)
रावरे रूप की रीति अनूप, नयो नयो लागत ज्यौं-ज्यौं निहारिये। (वही ४१)
प्रान-पखेरू परे तरफै लखि रूप चुगो जु फँदे गुन-गायन। (वही, ४६)
देखें रूप रावरो, भयो है जीव बावरो (वही ७१)
जोबन-रूप अनूप सरीर सौं अंगहि अंग लसै गुन-ऐंठी। (वही, ११४)
यह रूप की रासि सखी जबतें सखी आँखिन कै हटतार भई। (वही १५३)
रूप-गुन आगरि नवेली नेह-नागरि तू । (वही १६२)

नहीं। इसलिए दर्शनीय पर उस दर्शन के फलाफल का कोई उत्तरदायित्व नहीं आता। नेत्र-मिलन भी उभय-पक्ष मे सयत्न नहीं, परन्तु विष का वमन यहीं से प्रारंभ होता है। किसी के रूप को देखकर हम रीझ जायें—यह स्वाभाविक है, परन्तु यह रीझ मौग्ध्य कहलायेगी प्रेम नहीं—भक्त कवियों ने इसी को मन की मूढ़ता कहा है; मुग्धता हो,या मूढ़ता, है यह बहक ही, क्योंकि रूप पर रीझना तो सामान्य बात है, परन्तु उससे आगे की चरितावली विडम्बक है। यदि रीझ तक ही बात समाप्त हो जाती तो कुशल थी, परन्तु तदुपरान्त नेत्र भी मिले। रीझनेवाला दर्शक तो रूप पर सव्यवधान दृष्टिपात करता ही रहता है, यदि दर्शनीय के नेत्र भी अकस्मात् एक बार उधर आगये तो दर्शक ने अपने को कृतार्थ समझा। अब दर्शनीय के मन में, आकर्षण, घृणा, या कोप से, यह कुतूहल उत्पन्न हुआ कि यह दर्शक पुनः-पुनः देख रहा है क्या; इसलिए उसने तीन-चार बार आँख उठाकर उसको नहीं प्रत्युत उसकी चेष्टा को देखा। दर्शक ने समझा कि उसके नेत्र बार-बार आगे बढ़कर मेरे नेत्रों का स्वागत कर रहे हैं। यही गलतफहमी तथाकथित प्रेम को जन्म देती है, और आश्चर्य तो यह है कि घृणा और कोप से विकम्पित दृष्टि को वह अनुराग-लोल समझने लगता है। दर्शनीय की यह प्रतिक्रिया किसी भी अर्थ में अनुराग का अर्थ नहीं है। अतः यह नेत्र-मिलन भी उतना ही एकपक्षीय है जितना कि रूप-दर्शन। रूप-दर्शन और नेत्र-मिलन की ये समवेत घटनाएँ जीवन में न जाने कितनी बार आती होंगी, फिर भी मन कुछ खास लोगों के पीछे ही क्यों पड़ जाता है—इसका कारण नेत्र-मिलन में दर्शनीय की प्रतिक्रिया भी है। यदि रूपसी यह जानती कि वह लुटेरों से घिरी हुई है, उसे सख्ती से काम लेना होगा, तो वह अपनी चितवन से भोलेपन के स्थान पर कठोरता बरसाती, परन्तु उसने अपने वातावरण को ठीक नहीं समझा, इसलिए बैठे-बैठाये ही अशान्ति मोल ले ली। लम्पट मन तो क्षुधित श्वान के समान सर्वत्र मुँह मारने की कोशिश करता है, मुख घुमाते ही यदि उस पर डंडा न पड़ा तो वह बिगड़ता ही चला जायगा, और कहीं भी शुद्धता-पवित्रता न रह सकेगी।

बिहारी से तुलना करने पर घनानन्द के प्रेम की कुछ विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं। बिहारी का काव्य व्यक्तिगत उद्‌गार न होकर वर्णन-मात्र है, इसलिये उसमें शृंगार की अनेक मनोरम भूमियाँ हैं, परन्तु घनानन्द का काव्य व्यक्तिगत अनुभव से उत्पन्न है, इसलिये उसमें शृंगार की एक ही परिस्थिति और उसका एक ही रूप मिलता है। बिहारी ने जिस प्रेम का अधिकांश वर्णन किया है वह नेत्र-मिलन से प्रारब्ध और रूप-सौन्दर्य से उद्दीप्त होकर मन के मिलने तक आगे बढ़ता है, वह प्रायः एकपक्षीय नहीं, तुल्योन्माद है; परन्तु घनानन्द में रूप प्रथम हेतु या मूल कारण है, नेत्र-मिलन वास्तविक नहीं प्रत्युत काल्पनिक है, और एकपक्षीय होने के कारण इसमें मन की साध कभी पूरी नहीं होती। इसलिए बिहारी के विपरीत घनानन्द का प्रेम सर्वत्र विरहोन्माद है, उसमें संयोग की घड़ी लिखी ही नहीं। चण्डीदास का प्रेम भी विरहोर्वर था, परन्तु यह उभयपक्ष में था इसलिए उसमें संयोग अवश्य है, यद्यपि संभोग का अभाव है; घनानन्द में संयोग नहीं है—उसकी तनिक भी संभावना नहीं है—फिर भी संभोग की भूरि कल्पना की गई है—

सोए हैं अगनि अंग समोए सु भोए अनग के रस निरयौ करि।
केलि कला रस आरस भ्रा सब पान छके घनआनद मौं करि।
प मनसा मधि रागत पागत लागत अरनि जागन ज्यौं करि।
ऐसे सुजान विलास निधान ही सोएँ जगे कहि क्यौरियवयौं करि॥
(सुजान हित, १३६)

चण्डीदास के विरह में जो उन्नतीकरण का भाव था वह घनानन्द में न था सका इनका विरह अप्राप्ति से उद्दीप्त ही होता है उन्नत नहीं, रति या, कल्पना में न जाने कितने स्थाना पर वणन है और उनमें कवि का मन रम गया है, केलि-कोविदा 'जान प्यारी' का एक रमणीय चित्र देखिए—

सहज उज्यारी रूप अगमगी जान प्यारी
रति प रतीक आभा है न रोम रीस की।
छोकने चिहुर नीके आनन विथुरि रहे
कहा कहौं सोभा भाग भरे भाल सीस की।
दोऊ बीच मधुप मरीचि दवि फनि फबी
केलि सम उपमा ससनि चिते बीस की।
मनौ घनआनद सिगार रस सां सँवारी
चिक म विलोकति अहिन रजनीस की।
(सुजान हित, १६६)

इस कवित्त के काव्य-गुण पर शंका नहीं की जा सकती परन्तु जिस घनानन्द को दीदार के बाद मिलन नसीब न हुआ हो वे इस प्रकार सम्भोग सिक्त वणन क्या करने लगे—यह विचारणीय है। यदि इस वणन को किसी अन्य नायिका का माना जाय तो घनानद के प्रति अन्याय होगा क्योंकि फिर उनका प्रेम अनन्य[१] न रह सकेगा—यह समस्त काव्य व्यक्तिगत जो है। अत इस वणन को अभीष्ट नायिका के विषय में कल्पना के उद्भूत समझना चाहिए।

ऊपर कहा जा चुका है कि घनानन्द के काव्य का प्राण व्यक्तिगत अनुभूति तथा सहज उद्गार है। बोधा ठाकुर आदि कवि भी इसी प्रकार के थे। इन्होंने किसी साहित्यिक प्रेरणा से काव्य रचना नहीं की प्रत्युत इनका हृदय वयक्तिक वेदना को सहन न कर सकने के कारण काव्य में प्रस्फुटित हो गया। इस वग के कवियों की सामान्य विशेषताएँ एकपक्षीय प्रेम तथा व्यक्तिगत वेदना की अभिव्यक्ति ही है, साथ ही स्थायी विरह क्वचित आशा और प्राय खीझ दैन्य तथा अनुनय भी ध्यान देने योग्य हैं। यह कहा जा चुका है कि घनानन्द ने अपने स्थायी विरह को काल्पनिक सयोग और सयोग से मधुर बनाने का प्रयत्न किया है, रति के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। कवि ने इन कल्पनाओं को 'अभिलाषनि-प्यार' (सुजान हित, १३) नाम दिया है और

१ पहलौ प्यार को निहारौ तुमहीं नीकें निहारौ,
हाहा जनि टारौ याहि, ववारो दूसरो न है।
(सुजान हित, ७१)

इनका विस्तार 'रस-आरस' (सुजान-हित, १७), 'सौति' (वही, १६), 'उत्कण्ठा' (वही, २३), 'प्रतीक्षा' (वही, २७), 'हँसनि-लसनि' (वही, २८), 'रति-रंग' (वही, २६), 'रस की तरंग' (वही, ३२), 'आलिंगन' (वही, ३६), 'बैस की निकाई' (वही, ५६), 'रूप-मद' (वही, ८१), 'चारु चुरीनि' (वही, ११५), 'नवल सनेह' (वही, १५८) आदि अनेक रूपों तक किया है। शायद इन अभिलाषाओं[1] में आशा के बीज झलकते हों क्योंकि कई बार 'आगम-उमाह-चाह' (७७) से उनका मन कुछ उल्लसित-सा लगता है और वे ऐसा सोचते हैं कि अपनी रीति को निबाहने के लिए मिलन जरूर होगा—

कै बिपरीति मिलौ घनआनन्द या बिधि आपनि रीति निबाहौ।

(सुजान-हित, ८६)

आनन्द के घन प्रीति-साकौं न बिगारियै। (वही, १२४)

वस्तुतः यह आशा दैन्य और अनुनय का ही प्रासंगिक परिणाम है। शायद ही किसी दूसरे प्रेमी ने इतना दीन बनकर अपने प्रेमपात्र को मनाया हो, चाहे उसके प्रेम में कचाई थी, चाहे वह बिल्कुल निराश हो चुका था। 'आपको न चाहै, ताके बाप को चाहियै' कहने वालों को छोड़ दीजिये, हिन्दी का दूसरा ऐसा कौनसा कवि है जिसने हा-हा खाकर अपना मुख सुखा दिया या पैरों पड़कर माथा घिस दिया हो, परन्तु घनानंद ऐसा प्राय: करते हैं जो उनकी दीनदशा का फल है और उनके प्रेम का मापक भी है—

लै लै प्रान वारौं इक टक धारौं यौं बिचारौं,
हा-हा घनआनन्द निहारौ दीन की दसै।

(सुजान-हित, ६०)

हित-चायनि च्वै चित चाहत लै नित पायनि ऊपर सीस धरौं।

(वही, ११०)

जिस गौरव से भक्त कवि भगवान् के सामने अपने को दीन बताकर अपने दैन्य का वर्णन करते हैं वही विरही घनानन्द में है; लोक-लाज का वास्तविक त्याग तो यहीं हुआ था, अन्य प्रेमी तो, लगता है, झूठ बोला करते थे। यह दैन्य लोक-संग्रह की दृष्टि से अवाञ्छित हो परन्तु घोर वेदना का सूचक है। भगवान् के सम्मुख दीन बनने से आत्मा निस्तेज नहीं होती परन्तु किसी व्यक्ति के समक्ष इस सीढ़ी तक उतर आने से ज्योति बुझ सी जाती है। अतः नितान्त असह्य वेदना के बिना सिर पटकने के समान इस दैन्य की दशा सम्भव नहीं, इससे स्वाभिमान चूर-चूर हो जाता है और पीड़ा शान्त नहीं होती। घनानन्द के काव्य में भाव पक्ष का आकर्षण यही पीड़ा है जो असामान्य मनोदशा से उद्भूत होने के कारण पाठक को ग्रहण कर लेती है।

और हुआ भी वही घनानन्द ने अपने हृदय को टूक-टूक[2] कर दिया, परन्तु

---

१. भरि अंक निसंक ह्वै भेटन कौं अभिलाष-अनेक-भरी छतिया।४२८।

२. ऐसो हियो-हित-पत्र पवित्र जु आन कथा न कहूँ अवरेख्यौ।
सो घनआनन्द जान अजान लौं टूक कियौ परि बाँचि न देख्यौ॥

(सुजान-हित, २८२)

उनके प्रेम-पात्र ने उसकी पतन की कभी परवाह नहीं की, वे उजड़[1] गये, परन्तु मावन[2] कहीं और ही बसे रहे, इनके हृदय में आग[3] लग गई, होली[4] जलने लगी, वे खुश हैं। स्वाभाविक भी है। जब घनानन्द नितान्त एकपक्षीय आकर्षण को ही प्रेम समझने लगे तो उसका और क्या परिणाम हो सकता था। सुन्दर व्यक्ति पर प्राण देने वाले तो अनेकों व्यक्ति हो सकते हैं वह बेचारा किस-किस पर दया करके उनके मन को शान्त करेगा ? इसलिए एकपक्षीय आकर्षण सर्वथा सम्भव है, प्रेम नहीं, प्रेम हृदय का वह आकर्षण है जो उभय पक्ष में सम हो—अनुराग मात्रा में तुल्य नहीं हो सकता परन्तु दोनों पक्षों में अवश्य तुल्य होना चाहिये। घनानन्द को अब मालूम हुआ कि उनका प्रेम-पात्र तो निष्ठुर और निर्मोही है उस जैसा विश्वासघाती कोई दूसरा नहीं हो सकता—

> एक बिसास की टेक गहाय कहा अस जो उर और ही ठानो।६।
> रस प्याय के ज्याय बढ़ाय के आस बिसास में यों बिष घोरिय जू।३८।
> अधिक बधिक तें सुजान रीति रावरी है।२४४।
> परतीति के कीनी अनीति महा विष दीनो दिखाय मिठास डरी।
> इत काहू सों मेन रह्यो न कछू, उत सेल-सो ह्वै सब बात टरी।२४६।
> तुम्हें पाय अजू हम खोयो सबै हम खोय कहो तुम पायो कहा।३२२।

इस एकपक्षीय आकर्षण का अवसान संसार के प्रति अश्रद्धा में हुआ। प्रेम कभी नहीं करना चाहिए इसमें आनन्द कम और विपत्ति अधिक है, जो भाग्य में लिखा होता है वही मिलता है, उसने दुःख दिया और सुख पाया परन्तु हमने अपना चित्त सौंप दिया फिर भी चिन्ता पल्ले पड़ी हमारा जीवन व्यर्थ है, ईश्वर मनुष्य को चाहे जो कष्ट दे परन्तु किसी निर्मोही से उसका प्रेम न करावे। इस प्रकार के उद्गार प्रेम की अवहेलना में व्यक्त किये गये हैं—

> (१) देह दहै न रहै सुधि गेह की, भूलि हू नेह को नाँव न लीजै।३७।
> (२) गुन बँध, कुल छूटै, आधो दै उदेग लूट,
> उत सूर, इत हूँ घानन्द विपत्ति है॥५१॥
> (३) कौन कौन बान को परेखो उर आनिये हो,
> जान प्यारे कै सैं विधि अंक हारियत है॥१२६॥
> (४) दुख कै सुख पावत हो तुम तौ, चित के अरपे हम चिंत लही॥१३१॥
> (५) हे घन आनन्द सोच महा मरिबो अनमोच बिना जिय जीवो॥१४८॥
> (६) दिनन को फेर मोहि, तुम मन फेरि डारयो॥२२४॥
> (७) प्रान मरेंगे, भरेंगे बिथा, पै अमोही सों काहू को मोह न लागौ॥२८४॥

---

१ रावरी बसाय तो बसाय न उजारिये। (वही २१८)
२ उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखो,
 सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हो। (वही, २१७)
३ उर आँच लागे। (वही २०६)
४ होरी-सी हमारे हियें लागिय रहति है। (वही, २१६)

निराशा के ये वाक्य हृदय की जर्जरता के द्योतक हैं। झूठी आशा, निराधार विश्वास, यथासम्भव प्रयत्न और दयनीय दैन्य के अनन्तर असफलता से पुरस्कृत होने पर हृदय में खीझ, अश्रद्धा और भाग्यवाद के इन भावों का आ जाना स्वाभाविक ही है। घनानन्द में इनकी संख्या अपार है और इनका आकर्षण भी निर्विवाद है—

जरौं विरहागिनि में करौं हौं पुकार कासों
दई गयो तू हू निरदई और ढरि रे।२६५।
हाय दई यह कौन भई गति प्रीति मिटे हू मिटै न परेखो।३०४।
कब आय हौ औसर जानि सुजान बहीर लौं बैस तौ जाति लदी।३४६।
तुम ही तिहि साखि सुनौ घनआनन्द प्यार निगोड़े की पीर बुरी।३८४।
यह तौ सुधि भूलि गयी बिछुरैं कबहूँ सुधि भूलि न भीत लई।४६२।
एक बास बसे सदा बालम बिसासी, पै न
भई क्यों चिन्हारि कहूँ हमें तुम्हें हाय हाय।४६८।

इस हाय-हाय में जो करुणा है वह खीझ का परिहास करने वालों को भी पिघला सकती है। यदि निष्ठुर प्रेम-पात्र भी इसको सुन लेता तो वह भी दयार्द्र हो जाता। परन्तु भाग्यवादी होते-होते घनानन्द व्यक्तिगत असफलता को दैव की इच्छा समझने लगे; यहीं से उनकी सम्प्रदाय में दीक्षा प्रारम्भ होती है—

दौरि दौरि थक्यो पै थके न जड़ दौरनि तें,
गति भूलैं मन की न बुरी कछू तोतें रे।
तातें ठौर दीजै याहि, सुधि लीजै मोदघन,
बूझियै न बिड़रयो अनाथ तोहि होतें रे॥
हाय हाय रे अमोही हारि के कहत हा हा,
आय बनी अब ह्वै है वही रची जो तें रे।
आस-बिसवास वै असाधन हू साधि लै न,
साधन कृपा है और कहा सधै मोतें रे॥
(कृपाकन्द, ६२)

इस दीक्षा से पूर्व घनानन्द के प्रेम पर कुछ और विचार कर लेना चाहिये। यह कहा जा चुका है कि वे प्रेम को कोसते हुए अपनी खीझ प्रकट कर रहे थे। प्रेम बुरा होता है, इसमें न्याय नहीं है, इसमें निर्दयी जीत जाता है, दीन मारा जाता है आदि उद्गार शृंगार काल की अपनी विशेषता और तत्कालीन जीवन की असारता के द्योतक हैं। इनका उद्गम प्रेमपात्र को निष्ठुर, बधिक आदि विशेषणों से सम्बोधित करने में है। परन्तु पीछे घनानन्द को पता लगा कि प्रेम तो वास्तविक और सत्य है, जो निष्ठुर है वह प्रेम के स्पर्श से शून्य होने के कारण; प्रेम को उसके कारण बुरा नहीं कहा जा सकता, वह बुरा है क्योंकि वह प्रेम के मर्म को नहीं जानता। प्रेम का निर्वाह सामान्य व्यक्ति का काम भी नहीं है, इसके लिए तो हृदय अत्यन्त शुद्ध, पवित्र, सरल एवं निष्कपट होना चाहिए, हमने यह भूल की कि अयोग्य व्यक्ति को ऐसी अमूल्य वस्तु का अधिकारी समझते रहे। घनानन्द के ये विचार उद्वेगजनित नहीं हैं, इनमें प्रेम के

भागने की प्रवृत्ति नहीं प्रत्युत उसका आत्मसात् कर लेने का भाव है—

(क) अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलें तजि आपुनपौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ॥२६७॥

(ख) प्रेम-नेम हित चतुरई, जे न बिचारत नेकु मन।
सपनेहूँ न बिलम्बियै, छिन तिन ढिग आनन्दघन ॥२८५॥

क्योंकि यह प्रेम एक सामान्य भाव नहीं रहा प्रत्युत 'प्रेम पन्थ' बन गया है, यह अन्तर्यामी 'जानराय' का प्रेम है जिसको 'रँगीली प्रीति'[1] कहा जाता है। इसमें वियोग और संयोग[2] दोनों ही एकरस हैं कबीरदास की साधना के समान ही। उदाहरण देखिये—

(क) जल-थल-व्यापी महा अंतरजामी उदार,
जगत में नाँवैं जानराय रह्यौ परि रे ॥२६५॥

(ख) ज्ञान हू तें आगे जाकी पदवी परम ऊँची,
रस उपजावै तामैं भोगी भोग जात ग्वै।
जान घनआनन्द अनोखो यह प्रेम-पन्थ,
भूले ते चलत, रहैं सुधि के थकित ह्वै ॥२६६॥

आलोचकों ने माना है कि घनानन्द की कविता 'जग की कविताई'[3] से बहुत ऊँची है, इसको वही समझ सकता है जिसके हृदय नेत्र में स्नेह रंजित[4] हो। कदाचित् इसलिए कवि ने यह धारणा की थी कि दूसरे लोग लगकर सायास[5] कविता करते हैं परन्तु मेरी कविता नैसर्गिक है और इसीलिए मुझे उच्च स्थान प्रदान करती है। इस कविता की मनोरमता पर रसिक और साहित्यिक दोनों रीझ चुके हैं। हमने ऊपर बताया था कि इस रीझ का मुख्य आधार तो उस काव्य की वैयक्तिकता है यह इतना एकांगी है कि अनुभव जन्य यथार्थ वेदना को सहज शक्ति से अभिव्यक्त करके ही पाठक को वशीभूत कर लेता है रीतिबद्ध कवि बिहारी आदि की अपेक्षा व्यक्तिगत वेदना को स्वतन्त्र रूप से छन्दबद्ध करने वाले सभी कवि अधिक हृदयस्पर्शी लगते हैं। घनानन्द के सौन्दर्य में इस अनावृत करुणा को प्रथम स्थान मिलना चाहिए। दूसरा स्थान शैली गत चमत्कार का है। घनानन्द को संसार का कुछ अनुभव प्राप्त था, यद्यपि उन्होंने उस समस्त का उपयोग नहीं किया, परन्तु उसमें से किंचिद को अप्रस्तुत सामग्री के रूप में स्थान दिया है। यह दुहराना आवश्यक है कि घनानन्द में इतनी कम अप्रस्तुत सामग्री का उपयोग है कि उसके आधार पर निकाले गये निष्कर्ष

१ नीरस रचनि बचाय रँगीली प्रीति सुरस पागीगे। (कृपाकन्द)
२ चाह के रंग में भीज्यौ हियो बिछुरें मिलें प्रीतम सान्ति न मानें॥
३ जग की कविताई के धोखे रहै ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी। (प्रशस्ति)
४ समझै कविता घनआनन्द की हिय आँखिन नेह की पीर तकी। (वही)
५ लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत ॥२२८॥ (सुजान हित)

निर्भ्रान्त नहीं रह सकते; इस सीमा पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। अस्तु, यह यत्किञ्चित् सामग्री उस जीवन से आई है जो पाठक का सुपरिचित, परन्तु साहित्य में सुप्रचलित नहीं, है। फिर भी इस सामग्री की तुलना कबीर की सामग्री से नहीं हो सकती। कबीर का समाज उन पिछड़े हुए लोगों का था जो चाकी-चूल्हे या शिश्नोदर की चर्चा में ही गद्गद् रहते हैं इसलिए उनके गुरु कबीरदास अपने उपदेशों में उसी अप्रस्तुत सामग्री को रख सके। इसके विपरीत घनानन्द का समाज बुद्धि-वैभव में प्रौढ़ था और उसका प्रसार बहुमुखी था, अतः कवि ने अनेक क्षेत्रों से उस सामग्री का सहज चयन किया है, यह परम्परागत नहीं मौलिक है, सायास नहीं सहज है। घनानन्द की यही विशेषता है कि कम-से-कम सामग्री से अधिक-से-अधिक लाभ उन्होंने उठाया है; उनका चुनाव अत्यन्त मार्मिक तथा उपयुक्त है। ऐसा लगता है कि यह सामग्री भी उतनी सहज है जितनी कि अनुभूत वेदना की अभिव्यक्ति। उदाहरण से अधिक स्पष्ट हो सकेगा—

(क) बिरह-समीर की झकोरनि अधीर, नेह-
नीर भीज्यौ जीव तऊ गुड़ी लौं उड्यौ रहै।४६।

(ख) घेरयौ घट आय अन्तराय-पटनि-पट पै,
ता मधि उजारे प्यारे फानुस के दीप है।६४।

(ग) और जे सवाद घनआनन्द विचारै कौन,
बिरह-विषम-जुर जीवो करुवो लगै।१२८।

(घ) उत ऊतर-पाँय लगी मिहँदी सु कहा लगि धीरज हाथ रहै।१४०।

(ङ) देखियै दसा असाध अँखियाँ निपेटिनि की,
भसमी बिथा पै निति लंघन करति है।१७६।

(च) गए उड़ि तुरत पखेरु लौं सकल सुख,
परयौ आय औचक वियोग बैरी डेल सो।१६४।

(छ) रुई दियें रहौगे कहाँ लौं बहरायबे की,
कबहूँ तौ मेरियै पुकार कान खोलिहै।२८६।

(ज) कब आयही औसर जानि सुजानि बहीर लौं बैस तौ जाति लदी।३४६।

यह सिद्धान्त है कि भीगने पर वस्तु भारी हो जाती है अतः उड़ नहीं सकती, परन्तु जीव ज्यों-ज्यों प्रेम में भीगकर भारी होता है त्यों-त्यों वह पतंग के समान उड़ता रहता है—यह अजीब विरोधाभास है, जिसका प्रत्यक्ष सबको होता है। प्रियतम उस दीपक के समान है जो काँच के पात्र से ढँका हो, इस वर्तन पर आप जितने पर्दे डालेंगे उतनी ही ज्योति एकत्रीभूत हो जायगी, अत. दीपक अधिक चमकेगा, विघ्नों के परिवृत्त शरीर में प्रियतम भी इसी प्रकार ज्योतिर्मान् रहते हैं। विषम ज्वर में मुख का स्वाद विकृत हो जाता है, यहाँ तक कि पानी (जीवन) भी कडुवा लगने लगता है, विरह-ज्वर में भी जीवन कडुवा लगता है—'जीवन' शब्द पर श्लेष से उक्ति में दोहरा चमत्कार आ गया है। जिसके पैरों में मेंहदी लगी हो वह चलने-फिरने क्यों लगा, प्रेमपात्र का उत्तर भी प्रेमी तक चलकर नहीं आ सकता, शायद उसने भी मेंहदी

लगा ली है—मेंहदी सौन्दर्य और विलास दोनों का समवेत संकेत देती है और मध्यकाल का एक सामान्य प्रसाधन भी थी। और कष्ट में यदि व्यक्ति लंघन करे तो उसके शरीर को सुराव कहाँ से पहुँचेगी ? नेत्रों की भी ऐसी ही असाध्य दशा है। यदि खेत में प्राय एक ढेला फेंक दें तो जितने पंछी होंगे वे भयभीत होकर उड जावेंगे, वियोग ऐसा ही उपल है जिसके गिरते ही सुख रूपी पंछी तुरन्त उड जाते हैं। अंग्रेजी में 'हीअर' और 'लिसिन' दो शब्द ह परन्तु हिंदी में 'सुनना' और 'ध्यान से सुनना' होता है, एक व्यक्ति सुनता है फिर भी नहीं सुनता, तब कहा जाता है कि क्या आपके कान में रुई लगी है प्राय टालमटूल करनेवाला व्यक्ति सुनकर भी अनसुनी कर देता है—इसी को 'बहराना' कहते ह घनानन्द ने बहराने को ही कान की रुई माना है। प्रतीक्षाकुल विरही को एक ही अफसोस है कि आयु सीमित परन्तु प्रतीक्षा निरवधि है, न जाने कब बनिजारा अपना टांड लाद करके चल देगा और तब मन की एकमात्र अतृप्त अभिलाषा मन में ही रह जायगी, सूर की गोपी ने अन्त में प्रियतम के पास एक ही सन्देश भेजा था - 'ना जान कब छूट जायगो प्रान, रहै जिय साधौ' घनानन्द भी अपने प्रेमपात्र को छीजती हुई वयस का ध्यान दिलाते ह।

इस अप्रस्तुत योजना के उदाहरण असंख्य नहीं ह परन्तु क्षेत्र अनेक ह, जिनके आधार पर कोई भी कवि के जीवन और उन उन क्षेत्रों के नैकट्य की सभावना नही की जा सकती। परन्तु ध्यान देना होगा कि इस योजना में रूपाकार का कोई सादृश्य नहीं दृष्टिगत होता, केवल गुण साम्य है वह भी विद्यमान गुण के आधार पर नहीं, प्रत्युत क्रियासमिति या फल को ध्यान में रखकर। प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से एक मूर्त है तो दूसरा प्राय अमूर्त, कहीं मानवीकरण है तो कहीं श्लेष का आधार। जीव और पतग, अन्तराय और पट पक्षी और सुख, वियोग और पत्थर, कपास और बहिराना, तथा बहीर और वयस के अप्रस्तुत प्रस्तुत भाव अनेक प्रगतिशील कवियों के अनुकरणीय हैं। जब आँखें लघन करती हैं या हड़ताल कर देती हैं तो उनके ये व्यापार उस समय के समाज का कुछ संकेत देने के साथ-साथ नेत्रों को व्यक्तित्व भी तो प्रदान करते ह। उत्तर के चरणों में मेंहदी लगने से पूर्व उत्तर को एक व्यक्ति बनना पड़ेगा, तरुण या तरुणी। अप्रस्तुतों के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि ये उच्छृंखल प्रयोग न होकर अर्थ विशेष की व्यंजना के लिए प्रयुक्त हुए हैं। जीव को पतग मानते ही बिहारी का वह दोहा याद आ जाता है जिसमें 'उडी जाति कितऊ गुडी, तऊ उडायक हाथ' कहा गया है—पतग का नाच तो उस पर निर्भर है जिसके हाथ में उसकी रस्सी है। उत्तर के चरणों में मेंहदी लगने से उत्तर के आश्रय निष्ठुर प्रिय के अग अग पर अगराग लग गया, जो उसको सुन्दर एव सुकुमार के साथ-साथ मानवान् भी सिद्ध कर देता है—ऐसी है अदा उनकी। वियोग और ढेल में कितना साम्य है, दोनों भूलनेवाले शोषक तथा असेवनीय ह। कान में रुई देना अपने आप में स्वय *बिसराना या बहिराना है—हम सुनकर भी नहीं सुनते, यह सूक्ष्म प्रयत्न है,* और कान में रुई लगा लेते हैं, यह स्थूल प्रयत्न है। घनानन्द की यह अप्रस्तुत-योजना वस्तुत सहज अति सराहनीय है।

घनानन्द की अप्रस्तुत योजना श्लेष और विरोध के कंधों पर हाथ रखकर उचक रही है, इसलिए वह जितनी है उससे अधिक ऊँची दिखाई पड़ती है। ऊपर जिन उदाहरणों का विश्लेषण किया गया था उनमें से एक उदाहरण विरह रूपी विषम-ज्वर के कारण जीवन का स्वाद कटु बता रहा था; विषम-ज्वर में पानी कड़ुवा लगता है, यह अनुभव-सिद्ध है; और विरह से जीवन में कटुता आ जाती है, इसे भुक्तभोगी जानते हैं; कवि ने श्लिष्ट शब्द के प्रयोग से जो रूपक बनाया है वह अमूल्य है। पानी से सब भीग जाते हैं और स्नेह में भी सिंचन की सामर्थ्य है, 'भीज्यौ' का एक अर्थ अभिधा से और दूसरा लक्षणा से लिया जायगा। 'कान खोलना' एक मुहावरा है, और रुई हट जाने पर स्वयं ही कान खुल जाते हैं; एक अर्थ लक्षणा शक्ति से आया है और दूसरा अभिधा से।

प्रेम एक विषम दशा है, यह सबसे बुरी भी है और सबसे अच्छी भी; जो मिटना चाहता है उसके लिए प्रेम के समान कोई दूसरी वेदी नहीं; और जो लाभ-हानि का हिसाब-किताब रखता है, उसे इस मार्ग पर भूलकर भी कदम न रखना चाहिए। इसीलिए प्रेमी मरकर अमर होता है, सर्वस्व खोकर जीवन का फल प्राप्त करता है। प्रेमियों ने इन विरोधी भावों को बड़ी चमत्कारिणी उक्तियों द्वारा अभिव्यक्त किया है। घनानन्द इस क्षेत्र में भी सजातीयों से आगे हैं, विषमता की उनकी विरोधगर्भिणी उक्तियाँ बड़ी रमणीय हैं—

(क) अचरज खानि उघरे हू लाज सों ढके ॥२६॥
(ख) तब हार पहार से लागत हे, अब आनि कै बीच पहार परे ॥३६॥
(ग) नेह-नीर भीज्यौ जीव, तऊ गुड़ी लौं उड्यौ रहै ॥४६॥
(घ) गुन बँधे, कुल छूटे, आपो दै उदेग लूटें,
उत जुरें, इत टूटें, आनँद विपति है ॥५१॥
(ङ) बदरा बरसैं रितु मैं घिरि कै, नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं ॥७८॥
(च) मोहि तो वियोग हू मैं दीसत समीप हौ ॥९४॥
(छ) ढीली दसा ही सौं मेरी मति लीनी कसि है ॥१०६॥
(ज) दुख दै सुख पावत हौ तुम तो, चित कैं अरपैं हम चिंत लहौ ॥१३१॥
(झ) तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ॥२६७॥

इन विरोधों में शब्द-चमत्कार कम परन्तु उक्ति-चमत्कार अधिक है। संयोग में हार का फासिला भी पहाड़ का-सा व्यवधान लगता था, परन्तु अब वस्तुत हमारे तुम्हारे बीच में पहाड़ आ गये हैं। बादल ऋतु-विशेष में ही घिरकर बरसते हैं, परन्तु नेत्र नित्य ही तथा उघरकर बरसते हैं—इस उक्ति में 'निसिदिन बरसत नैन हमारे' का भाव अधिक चमत्कार से वर्णित है। यद्यपि वियोग है फिर भी तुम हर समय मुझको अपने समीप ही लगते हो—इसमें 'राधा भेलि मधाई रे' का गहरा भाव नहीं है, फिर भी चमत्कार है। वे कुछ ढीले दिखाई पड़े और इसीलिए मेरे मन को कसकर ले चले—चमत्कार मुहाविरे का है। विनिमय की विषमता दुःख देकर सुख पाने तथा चित्त देकर चिन्ता के आदान-प्रदान में है। मन लेकर छटाँक भी न लौटाना बेईमानी है, परन्तु

लगा दी है—मेंहदी सोन्दर्य और विलास दोनों का समवेत संकेत देती है और मध्यकाल का एक सामान्य प्रसाधन भी थी। घोर कष्ट में यदि व्यक्ति लघन करे तो उसके शरीर को खुराक कहाँ से पहुँचेगी? नेत्रों की भी ऐसी ही असाध्य दशा है। यदि खेत में आप एक ढेला फेंक दें तो जितने पक्षी होंगे वे भयभीत होकर उड जावेंगे, वियोग ऐसा ही उपल है जिसके गिरते ही सुख रूपी पक्षी तुरन्त उड जाते हैं। अंग्रेजी में 'हीयर' और 'लिसिन' दो शब्द हैं परन्तु हिन्दी में 'सुनना' और 'ध्यान से सुनना' होता है, एक व्यक्ति सुनता है फिर भी नहीं सुनता, तब कहा जाता है कि क्या आपके कान में रुई लगी है प्राय टालमटूल करनेवाला व्यक्ति सुनकर भी अनसुनी कर देता है—इसी को 'बहराना' कहते ह, घनानन्द ने बहराने को ही कान की रुई माना है। प्रतीक्षाकुल विरही को यह ही अफसोस है कि आयु सीमित परन्तु प्रतीक्षा निरवधि है, न जाने कब बनिजारा अपना टाँड लाद करके चल देगा और तब मन की एकमात्र अतृप्त अभिलाषा मन में ही रह जायगी सूर की गोपी ने मन में प्रियतम के पास एक ही सन्देश भेजा था 'ना जाने कब छूट जायगो प्रान, रहे जिय साधो' घनानन्द भी अपने प्रमपात्र को छीनती हुई वयस का ध्यान दिलाते हैं।

इस अप्रस्तुत योजना के उदाहरण असख्य नहीं ह परन्तु क्षेत्र अनेक हैं, जिनके आधार पर कोई भी कवि के जीवन और उन उन क्षेत्रों के नैकट्य की सभावना नहीं की जा सकती। परन्तु ध्यान देना होगा कि इस योजना में रूपाकार का कोई सादृश्य नहीं दृष्टिगत होता, केवल गुण-साम्य है वह भी विद्यमान गुण के आधार पर नहीं, प्रत्युत क्रियावसिति या फल को ध्यान में रखकर। प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से एक मूर्त्त है तो दूसरा प्राय अमूर्त्त, कहीं मानवीकरण है तो कहीं श्लेष का आधार। जीव और पतग, अन्तराय और पट, पक्षी और सुख, वियोग और पत्थर कपास और बहिराना, तथा बहीर और वयस के अप्रस्तुत प्रस्तुत भाव अनेक प्रगतिशील कवियों के अनुकरणीय हैं। जब आँखें लघन करती हैं या हडताल कर देती हैं तो उनके ये व्यापार उस समय के समाज का कुछ सकेत देने के साथ-साथ नेत्रों को व्यक्तित्व भी तो प्रदान करते हैं। उत्तर के चरणों में मेंहदी लगने से पूर्व उत्तर को एक व्यक्ति बनना पडेगा तरुण या तरुणी। अप्रस्तुतों के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि ये उच्छृखल प्रयोग न होकर अर्थ विशेष की व्यजना के लिए प्रयुक्त हुए हैं। जीव को पतग मानते ही बिहारी का वह दोहा याद आ जाता है जिसमें 'उडी जानि कितऊ गुडी तऊ उडायक हाथ' कहा गया है—पतग का नाच तो उस पर निर्भर है जिसके हाथ में उसकी रस्सी है। उत्तर के चरणों में मेंहदी लगने से उत्तर के आश्रय निष्ठुर प्रिय के अग अग पर अनुराग लग गया, जो उसको सुन्दर एव सुकुमार के साथ-साथ मानवान् भी सिद्ध कर देता है—ऐसी है अदा उनकी। वियोग और ढेल में कितना साम्य है दोनों भूरनेवाले शोषक तथा अवेदनीय हैं। कान में रुई देना अपने आप में स्वय भिवाना या बहिराना है—हम सुनकर भी नहीं सुनते, यह सूक्ष्म प्रयत्न है, और कान में रुई लगा लेते ह, यह स्थूल प्रयत्न है। घनानन्द की यह अप्रस्तुत-योजना वस्तुत सहृदय अति सराहनीय है।

घनानन्द की अप्रस्तुत योजना श्लेष और विरोध के कंधों पर हाथ रखकर उचक रही है, इसलिए वह जितनी है उससे अधिक ऊँची दिखाई पड़ती है। ऊपर जिन उदाहरणों का विश्लेषण किया गया था उनमें से एक उदाहरण विरह रूपी विषम-ज्वर के कारण जीवन का स्वाद कटु बता रहा था; विषम-ज्वर में पानी कड़ुवा लगता है, यह अनुभव-सिद्ध है; और विरह से जीवन में कटुता आ जाती है, इसे भुक्तभोगी जानते हैं; कवि ने श्लिष्ट शब्द के प्रयोग से जो रूपक बनाया है वह अमूल्य है। पानी से सब भीग जाते हैं और स्नेह में भी सिंचन की सामर्थ्य है, 'भीज्यौ' का एक अर्थ अभिधा से और दूसरा लक्षणा से लिया जायगा। 'कान खोलना' एक मुहावरा है, और रुई हट जाने पर स्वयं ही कान खुल जाते हैं; एक अर्थ लक्षणा शक्ति से आया है और दूसरा अभिधा से।

प्रेम एक विषम दशा है, यह सबसे बुरी भी है और सबसे अच्छी भी; जो मिटना चाहता है उसके लिए प्रेम के समान कोई दूसरी वेदी नहीं; और जो लाभ-हानि का हिसाब-किताब रखता है, उसे इस मार्ग पर भूलकर भी कदम न रखना चाहिए। इसीलिए प्रेमी मरकर अमर होता है, सर्वस्व खोकर जीवन का फल प्राप्त करता है। प्रेमियों ने इन विरोधी भावों को बड़ी चमत्कारिणी उक्तियों द्वारा अभिव्यक्त किया है। घनानन्द इस क्षेत्र में भी सजातीयों से आगे हैं, विषमता की उनकी विरोधगर्भिणी उक्तियाँ बड़ी रमणीय हैं—

(क) अचरज खानि उघरे हू लाज सों ढके ॥२६॥
(ख) तब हार पहार से लागत हे, अब आनि कै बीच पहार परे ॥३६॥
(ग) नेह-नीर भीज्यौ जीव, तऊ गुड़ी लौं उड्यौ रहै ॥४६॥
(घ) गुन बँधें, कुल छूटै, आपौं दै उदेग लूटै,
उत जुरैं, इत टूटैं, आनँद विपति है ॥५१॥
(ङ) बदरा बरसैं रितु मैं घिरि कै, नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं ॥७८॥
(च) मोहि तो वियोग हू मैं दीसत समीप हौ ॥६४॥
(छ) ढीली दसा ही सौं मेरी मति लीनी कसि है ॥१०६॥
(ज) दुख दै सुख पावत हौ तुम तो, चित के अरपैं हम चित लही ॥१३१॥
(झ) तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ॥२६७॥

इन विरोधों में शब्द-चमत्कार कम परन्तु उक्ति-चमत्कार अधिक है। संयोग में हार का फासिला भी पहाड़ का-सा व्यवधान लगता था, परन्तु अब वस्तुतः हमारे तुम्हारे बीच में पहाड़ आ गये हैं। बादल ऋतु-विशेष में ही घिरकर बरसते हैं, परन्तु नेत्र नित्य ही तथा उघरकर बरसते हैं—इस उक्ति में 'निसिदिन बरसत नैन हमारे' का भाव अधिक चमत्कार से वर्णित है। यद्यपि वियोग है फिर भी तुम हर समय मुझको अपने समीप ही लगते हो—इसमें 'राधा भेलि मधाई रे' का गहरा भाव नहीं है, फिर भी चमत्कार है। वे कुछ ढीले दिखाई पड़े और इसीलिए मेरे मन को कसकर ले चले—चमत्कार मुहाविरे का है। विनिमय की विषमता दुःख देकर सुख पाने तथा चित्त देकर ... के आदान-प्रदान में है। मन लेकर छटाँक भी न लौटाना बेईमानी है, परन्तु

'मन' का श्लिष्टार्थ तथा 'छटा' का छटा + धक अर्थ निकलने से पाठक चमत्कृत हो उठता है। यद्यपि इस प्रकार के कतिपय चमत्कार सहज नहीं माने जा सकते, फिर भी उनके सौन्दर्य को श्रम-साध्य भी नहीं घोषित किया जा सकता। ये चमत्कार घनानन्द की 'कविताई' का प्राण हैं।

पूर्वार्द्ध के जीवन में घनानन्द ने जो रचना की उसमें वेदना के साथ-साथ चमत्कार भी पर्याप्त है परन्तु समस्त प्रयत्न सहज-सा ही लगता है—कम-से कम वह मौलिक अवश्य है। कवि की टीस ने उसकी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर दिया। और जहाँ जहाँ उसकी दृष्टि पड़ी वहीं गहराई तक पहुँची। 'सुजान हित' इसी प्रकार की कविता का संग्रह है। इसमें कहीं कारी खीज है तो कहीं मन बहलाने का प्रयत्न। ऐसा लगता है कि घनानन्द एकान्त में बैठे हुए मानो विषम परिस्थिति पर सोचते रहते थे, संसार से आँख छिपाकर उन्होंने वियोग-सागर में गोते पर गोते लगाये और अन्त में अमूल्य उक्ति रत्न निकालकर वे किनारे से लगे। उनके इस जीवन में जो अनिवार्य साधना हो गई वह सरस्वती की वीणा का भकृत करती रही। जीवन की विषमता के समान ही उनके इस काव्य में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत की भी विषमता है, जो उसको विचित्र सौन्दर्य प्रदान करती है।

अपने साहित्यिक जीवन के उत्तरार्द्ध में घनानन्द ने जो कविता लिखी उसका स्वर बदल गया और इसीलिए उसका स्वरूप भी भिन्न कोटि का है। कवि ने चिरकाल पर्यन्त सन्तप्त मन से क्रन्दन करके अब भगवान् की शरण ले ली और अपने दुःख को विस्तार देकर उसके निवारण की प्रार्थना भगवान् से करने लगा। उसका विश्वास है कि संसार में भटकने से कोई लाभ नहीं, जो कुछ मिला वह भगवान् का विशेष दान था, इसलिए उसकी कृपा का अवलम्ब ही विकल मन को शान्ति दे सकता है—

> दौरि-दौरि धावयौ प थके न जड़ दौरनि तें
>
> गति भूल मन की न दूरी कछू तौत रे।
>
> तान ठौर दौर याहि, सुधि लीज मोदघन,
>
> भूमिय न बिहरयौ अनाथ तोहि होत रे।
>
> हाय हाय रे अमोहा हारि क बहुत हा हा,
>
> आप बनी अब ह्वै है वही रची जो त रे।
>
> आस बिसवास दै असाधन हूँ साधि ल न,
>
> साधन कृपा है और कहा सब मोत रे।
>
> (कृपाकन्द, ६२)

जब कृपा पर इतना विश्वास जम गया तब संसार की समस्त वस्तुएँ व्यर्थ दिखाई पड़ने लगीं, जिसको अमूल्य पदार्थ मिल सकता है वह साधारण वस्तुओं का योग क्यों करेगा—

> फीके सवाद परे सब ही अब ऐसो कछू रसपान कृपा को।
>
> नीरस मानि कहैं न सहै गति मोहि मिल्यौ सनमान कृपा को।

रीझनि सें भिजयौ हियरा घनआनँद स्याम-सुजान-कृपा को।
मोल लियो बिन मोल, अमोल है प्रेम-पदारथ-दान कृपा को।
(कृपाकन्द, ८)

जिसकी कृपा से असम्भव वस्तुएँ भी सम्भव हो जाती हैं, उससे कुछ भी याचना की जा सकती है, परन्तु यदि माँगना है तो सामान्य वस्तुएँ क्यों, फिर कृपा-मात्र की ही याचना करनी चाहिए। इसलिए घनानन्द ने उद्वेग के स्थान पर शान्ति, व्याकुलता के स्थान पर विश्वास और हाय-हाय के स्थान पर प्रार्थना को अपने मन में स्थान दिया; सामान्य रूप के स्थान पर वे अनन्त रूपराशि पर रीझे और प्रेमी के रूप में आनन्द-धन के लिए तृषित चातक बन गये। यहीं उनका तीसरा जन्म मानो हो गया।

विचारधारा में ऐसा सर्वांगीण परिवर्त्तन आ जाने से घनानन्द बिल्कुल बदल गये; अब वे प्रेमी नहीं भक्त थे; वे साहित्यिक न रहे, साधक बन गये; उन्होंने परिस्थितियों से समझौता कर लिया और दुर्भाग्य को सौभाग्य समझने लगे। अब घनानन्द का समय और शक्ति क्रन्दन के स्थान पर गुण-कीर्त्तन या लीला-गान में उपयुक्त होने लगे। कविता अब भी होती थी परन्तु सहज वेदना के स्थान पर आरोपित विरह की; उपालम्भ अब भी दिये जाते थे परन्तु प्रेम-पात्र को नहीं 'सलोने श्याम' को; प्यास अब भी थी परन्तु भौतिक प्रेम की नहीं इष्टदेव की कृपा की; अभिलाषाएँ अब भी उद्दीप्त रहती थीं परन्तु रति-केलि की नहीं, रास-लीला की। घनानन्द का यह काव्य अपेक्षाकृत हीन कोटि का है; इसमें फलक विस्तृत हो गया है, अतः गहराई में कमी का अनुभव होता है; इसके उद्गार सहज नहीं साम्प्रदायिक हैं। कला की दृष्टि से इसमें वैविध्य तो मिलता है परन्तु उत्कर्ष नहीं; घनानन्द में उत्तुंगता के स्थान पर विस्तार आ गया है, उनकी उन्नति ऊर्ध्वमुखी नहीं पश्चोन्मुखी है।

इस परिवर्त्तन का सबसे स्पष्ट तथा महत्वपूर्ण रूप तो विचारधारा में झलक रहा है—प्रेम के स्थान पर लीला-गान, मजाजी के बदले हकीकी। परन्तु कला में भी इसके संकेत स्पष्टतर हैं; यहाँ तक कि दोनों कविताएँ एक ही घनानन्द की हैं—इसमें सन्देह होने लगता है। कवित्त और सवैयों के स्थान पर कहीं पद, कहीं राग, कहीं चौपाइयाँ आ गई हैं। व्रजभाषा छूट-सी गई और पंजाबी, खड़ी बोली और उर्दू सुलभ माध्यम दिखाई देने लगते हैं। इस वैविध्य में तारल्य है गाम्भीर्य नहीं। ऐसा लगता है कि कवि स्वानुभूति के स्थान पर प्रचार को उद्देश्य मानकर चला है। साहित्यिक उत्कर्ष के स्थान पर लोकोपयोगी नीरस आवृत्तियाँ मन को खिन्न कर देती हैं। स्तुतिपरक रचनाएँ उद्धार भले ही कर दें, पाठक को आनन्दित नहीं कर पातीं। चिराचरित सामग्री का परम्पराभुक्त उपयोग प्रतिभा को कुण्ठित कर देता है, घनानन्द की इस उत्तरकालीन कविता से ऐसे ही निष्कर्ष निकलने लगते हैं। गुणोपेत काव्य के स्थान पर ये नीरस आवृत्तियाँ ऐसी ही समझिये जैसे कबीर के काव्य में साखियों के बदले पद-रमैनी आदि की साम्प्रदायिक रचनाएँ।

'कृपाकन्द' में परिवर्त्तन का प्रारंभ है, 'रँगली प्रीति'[1] का एकान्त आश्रय लेकर

१. नीरस रचनि बचाव रँगीली प्रीति सुरस पागौंगे। (५०)'

पुरानी बातों को सुना देना। कवि का मत है कि भगवान् ने कृपा रूपी अमोघ दान के लिए बुद्धि का वस्त्र' बड़ा जीर्ण-सा लगता है, उसका हृदय ही रोकेल सकता है। 'वियोग-बेलि' के गीत बगाली राग में रचे गये हैं, भाषा और भाव सरल एवं सामान्य है—

न प्यारी है, न प्यारी है न प्यारी।
भई है प्रानप्यारे प्रानप्यारी ॥७६॥

'इश्कलता' में पजाबी और उर्दू का बहुत अधिक प्रभाव है। इसकी रचना तब हुई थी जब कवि का 'लगा इश्क ब्रजचन्द सूं'। इसकी भावशैली पर फारसी का भी पर्याप्त प्रभाव है, वही तड़पन, मारकाट और रक्तपात। एक सामान्य उदाहरण देखिए—

ब्रजमोहन घनआनंद जानी जद चश्मों विच आया है।
इश्क शराबी कीया मुजनू गहरा नशा पिलाया है।
तन मन और जिहान माल दी सुधि बुधि सबं विसारी है।
महर-लहर ब्रजवर यार दी जिद मसाडी ज्यारी है ॥४०॥

यमुनायश' और 'प्रीतिपावस में चौपाइयों में यश-वर्णन है। 'प्रेमपत्रिका' में लीलाओं का जो वर्णन है वह विनयपत्रिका' की शैली पर है, कान्ह को पत्र लिखकर अपने प्रेम की सूचना दी गई है—यद्यपि मुख्यत ब्रज-केलि की बार-बार चर्चा है, तुलसी ने 'विनयपत्रिका' दास्य भाव से लिखी थी, घनानन्द की 'प्रेमपत्रिका' में प्रीति का शासन है। प्रेम-सरोवर' ८ दोहा की पुस्तक है। 'ब्रजविलास' में 'श्री ब्रजमोहन माधुरी' का वर्णन है। सरस वसन्त में होली का सुन्दर वर्णन है, होली ब्रज का एक विशेष उत्सव रहा है ब्रज साहित्य में इसीलिए इसका सर्वत्र समावेश है घनानन्द में फाग के प्रति विशेष आग्रह दिखलाई पड़ता है। अनुभव चन्द्रिका', 'रगबधाई, प्रेमपद्धति', वृषभानु पुर सुषमा वर्णन', गोकुलगीत आदि सामान्य कोटि की रचनाएँ है, 'प्रेम-पद्धति में रसखान की प्रेमवाटिका के समान प्रेम वर्णन है। नाम माधुरी' जप पुस्तक है, विचार-सार' सैद्धान्तिक रचना है। इसी प्रकार अन्य छोटी छोटी रचनाओं में या तो लीला के क्षणों, कालों या पात्रों का वर्णन है या सिद्धान्त प्रतिपादन है। घनानन्द जी के पद अलग से सग्रहीत हुए है। इस प्रकार उत्तरकालीन समस्त रचनाएँ इतनी सामान्य है कि घनानन्द की कला में उनसे अपकर्ष आता है, विकास दिखाई नहीं पड़ता फिर भी इनका महत्व घनानन्द के काव्यवत्व को ठीक ठीक जानने के लिए निर्विवाद है।

घनानन्द के उभय प्रकार के काव्य पर विचार करते हुए आलोचक के मन में यह प्रश्न प्राय उठता है कि क्या काव्य-कला का उत्कर्ष शान्ति की अपेक्षा उद्वेग में अधिक है और क्या साम्प्रदायिक प्रवाह में पड़कर मौलिक उद्भावनाएँ सूख जाती हैं। सामान्यत जब मनोवेग में ज्वार आता है तब व्यक्ति की स्थिति मनोमय कोष की उत्तुग भूमि पर रहती है सकल्प विकल्पो का जन्म होता है, कल्पना के पाख खुल

१ ह्वाँ रतनाकर दान-सम बुद्धि जीरन चीर कहा लै पसारौं। (१७)

जाते हैं, भावनाएँ नृत्य करने लगती हैं; इन्द्रियों के समस्त द्वार मनोराज के अधिकार में आ जाते हैं; जो रचना होगी वह मनोरम; मन के यन्त्र जितने तीक्ष्ण होते जायँगे, उतनी ही प्रभावशालिनी मूर्त्तियाँ रच सकेंगे। परन्तु जब मन के स्थान पर ज्ञान का शासन आ जाता है तब कल्पना के स्थान पर चिन्तन, भावना के स्थान पर विवेक, और मनोहर के स्थान पर विवेकपूर्ण कृतियाँ जन्मने लगती हैं—यह दर्शन का क्षेत्र है, काव्य का नहीं। यही कारण है कि यौवन की उमंग में रचित साहित्य भावराशि के उद्दाम लास्य से लाञ्छित रहता है, परन्तु शनैः शनैः अनुभव की पाठशाला में दीक्षित होकर जब प्रौढ़ता आ जाती है तो सर्वप्रथम उसका प्रहार उस वेदना और कसक पर होता है; घोर शृंगारी कवि भी जरा की गोद में खेलते हुए विवेकपूर्ण रचनाएँ करने लगते हैं; शरीर यौवन-लौह की अवगुण्ठना से निश्चल, और दृढ़ बना हो तो उसके भीतर रहनेवाला मन चंचल, भीरु और कोमल रहता है, परन्तु काल के कोप से जर्जर एवं कम्पित कलेवर में निवास करनेवाला मन दृढ़, शान्त तथा गम्भीर हो जाता है। तन और मन की विपरीत दशा का संयोग बड़ा विचित्र है; मन की उछल-कूद उस खुराक पर निर्भर है जो उसे तन से मिलती है। तुलसी आदि के काव्य में मन की वह क्रीड़ा अस्त तक बनी रही, इसका कारण उनका आलम्बन है; सांसारिक आलम्बन जितना अस्थिर है उतनी ही अस्थिर उसके प्रति हमारी भावना होगी, इसीलिए भक्त कवि अनन्त, अपार के प्रति अपने मन को अनुरक्त किया करते हैं।

घनानन्द का काव्य हिन्दी-जगत् में एक विशेष महत्त्व का अधिकारी है, परन्तु दीक्षा से पूर्व का काव्य ही, उत्तरकालीन नहीं। इस काव्य की सहजानुभूति तथा मार्मिक अभिव्यक्ति घनानन्द को अपने क्षेत्र में उच्चतम स्थान दिला सकती है। स्वकीय उद्वेग का तथैव प्रकाशन करनेवाले कलाकारों में वे मुकुटमणि हैं। हिन्दी के प्राचीन काव्य में व्यक्तिगत रचनाएँ कतिपय ही हैं, और जो उस प्रकार की लगती भी हैं उनमें भक्त कवि समाज का प्रतिनिधि बनकर सामने आता है, क्योंकि उसका आलम्बन सबका आलम्बन हो सकता है; शृंगार काल के कवियों ने जो व्यक्तिगत हृदय-सम्बन्ध की रचनाएँ की हैं, वे घनानन्द की रचना के समक्ष नीरस लगती हैं; क्योंकि घनानन्द के प्रेम में एक तूफान की शक्ति है, उससे समस्त विश्व आच्छादित एवं प्रकम्पित हो जाता है। वस्तुतः वह एकपक्षीय अत: असफल प्रेम भी धन्य है जो समर्पणमूला शान्ति की कामना न करके विद्रोहात्मक उद्वेग में उबलता रहा और जिसकी वाष्प ने काव्य को वे उच्छ्वास प्रदान किये जिनका स्पर्श आज भी हृत्तल को कम्पित कर सकता है।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों की सूची

विवेच्य ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रस्तुत रचना में जिन पुस्तकों से सहायता ली गई है उनकी सूची उपयोग-क्रमानुसार नीचे दी जाती है, विवेच्य ग्रन्थ यथास्थान देखने चाहिएँ।

(क) संस्कृत

१. सिद्धान्त कौमुदी
२. काव्यालंकार (भामह)
३. काव्य प्रकाश
४. विक्रमोर्वशीयम्
५. अभिज्ञानशाकुन्तलम्
६. कादम्बरी
७. रघुवंशम्
८. साहित्यदर्पणः
९. उपमिति-भवप्रपञ्च कथा
१०. पञ्चतन्त्र
११ अमरकोशः
१२. नीतिशतकम्
१३. बृहदारण्यक उपनिषद्
१४. मुण्डकोपनिषद्
१५. श्वेताश्वतरोपनिषद्
१६. कठोपनिषद्
१७. गीतगोविन्दम्
१८. कुमारसम्भवम्
१९. वासवदत्ता
२०. नलचम्पू
२१. नैषधम्
२२. प्रसन्नराघवम्
२३. हनुमन्नाटकम्
२४. रामायणम्

२५ नाट्यशास्त्रम्
२ श्रीकृष्णकर्णामृतम् (लीला शुक)

(ग) हिन्दी

१ सतसई (बिहारी)
२ रसराज (मतिराम)
३ प्रवासी के गीत (नरेन्द्र शर्मा)
४ यामा (महादेवी वर्मा)
५ हिन्दी अलंकार-साहित्य (ओम्प्रकाश)
६ चिंतामणि २ भाग (रामचन्द्र शुक्ल)
७ कविप्रिया (केशवदास)
८ आलोचना की ओर (ओम्प्रकाश)
९ भ्रमर-गीत-सार (रामचन्द्र शुक्ल)
१० कबीर-वचनावली
११ रसखान और घनानन्द
१२ हिन्दी काव्यधारा (राहुल सांकृत्यायन)
१३ मध्यकालीन धर्मसाधना (हजारीप्रसाद द्विवेदी)
१४ चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रसाद)
१५ द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ
१६ सुजान-चरित (सूदन)
१७ अपभ्रंश-साहित्य (हरिवंश कोछड़)
१८ हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (रामकुमार वर्मा)
१९ प्राचीन भारत की कहानियाँ (जगदीशचन्द्र जैन)
२० अर्द्धकथा (बनारसीदास जैन)
२१ उर्दू साहित्य का इतिहास (ब्रजरत्नदास)
२२ भाषाभूषण (जसवंतसिंह)
२३ आखिरी कलाम (जायसी)
२४ नाथ सम्प्रदाय (हजारीप्रसाद द्विवेदी)
२५ पुरातत्त्व निबन्धावली (राहुल सांकृत्यायन)
२६ सूफी-काव्य-संग्रह (परशुराम चतुर्वेदी)
२७ हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय (पीताम्बरदास बड़थ्वाल)
२८ विचार और वितर्क (हजारीप्रसाद द्विवेदी)
२९ संत तुकाराम (हरि रामचन्द्र दिवेकर)
३० भावना और समीक्षा (ओम्प्रकाश)

३१. कबीर (हजारीप्रसाद द्विवेदी)
३२. प्रेमवाटिका (रसखान)
३३. तुलसी-ग्रन्थावली
३४. मानसरहस्य (सरदार कवि)
३५. तुलसी-भूषण (रसरूप)
३६. केशव-पञ्च-रत्न (भगवानदीन)
३७. रसिकप्रिया (केशवदास)
३८. कवित्त रत्नाकर (सेनापति)
३९. मीरां-माधुरी (सं० ब्रजरत्नदास)
४०. विहारी-रत्नाकर

(ग) अंग्रेजी

१. एन इन्ट्रोडक्शन टु दी स्टडी ऑफ लिटरेचर (हडसन)
२. पोइटिक्स (अरिस्टोटल)
३. स्टडीज् ऑन सम कन्सेप्टस ऑफ दि अलंकारशास्त्र (राघवन)
४. हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (ईश्वरीप्रसाद)
५. इन्फ्ल्युएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर (ताराचन्द)
६. हिस्ट्री ऑफ मैडिवियल इण्डिया (ईश्वरीप्रसाद)
७. दि फाउण्डेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया (हबीबुल्लाह)
८. अलबरूनीज् इण्डिया (सं० एडवर्ड सी० साचू)
९. सद्धम्म संग्गह (अनु० बी० सी० लौ)
१०. मिस्टक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ (भूपेन्द्रनाथ दत्त)
११. हिन्दू कॉलोनीज् इन दि फार ईस्ट (आर० सी० मजूमदार)
१२. प्राकृत लैंग्वेजिज एण्ड देअर कंट्रीब्यूशन टु इण्डियन कल्चर (एस० एम० कत्रे)
१३. एन इंट्रोडक्शन टु पंजाबी लिटरेचर (मोहनसिंह)
१४. अरेबियन नाइट्स
१५. लेक्चर्स आन दि एनसेन्ट हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (डी० आर० भण्डारकर)
१६. ज्योगाफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म (बी० सी० लौ)
१७. बुद्धिज्म एण्ड अशोक (बी० जी० गोखले)
१८. ग्रेटर इण्डिया (आर० सी० मजूमदार)
१९. साउथ इण्डियन इन्फ्ल्यूएन्सेज इन दि फार ईस्ट (के० ए० नीलकंठ शास्त्री)
२०. स्टडीज इन मेडीवल रिलीजन एण्ड लिटरेचर ऑफ उड़ीसा (चित्तरंजनदास)

(घ) बंगाली

१ बंगभाषा का साहित्य (दीनेशचन्द्र सेन)
२ रामायण (कृत्तिवास)
३ जातक (ईशानचन्द्र घोष)
४ बंग साहित्य परिचय (दीनेशचन्द्र सेन)
५ बांग्ला साहित्येर कथा (सुकुमार सेन)
६ सरल बांग्ला साहित्य (दीनेशचन्द्र सेन)
७ प्राचीन बांग्ला साहित्येर कथा (तमोनाशचन्द्र दास गुप्त)
८ प्राचीन बंग साहित्य (कालिदास राय)
९ विद्यापति चण्डीदास ओ अन्यान्य वैष्णव महाजन गीतिका (चारुचन्द्र बन्द्योपाध्याय)
१० वैष्णव साहित्य (सुशीलकुमार चक्रवर्ती)
११ बांग्ला साहित्येर भूमिका (नन्दगोपाल सेनगुप्त)

(ङ) अन्य

१ अपभ्रंश रामायण (स्वयम्भू)
२ महापुराण (पुष्पदन्त)
३ थूलिभद्दफागु (जिनपद्मसूरि)
४ सन्देशरासक (अब्दुर रहमान)
५ तिरुक्कुरल (तिरुवल्लुवर)
६ महावंश (अनु० भ० आ० कौसल्यायन)
७ सरस्वती (मासिक पत्रिका)
८ हिन्दी अनुशीलन (त्रैमासिक पत्र)
९ साहित्य-सन्देश (मासिक पत्र)